श्री

श्री भक्ति सर्वस्व

स्वामी-अखण्डानन्दजी



प्रकाशकीय

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट का यह प्रकाशन 'भक्ति-सर्वस्व' आपके ांमें समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। पहले प्रकाशित 'भक्ति-य' 'मोहन मोहनी' और 'सुगम भक्तिमार्ग' इन तीनों पुस्तकों का समवेत रूप है।

यह संकलन अप्रैल १९६९, अक्षय तृतीया सं० २०२६ वि० काशित हुआ था। इधर वर्षोंसे यह पुस्तक अप्राप्य हो गयी थी। की माँग और उत्साह देखकर हम पुनः प्रकाशन के लिए अग्रसर । प्रभुकृपासे यह कार्य पूर्ण हुआ।

खर्त आप पिछले संस्करणकी भाँति इसे अपनायेंगे। यद्यपि गये ताके कारण मूल्यमें थोड़ी वृद्धि करनी पड़ी है। फिर भी हमारे जो पाठक जन इसे इसकी उपयोगिताको समझते हुए स्वीकार लिए एवं हमारे उत्साहमें सदाको भाँति अभिवृद्धि करते रहेंगे।

है ।

ही

मन्त्री

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

र

...ास जयन्ती

फरवरी १९७९

भक्तिरहस्यकी भूमिका

मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ

मेरे प्यारे आत्मा,

मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ ? क्या अतीतकी घटनाएँ तुम्हारे स्मृति-पटपर छा जाती हैं और तुम उन्हें स्मरण करके शोकमग्न हो जाया करते हो ? निश्चय समझो, तुम्हारे शरीरको नहीं मनको भूत लग गया है। तुम जब रोते हो, भूतावेशमें ही रोते हो। अच्छा, और। क्या तुम अपने भविष्यकी कल्पना करके भयसे काँप उठते हो ? मित्र, अवश्य ही तुम उस समय स्वप्न देखते होते हो और तुम्हारे पाँव आवश्यकतासे अधिक आगे-पीछे सरक गये होते हैं। प्यारे, तुम अपनी प्रिय वस्तुओं और व्यक्तियोंको; जो वर्तमानमें तुम्हारे साथ हैं, भविष्यमें भी अपने साथ ही रखनेके लिए व्याकुल हो ? विश्वास करो, इसी का नाम मोह और मूढ़ता है। यह शोक, भय और मोहसे ग्रस्त एवं सन्त्रस्त जीवन तथा मन ही तुम्हे अस्त-व्यस्त बना रहा है।

तुम्हारे शरीरमें जब कोई रोग होता है तब तुम उसके लिए चिन्तित होते हो। चिकित्सककी शरण ग्रहण करते हो, चिकित्सा करते हो और स्वास्थ्य-लाभ करते हो। शरीरके रोग-भोग एवं संयोग-वियोगको तुम इतना महत्त्वपूर्ण समझते हो। तुम्हारी समझमें उसका इतना मूल्यांकन है; परन्तु मनके सुख-शान्तिकी इतनी उपेक्षा है, इसका कारण क्या है ? स्थूल जीवनके लिए इतना श्रम, इतनी चिन्ता; परन्तु सूक्ष्म जीवनके लिए कुछ भी नहीं—यह कैसी समझ, यह

कैसी प्रगति ? मानसिक जीवन क्रोध–विरोध, काम–दाम और लोभ–क्षोभसे परिपूर्ण रहकर चूर्ण-विचूर्ण होता रहे और तुम बोध-प्रबोधसे दूर रहकर शोध-निरोधका तिरस्कार करके सुखनिधान समाधान प्राप्त कर सको, ऐसा सम्भव नहीं है।

इसलिए आओ भगवद्भक्तिके पथपर ! यह ईश्वरानुरक्ति अनन्त शक्तिका स्रोत है। यह वह रसायन है जो जीवनकी तहमें निगूढ़ अविनाशी ज्ञानात्मक रसके सम्पूर्ण प्रतिबन्धोंको गला देता है और आवरणोंको फाड़ देता है। तुम्हारे हृदयमें एक ऐसा रहस्यात्मक सौन्दर्य है जिसकी कान्ति कभी मलिन नहीं पड़ती है, जिसकी छवि-छटा सर्वदा छलकती रहती है। क्या तुम उसकी झाँकी देखना चाहते हो ? तुम्हारे हृदयमें एक ऐसा आनन्द है, जिसका कभी ह्रास या विनाश नहीं होता, जो नित्य-निरन्तर विकास और उल्लासका रास करता रहता है। वह राशि-राशि रस है। उसका स्वाद कभी फीका नहीं पड़ता। क्या तुम उसका आस्वादन करना चाहते हो ? तुम्हारे हृदयमें एक दिव्य ज्योतिर्मय प्रकाश है। वह आकाशसे भी विशाल है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती। उसमें मृत्यु, अज्ञान और दु खके अन्धकारके लिए कोई अवकाश नहीं है। वह ऐसा जीवन है, ऐसा रस है कि उसको प्राप्त कर लेनेपर व्यक्तियोंकी पराधीनता, भोगोंकी अपेक्षा, क्लान्तिकारक श्रान्ति और भ्रान्तिजन्य अशान्तिका अत्यन्ताभाव हो जाता है। क्या तुम उसे अनुभव करना चाहते हो ? वह किसी दूसरेका नहीं, तुम्हारा ही है। उसके दायभागी (हकदार) तुम्हीं हो। वह तुम्हारा ही स्वरूप है। एक बार अपनी दृष्टिको अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करने दो। देखोगे, तुम्हारा परम प्रेमास्पद आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर पहलेसे ही वहाँ विद्यमान और वर्तमान है। तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन जो कुछ था, है और होगा उसकी शरणमें है; परन्तु तुम अपनेको अशरण मानते हो। वहाँ तुम देख

सकोगे कि तुम उस रसिकशिरोमणि हृदयविहारीके क्रीड़ासंकल्पके अनुसार नृत्य कर रहे हो; परन्तु अपनेको स्वतन्त्र मानते हो। वहाँ तुम देखोगे कि तुम्हारे प्यारे भगवान् दोनों भुजाएँ फैलाये खुले वक्षःस्थलसे तुम्हारा गाढ़ आलिंगन करनेके लिए मन्द-मन्द मुस्कराते हुए अपने प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे प्रतिपल प्रणयामन्त्रण दे रहे हैं और तुम उनकी ओर पीठ किये विमुख विषयोंके राग-भोगमें फँस रहे हो।

इस विमुखताकी आधि-व्याधिसे छूटनेके लिए तुम्हारे हृदयमें भक्ति-भावका उदय होना आवश्यक है। बिना विवेक-वैराग्यके, बिना सद्गुरु-शरणागतिके, बिना प्रेमपूर्ण विधान अनुसन्धानके यह भक्तिभाव अनुभवका विषय नहीं हो सकता। इसलिए तुमसे यह प्रेमपूर्ण अनुरोध है कि एक बार इस भक्ति-रहस्यकी ओर सावधानी से ध्यान दो। फिर पता चलेगा कि भक्तिके अन्तरङ्गमें कैसे-कैसे अनुरागके रंगसे रँगे हुए ईश्वरानुभूतिके पावन दृश्य हैं। इससे हृदय शुद्ध होता है और परमात्माके दर्शनकी योग्यता आती है। तुम देखोगे कि भक्ति केवल रस-लालसा ही नहीं, रसानुभूति भी है। साधन और साध्यकी एकताका अनुभव स्वयंमें एक परा सिद्धि है।

समय-समयपर भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें जो मेरे भक्ति-सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमेंसे कुछ तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत हैं।

निर्जला एकादशी
संवत्–२०१८ }

—अखण्डानन्द सरस्वती

मोहन मोहनीको—

विज्ञप्ति

प्रतिकूल परिस्थितियोंमें रहनेपर भी मनुष्यको चारित्र्यसे च्युत करनेवाली वस्तुओं, व्यक्तियों तथा घटनाओंमें आकर्षण न हो और अखण्ड आनन्दरसकी अनुभूति होती रहे, इसके लिए श्रीकृष्णकी ललित-ललित, लोल-लोल, रसमयी, लास्यमयी एवं मधुमयी लीलातरङ्गिणीमें डूबने-उतरानेसे बढ़कर और कोई ऋजु एवं अमोघ साधन नहीं है।

पूज्यपाद श्रीमहाराजजीने अपने साधनकालमें जिस लोकोत्तर लीला-लोकमें विहार किया एवं जिस अनुपम रूपमाधुरी, वेणु-माधुरी प्रिया-माधुरी एवं लीला-माधुरीका रसास्वादन किया उसकी एक दिव्य झाँकी प्रस्तुत लेखमें विद्यमान है। अनुभूतिकी गंभीरता, सजीवता एवं हृदयग्राहिता भावुकजनोंको न केवल लोकोत्तर आनन्दसिन्धुमें निमग्न ही करेगी प्रत्युत उन्हें परमार्थ-पथपर अग्रसर होनेकी स्थिर प्रेरणा भी प्रदान करेगी।

बम्बई
मार्गशीर्ष पूर्णिमा २०१७ —प्रकाशक

आइये !

यह जानेका नहीं, आनेका मार्ग है। प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति है। बहिरङ्ग नहीं, अन्तरङ्ग है। जहाँ आप हैं, वहीं है। मार्ग कठिन तब होता है जब कहीं जाना पड़े, कुछ समय लगाना पड़े, कुछ देना पड़े, कुछ करना पड़े, किसी दूसरेको मनाना पड़े। भक्तिमार्गमें ऐसा, यह सब कुछ नहीं है। भावकी बात—मिले हैं तो मिले हैं। बिछुड़े हैं तो बिछुड़े हैं। मनसे बिछुड़कर रो लो, मनसे मिलकर सुखके समुद्रमें डूबो-उतराओ। कौड़ी लगे न छदाम, बिना गुठलीके आम। इससे बढ़कर और क्या सुगमता हो सकती है? उसपर विश्वास करो, इससे प्रेम करो, 'मैं' में मानकर गुम-सुम बैठ जाओ। नाम लेकर पुकारो, चीखो-चिल्लाओ या मौन हो जाओ। यह सब होना चाहिए उसके लिए, इसके रूपमें उसको देखते हुए, 'मैं' को उसमें डुबोकर। आइये, इस सुगम भक्तिमार्गपर। कहीं जाइये मत, केवल लौट भर आइये ! परन्तु गये कहाँ हैं कि लौट आयें?

बिल्कुल ठीक, आप वहीं हैं जहाँ जाना चाहते हैं। आप उसीको देख रहे हैं जिसको देखनेके लिए व्याकुल हैं। आप उसीसे मिले हुए हैं जिसका मिलना अभी असम्भव मालूम पड़ता है। वह अभी, यहीं और यही है। वह तुमसे अलग हुआ नहीं, अलग है नहीं, तुम्हारी बुद्धिका ही विपर्यय है, चित्तका ही विक्षेप है, मनकी ही मलिनता है। यह पहचाननेकी भूल मिलनमें ही विस्मरण है। आप अपने प्यारेकी सेजपर उसके साथ मिलकर शयन करते हुए ही पराये घर

और परायेके साथ सोनेका स्वप्न देख रहे हैं। बस, यही स्वप्न भङ्ग करना है। रो-गाकर हो, उछल-कूदकर हो, चिल्लानेसे हो या चुप लगा जानेसे। कोई दूसरा जगाये, अपना प्यारा ही जगा दे या स्वयं ही जग जाओ। शरीरपर पानी छिड़कना पड़े, साँस बन्द करना पड़े चाहे और कुछ, भक्ति-भावका क्रियामें आग्रह नहीं है। द्रव्यकी अपेक्षा नहीं है। आकारविशेषमें यह चिपका हुआ नहीं है। शून्य, महाशून्य पार करनेकी नहीं, केवल सावधान होनेकी, जग जानेकी आवश्यकता है। आप देखेंगे कि आप उसके अनुराग भरे उत्सङ्गमें ही रंगरेलियाँ कर रहे हैं और वह आपके कोमल प्रेमपूर्ण अन्तरङ्गमें ही रस-रङ्गकी पिचकारियाँ चला रहा है। न उससे दूर आप, न आपसे दूर वह। न देर सबेर, केवल मनका फेर।

आइये, सुगम भक्तिमार्गपर; मिलिये अपने प्राणप्रियतम, हृदयेश्वर परम प्रेमास्पदसे।

बम्बई
संन्यास-जयन्ती
माघ शुक्ल एकादशी
संवत् २०१८



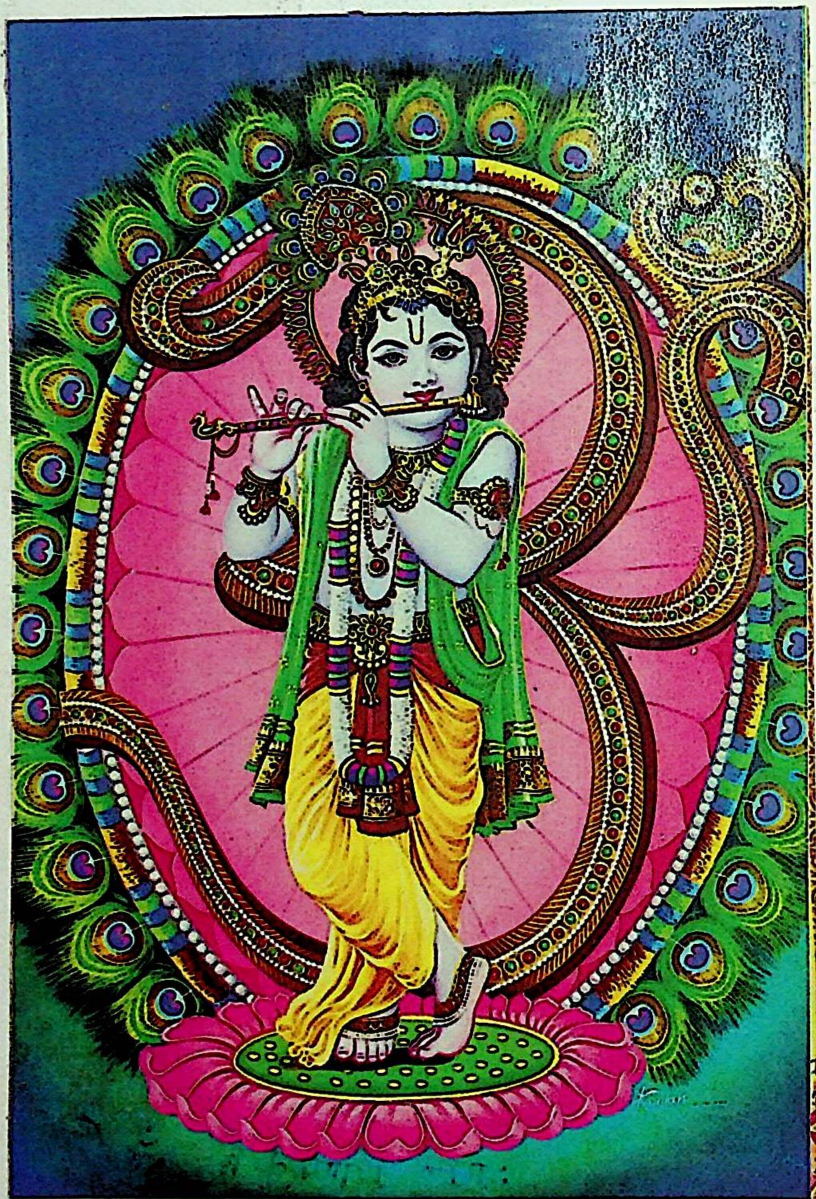
—अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका





स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



साधनकी अनिवार्य आवश्यकता

बुद्धिमानो ! 'उठो, जागो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करो'।

(श्रुति)

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिए ? और जो चाहिए उसके लिए हमें क्या करना चाहिए ? पहले उद्देश्यका निश्चय, पश्चात् उसकी साधनाका निश्चय होता है। मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है। कोई मान, प्रतिष्ठा और कीर्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन। इस चाहके और भी अनेकों नाम एवं रूप हो सकते हैं। परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है। यदि ये दुःखके कारण बन जायँ तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है। इसलिए यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है। ऐसी प्राप्ति जिसमें किसी प्रकारकी सीमा, अन्तराय अथवा विच्छेद न हो, चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे। यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है, उसको प्राप्त करनेके लिए दौड़ पड़ता है। सम्पूर्ण शक्तिसे उसके लिए प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नका ही नाम साधना है।

साधारण मानव-समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें लगे

हुए हैं। ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आत्म-तुष्टिका अनुभव करना चाहिए वे उससे वञ्चित हैं। इसका कारण क्या है? शान्त और गम्भीर चित्तसे विचार करनेपर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है। धधकती हुई आगको शीतल मणि-खण्ड समझकर उसे गोदमें उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता तथा विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं है, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन स्थूल और जड़ वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि वस्तुतः उनमें सुख है ही नहीं। इसीसे वे दुःखी हैं और तबतक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जबतक सुखके वास्तविक स्थानका पता लगाकर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते। वास्तविक सुख क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है 'परमात्मा'। क्योंकि संसारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किञ्चित् सुखकी अनुभूति होती है तथा कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई-न-कोई भण्डार है। उसीका नाम तो परमात्मा है। एक ऐसी सत्ता है जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका उद्गम है, जिसमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और वाणीसे मौन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादनमें आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता। वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर परमात्मा ही तो है। उसको देखे बिना आँखें अतृप्त ही रहेंगी।

उसके बिना हृदयकी सेज सूनी ही रहेगी। उसका आलिङ्गन प्राप्त किये बिना बाँहें फैली ही रहेंगी। तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीवके जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका वह लक्ष्य है वही सच्चा जीवन है। इस सच्चे जीवनका ही नाम साधन है। जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साध्य भी उन्हें प्राप्त ही है, क्योंकि साधन ही साध्य है और वही सिद्धि भी है। यही वास्तविक सुख है।

जीव पूर्वतन संस्कारोंसे इतना जकड़ गया है कि वह संज्ञाहीन, मूर्छित अथवा सुषुप्त हो गया है। वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ है। क्योंकि इस समय जो अन्त:करण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह वासनाओंके पुञ्जके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसीसे प्रेरित होकर साधारण मनुष्य उन्मत्तकी भाँति लक्ष्यहीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिसके कारण बन्धन और भी दृढ़ होता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूल शरीर मानकर उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्भावनाओंके प्रवाहमें बह रहे हैं। इस जड़ताको, अन्धगतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा। यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है, तथापि इसको काट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता? अन्तमें भागवत सत्ताकी विजय निश्चित है।

वासनाओंसे सञ्चालित होते रहनेके कारण चित्तमें इतनी पराधीनता आ गयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियाँ बाधक हो जाती हैं, और यह असम्भव मालूम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है।

अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चराचर जगत् कर्मसूत्रसे बँधा हुआ है और यह वर्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं, परन्तु यही सोचकर पुरुषकार अथवा साधनसे विमुख हो जाना तथा अपनी आध्यात्मिक उन्नतिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना बहुत बड़ी कमजोरी है, वल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है। भला जिस साधनसे अपने-आपको उपलब्धि होती है उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमें डाल देते है, उसका मूल क्या है? पूर्व जन्मोंके पुरुषकारको ही तो प्रारब्ध कहते हैं! हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे थे या बुरे, साधक थे या बाधक, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? मान लें कि वे साधनके विरोधी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़-लड़कर आगेके लिए साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिए? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पिसते रहकर जन्म-जन्म उन्हींकी ग़ुलामी करनी चाहिए? जिसमें जरा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म जिनसे प्रारब्धका निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिए वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिए? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिए अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वर्षोंसे साधनामें लगे हैं, उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही

थोड़ा परिश्रम किया है, उन्हें थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण क्या है? पूर्व-जन्मके संस्कार ही इसमें प्रधान कारण हैं। जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुप्त थे और अब साधनाके संयोगसे जागृत हो गये हैं, उन्हें अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है। जिनके संस्कार नहीं थे या कम थे उनकी साधना धीरे-धीरे पूर्वसञ्चित कर्मोंके भण्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसमें पूर्वसंस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्यसिद्ध वस्तु जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिप्त, अस्पृष्ट और अनाकलित है, प्रकट हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान् हो जाता है। संस्कारोंसे विजड़ित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है। वह जो कुछ देखता है, संस्काराक्रान्त दृष्टिसे ही देखता है। इसीसे सत्य भी उसके चश्मेके रंगमें रँगा हुआ ही दीखता है। परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है। संस्कारोंके इस चश्मेको, दृष्टिके एक-एक दोष-को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल फेंकना होगा। सत्य कर्मसंस्कारोंकी अभिव्यक्ति नहीं है। इनके धो-बहानेपर जो अवशेष रह जाता है, जो धोनेवालेका मूल स्वरूप है, जो धोनेवालेके धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको ढूँढ़ निकालना ही साधना है। यह स्वयं ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँझ हो जायगा; क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए बिना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेके लिए साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवान्का धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवद्धर्मका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालनकी आशा रक्खे यह उपहासास्पद बात है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्की कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव-अजीव सबपर एकरस एवं अहैतुक है। उसके लिए देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है। वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस बरसती रहती है। बरसना ही उसका स्वभाव है और वह इस प्रकार बरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत्-शक्ति दौड़ रही हो, हमारे रग-रगमें वही सुधा-मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति-सञ्चार हो तथा मन, बुद्धि, अहंकार—जो कुछ मैं हूँ—उसीमें डूब-उतरा रहे हों, हमारी यह स्थिति बाह्य दृष्टिसे साधना न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इससे बड़ी कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिए। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपाका नाम लेकर हाथपर हाथ धरके बैठ रहना आत्मवञ्चना है। स्त्रीके लिए, पुत्रके लिए, शरीरके लिए, मनोरञ्जनके लिए प्रयत्न हो अथवा आलस्यको ही सुख मानकर पड़े रहें, परन्तु साधनाकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें, साधना-जगत्में यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रश्मियोंके विस्तार-

से निखिल जगत्में नवीन चेतना और स्फूर्तिका संचार करता रहे। यदि नेत्र-दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं ग्रहण कर सके तो यह सूर्यका वैषम्य नहीं नेत्रके रोगी होनेका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीप्त करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशेपर समानरूपसे ही पड़ता है। परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशेके संयोगसे वह प्रज्वलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिए साधनाके संघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्ज्वल अन्तःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानताकि अग्नि सर्वव्यापक है। आकाशमें फैले हुए नन्हें-नन्हें जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रखनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरंगें भी अव्यक्त अग्निसे शून्य नहीं हैं, यह सत्य है। परन्तु इस व्यापक अग्निके द्वारा न तो घरका अँधेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अग्निको व्यक्त करना पड़ता है और व्यापक अग्निको एक घेरेमें प्रज्वलित करना पड़ता है। यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्तरूपमें अनुभव कर सके। इसीसे यह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही

अधिक साधनामें संलग्न होते हैं। वे एक क्षणके लिए भी भगवत्कृपा की प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते; क्योंकि उनका जीवन कृपामय अतएव साधनमय हो गया है।

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्चका चिन्तन करता है तब क्रमशः जडभावापन्न हो जाता है और जब अन्तःस्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है। हृदयको जड़ताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहज-रूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमें से बहुत सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिए वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकार-भेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिए अलग-अलग साधनओंका निर्देश है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है।

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयंकर धूपमें घूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको थोड़ी-सी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको ज्वर हो आता है, दूसरा स्वस्थ्य रहता है। एक ही धूपका इन दोनोंपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एक-सी नहीं हैं। एकमें धातु-साम्य है तो दूसरेमें वैषम्य। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसी प्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका सूक्ष्मशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधनाको पार कर

चुका है वह उसके लिए सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नही होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहींसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निषिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जब-तक इहलौकिक काम्यकर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता है। पारलौकिक कामना होनेपर सूक्ष्म-शरीरका जागरण प्रारम्भ होता है, और निष्कामनाके साथ ही अन्तःकरणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामना भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित तीन प्रकारकी होती है। पहलेका नाम कर्मयोग, दूसरेका नाम भक्तियोग और तीसरेका नाम ज्ञानयोग है। जब अन्त करण, शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निःसङ्कल्प जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्य कहते हैं। समा-धियोंके समस्त भेद इसीके अन्तर्गत हैं। इसीमें वास्तविक ज्ञानका उदय होता है जो कि स्वयं परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही जो कि अनादि कालसे अगणित रूपोंमें दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त संस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमें-से और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरोंमें-से जो जिस स्तरमें पहुँचा हुआ साधक होगा, उसको उससे भी उपर उठनेके लिए साधनाकी आवश्यकता होगी, चाहे उस साधनाका रूप जो भी हो।

ज्ञान साधनाका विरोधी नहीं है। वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है। अज्ञानका नाश करके साधनाओंके स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्त्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनोंमें-से नीच-ऊँच

भावको निकालकर विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारवालोंके लिए सबको सम श्रेणीमें कर देना ज्ञानदृष्टिका ही काम है। इसलिए ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं। प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते। इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींका शरीरके त्याग-पर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायक्लेशके कारण जान-बूझकर साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध ज्ञान ही नहीं है और ऐसी स्थितिमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

साधनामें प्रवृत्ति ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दुःख अन्तःकरणमें होते हैं। इसलिए अन्तःकरणको ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्तःकरणको सुख-दुःखमें पड़ा रहने देना अज्ञान है। ऐसा निःसङ्कल्प अन्तःकरण जिसमें सुख और दुःख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विधानके लिए कोई स्पन्दन नहीं है, जीवन्मुक्तका अन्तःकरण है और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख अनुभव करनेके लिए ज्ञान-सिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

• • •

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य जीवन। काल निगल जाना चाहता है अभी-अभी। सारा संसार विनाशकी ओर द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। एक ओर एक दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्दस्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिए न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और स्वप्नकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें। यह जागरण ही साधन है और यह करना ही होगा।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'।

'उठो, जागो और बड़ोंके पास जाकर सत्यको जानो'।

•

• • •

सत्सङ्गका प्रसाद

(१)

एक महात्माने अपने भक्तसे पूछा—'क्यों लाला, तुम्हारा किसीसे दृढ़ राग है ?'

भक्त—'ऐसा नहीं मालूम होता महाराज !'

महात्मा—'किसीसे द्वेष है ?'

भक्त—ना !'

महात्मा—'तब बेटा ! किसी भी साधनामें तुम्हारी दृढ़ प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधनामें तो प्राणपणसे वे ही लोग लगते हैं, जो किसीको पानेके लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, अथवा जो किसीसे इस प्रकार ऊब गये हैं कि उसको छोड़े बिना रह ही नहीं सकते। संक्षेपमें, अपने इष्टसे अनुराग और अनिष्ट-परिहारकी अभिलाषा ही साधनामें लगाती है। जब इतने ऊँचे उठ जाओगे कि तुम्हारे लिए प्रिय-अप्रिय कुछ रहेगा ही नहीं, तब जो कुछ होगा, साधन ही होगा। तब तो सहज स्थिति ही साधना होगी। परन्तु जो उस स्थितिमें नहीं हैं, कहीं बीच मार्गमें ही थोड़ा-सा रस प्राप्त करके सन्तुष्ट हो गये हैं, अथवा प्रमादवश इष्ट-अनिष्टका विचार ही नहीं करते, उन्हें एक-न-एक दिन पछताना पड़ेगा। साधकको तो ऐसा होना चाहिए, कि जहाँ वह है और जहाँ उसे पहुँच जाना चाहिए, दोनोंकी दूरीको एक क्षण भी सहन न करे। कितना वीर साधक है वह जो अवाञ्छनीय परिस्थितिका परित्याग

करनेके लिए इतना व्याकुल हो जाता है कि 'मैं कहाँ पहुँच जाऊँगा' इसका विचार किये बिना ही पागलकी भाँति उछल पड़ता है।'

(२)

शिष्यने गुरुसे प्रश्न किया—'भगवन्! भगवत्प्राप्तिके लिए किस प्रकारकी आकुलता होनी चाहिए?' गुरु मौन रहे। शिष्य उनका रुख देखकर चुप ही रहा। स्नानके समय गुरु और शिष्य दोनोंने एक साथ ही नदीमें प्रवेश किया। एकाएक गुरुने शिष्यका सिर, जब वह डुबकी लगा रहा था, पानीमें जोरसे दबा दिया। भला वह बिना श्वासके पानीमें कबतक रह सकता? उसके धीरजका बाँध टूट गया और वह छटपटाकर बाहर निकल आया। उसके स्वस्थ होनेपर गुरुने पूछा—'पानीसे निकलनेके लिए कितनी आतुरता थी तुम्हारे मनमें?'

शिष्यने कहा—'बस एक क्षण उसमें और रह जाता तो मर ही गया था।'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! अभी तो तुम संसारमें जी रहे हो और सुख मान रहे हो। जिस क्षण इस वर्तमान परिस्थितिसे तुम उसी प्रकार अकुला उठोगे, तब तुम सारे बन्धनको छिन्न-भिन्न करके एक क्षणमें ही अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त कर सकोगे।'

शिष्य—'तब क्या वर्तमान परिस्थितिसे ऊबना ही साधनका प्रारम्भ है? इस प्रकार तो असन्तोषकी आग भड़केगी, संतोषामृतका पान कैसे कर सकेंगे?'

गुरु—'भैया! विवशताका सन्तोष तो कायरता है, क्लीबता है। यदि तुम्हारे मनमें कोई इच्छा ही न हो, तब तो दूसरी

बात है। परन्तु जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो और वह न्यायसङ्गत है, तब उसे प्राप्त किये बिना बैठे रहना किसी प्रकार उचित नहीं है। यदि असन्तोषकी आग भड़कती है और प्रलय होता दीखता है तो हो जाने दो क्योंकि यह प्रलय ही नवीन सृष्टिका जनक है। जिसके चित्तमें अशान्तिका संचार नहीं हुआ, वह कैसे जान सकता है कि शान्ति क्या वस्तु है ? सामने दीखने-वाली सुन्दरतापर ही जो मुग्ध हो रहा है, उसके सामने सौन्दर्य-का अन्तराल क्यों व्यक्त होने लगा ? तुम सारे आवरणोंको फाड़कर एकबार पूरे आवेगसे उनसे मिल लो फिर तो तुम निरन्तर ही मिले रहोगे। परन्तु एकबार पूर्ण मिलन हुए बिना जो सन्तोष है, वह तो सन्तोषका शव है, ख्यालमात्र है। उसके भीतर असन्तोष छिपा हुआ है। उसके बीजको प्रकट करके उखाड़ डालना और चिरकालतकके लिए असीम सुख-शान्तिको प्रतिष्ठित कर लेना ही तो साधना है।'

(३)

सत्सङ्गीने पूछा—'महात्मन् ! यदि हमारे अन्दर भगवान्के लिए व्याकुलता नहीं हो, तो क्या वे हमें नहीं मिलेंगे ?'

महात्मा—'क्यों नहीं मिलेंगे ? अवश्य मिलेंगे। मिलना ही उनका जीवन है, मिलना ही उनका जीवन-व्रत है। बिना मिले वे रह ही नहीं सकते। ऐसा क्यों, वे तो प्रतिदिन सैकड़ों, हजारों रूपोंमें हमसे मिलते भी हैं। हम उन्हें पहचानते नहीं, इसीसे उनके मिलनके आनन्दसे वञ्चित रह जाते हैं। परन्तु हमारे न पहचाननेसे उनकी छिपनेकी लीला तो पूरी होती ही है, वे हमारे इस भोलेपनका आनन्द भी लेते हैं।'

सत्सङ्गी—'तब क्या हमें ही पहचानना पड़ेगा ? यदि उनके मिलनेपर भी हम उन्हें नहीं पहचान सकते तो हमारे जीवनमें

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सी घटना घटेगी कि हम उनको पहचानकर उनके आलिङ्गनका सुख प्राप्त कर सकेंगे ?'

महात्मा—'यह तो उनकी एक लीला है। जबतक वे आँख-मिचौनी खेल रहे हैं, उनकी इच्छा अपनेको पहचानमें लानेकी नहीं है, तबतक किसका दीदा है कि उन्हें पहचान सके ? परन्तु वे कबतक छिपेंगे ? वे जैसे नचावें, नाचते जाओ; कभी तो रीझेंगे ही। यदि रीझकर उन्होंने अपना परदा—बनावटी वेश दूर कर दिया, तब तो कहना ही क्या है ? और यदि छिपे ही रहे तो भी हम उनके सामने ही तो नाच रहे हैं ! हम चाहे उन्हें न देखें, वे तो हमें देख रहे हैं न ? बस, वे हमें और हमारी प्रत्येक चेष्टाको देख रहे हैं और उनकी प्रसन्नताके लिए मैं नाच रहा हूँ—इतना भाव रखकर, जैसे रखें, रहो। वे अवश्य तुम्हें अपनी पहचान बतायेंगे, मिलेंगे।'

(४)

शिष्यने पूछा—,गुरुदेव ! भरसक क्रिया तो शास्त्र और भगवान्‌के विरुद्ध नहीं करता, परन्तु मनको क्या करूँ, कैसे रोकूँ ? नाना प्रकारके संकल्प उठा करते हैं, जिनमें अधिकांश बुरे होते हैं। क्या करूँ ?'

गुरुदेवने कहा—'तुम सङ्कल्प करनेवाले क्यों बन बैठे हो ? तुमने जो यह मान रक्खा है कि मैं सङ्कल्प करता हूँ, अपने लिए सङ्कल्प करता हूँ—यही तो भ्रम है। भगवान्‌के लिए ही सङ्कल्प हो, भगवान् ही सङ्कल्प करें। उनके भले-बुरे होनेका भी निर्णय वे ही करें। जैसे आकाश, वायु, सूर्य, समुद्र और पृथिवी उन्होंने धारण कर रक्खा है और वे ही उनका सञ्चालन भी करते हैं, वैसे ही सबके शरीर और अन्तःकरणोंको भी उन्होंने धारण कर रक्खा है और उनकी सत्ता, महत्ता तथा

प्रत्येक गतिविधि उन्हींके हाथमें है। जब कोई भ्रमवश, अहङ्कारवश आश्रय करके उन्हें अपना समझने लगता है, तब अच्छे भी बुरे बन जाते हैं। प्रत्येक क्रिया और सङ्कल्पके मूलमें वे ही हैं, हम नहीं। जो क्रिया हो, जो सङ्कल्प उठे, उसके मूलकी ओर देखो और बड़ी आतुरतासे उधर ही दौड़ पड़ो, जिधरसे वह आता है। अवश्य ही यह जागरूकता भी उन्हींकी ओरसे प्राप्त होती है, परन्तु इसके लिए सावधानी रखनी ही चाहिए। जबतक हम हैं, तबतक हमारा कर्त्तव्य भी है। कहीं हमारे प्रमादके पापसे वह आयी हुई अनमोल देन हमारे हाथसे निकल न जाय। शरीर और अन्तःकरण सब उसी एकके हैं, उसीकी ओर देखो। फिर सब ठीक है।'

(५)

एक मुमुक्षुने अपने गुरुदेवसे पूछा—'प्रभो, कौन-सी साधना करूँ ?'

गुरुदेवने कहा—'तुम बड़े जोरसे दौड़ो। दौड़नेके पहले यह निश्चित कर लो कि मैं भगवान्‌के लिए दौड़ रहा हूँ। यही तुम्हारे लिए साधना है।'

उसने पूछा—'क्या बैठकर करनेकी कोई साधना नहीं है ?'

गुरुने कहा—'है क्यों नहीं, बैठो और निश्चय रखो कि तुम भगवान्‌के लिए बैठे हो।'

शिष्य—'भगवन्, कुछ जप नहीं करें ?'

गुरु—'किसी भी नामकी आवृत्ति करो और सोचो, मैं भगवान्‌के लिए कर रहा हूँ।'

शिष्य—'तब क्या क्रियाका कोई महत्त्व नहीं है? मेरा भाव ही साधन है ?'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! क्रियाका भी महत्त्व है। परन्तु

क्रिया पहले वही वस्तु दे सकती है, जिसमें तुम्हारा भाव होगा। नाम-जपका उद्देश्य धन है तो पहले धन, पीछे भगवान्। क्रियासे भाव और भावसे क्रिया, यही क्रम है। दृष्टि लक्ष्यपर रहे; फिर जो तुम करोगे, वही साधना होगी। प्रत्येक व्यक्तिका यही भाव हो कि वह जहाँ है, वहीं उसे भगवान् मिल सकते हैं। ऐसा कौन है, जिसे भगवान् नहीं मिले हुए हैं। लक्ष्य तो ठीक करो, साधना स्वयं ठीक हो जायगी।'

(६)

एक बार एक सत्सङ्गीने एक महात्मासे प्रश्न किया—'भगवन्! आप बार-बार नाम-जप करनेको कहते हैं, परन्तु मेरे मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा नहीं है और स्वाभाविक रुचि भी नहीं है नाममें। फिर मैं क्यों नाम-जप करूँ?'

महात्माजीने कहा—'यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा हो, तब तो नाम-जपके सम्बन्धमें प्रश्न ही क्यों हो? परन्तु इच्छा होनेका भी कोई उपाय होना चाहिए। शुद्ध अन्तःकरणसे नाम जपना चाहिए। परन्तु अन्तःकरण शुद्ध हो कैसे? इसलिए तुम जिस अवस्थामें हो, जैसे हो, अभीसे नाम-जप शुरू कर दो। माना कि तुममें कोई इच्छा नहीं है, परन्तु तुम तो मेरी प्रसन्नताके लिए भी जप कर सकते हो। कोई नाम-जप करता है तो मैं प्रसन्नतासे खिल उठता हूँ। क्या गुरुकी प्रसन्नताके लिए शिष्य इतना भी नहीं कर सकता? मेरा विश्वास है, अपने लिए न सही, मेरे लिए ही तुम नाम-जप करोगे।'

(७)

पैंतिस-छत्तीस वर्ष पहले एक सज्जन तीर्थयात्रा करते हुए अयोध्या पहुँचे। सब मन्दिरोंमें दर्शन आदि करके वे एक महात्माके पास गये। अवसर पाकर उन्होंने पूछा—'महाराज!

भगवान्‌के दर्शन कैसे हों, कहा हों ?' ऐसा मालूम हुआ, मानो महात्माजी कुछ रुष्ट हो गये। उन्होंने कहा—'कहाँसे आ रहे हो तुम ?' यात्रीने कहा—'मन्दिरोंमें दर्शन करके।' महात्माने कहा—'मन्दिरोंमें केवल पत्थरके ही दर्शन करके आ रहे हो ? जिनकी सेवाके लिए हजार-हजार व्यक्तियोंके जीवन, धन और मन लग रहे हैं, जिनके लिए लोगोंने संसारका परित्याग कर रखा है, जो बहुतोंके जीवनसर्वस्व—प्राण हैं, उन्हें तुम केवल पत्थर समझते हो ? उनकी आँखसे देखो, तब तुम्हें मालूम होगा, वे मूर्यियाँ क्या हैं ? भैया वे साक्षात् भगवान् हैं—केबल भाव-दृष्टिसे नहीं, तत्त्व-दृष्टिसे भी। जब तत्त्व-दृष्टिसे सब भगवान् ही हैं, तब ये मूर्तियाँ भगवान् नहीं तो क्या हैं ? पहले शास्त्रों, सन्तों और भावनाओंके द्वारा एक स्थानपर भगवान्‌को प्रकट करना पड़ता है। एक स्थानमें, एक समयमें, एक वस्तुमें पहले भगवान्‌का दर्शन करो, उन्हें प्रकट करो, फिर तो सब स्थान, सब समय और सभी वस्तुएँ भगवत्स्वरूप ही होंगी। जो 'सब और सर्वत्र भगवान् हैं'—ऐसा कहते हैं, परन्तु एक स्थानपर उन्हें प्रकट करके दर्शन नहीं कर लेते, वे कहीं भी दर्शन करनेमें सफल नहीं होते। इन मन्दिरस्थ भगवान्‌को पहचानो। इन अनबोले भगवान्‌से प्रीति करो। अनबोलतेसे प्रेम करनेमें ही तो प्रेमी हृदयकी पहचान है। फिर तो वे बोले बिना रहते नहीं। जब एक जगह बोल देते हैं, तो सर्वत्र बोलते हैं। तुम्हें ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए कि मुझे भगवान्‌के दर्शन कभी नहीं हुए। भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं। उन्हें जानकर, मानकर, अनुभव करके तुम्हें केवल मुग्ध होना चाहिए। भगवत्मूर्तिको पाषाण, गुरुको मनुष्य और प्रसादको भोग मानना अपराध है। तुम भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देखो।'

महात्माजीके उपदेशसे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। वे अब सच्चे मूर्तिपूजक हैं। वे जिस मूर्तिकी पूजा करते हैं, वह साक्षात् भगवान्‌के रूपमें ही उनको दीखती है।

(८)

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्वकी बात है—एक सज्जनके चित्तमें वैराग्यका उदय हुआ। उनकी अवस्था अभी छोटी थी। वे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े और भागकर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मासे प्रार्थना की कि अब मुझे वैराग्य-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।

महात्माने पूछा—'तुम्हारा घर कचचा है या पक्का? घरपर कितने प्राणी हैं? वहाँ क्या भोजन मिलता है?' उन्होंने उत्तर दिया—'महाराज, मेरा घर कच्चा है, तीन-चार प्राणी हैं, साधारण भोजन मिलता है।'

महात्माजीने कहा—'मेरा मठ पक्का है, यहाँ सैकड़ों साधु रहते हैं, उत्तम भोजन मिलता है। यदि कच्चा घर छोड़कर पक्केमें रहना, तीन-चार प्राणी छोड़कर सैकड़ों प्राणियोंमें रहना और साधारण भोजन छोड़कर उत्तम-उत्तम भोजन करना वैराग्य हो तो तुम आओ, मैं तुमको वैराग्य-दीक्षा दे दूँ। परन्तु यदि तुम्हें अपने विचारसे ऐसा दीखता हो कि वहाँकी अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक वैराग्य नहीं है तो तुम्हें घरपर रहकर ही भजन करना चाहिए। भजन होना चाहिए—चाहे हम घरमें हों या बनमें, गृहस्थ हों या विरक्त। वैराग्य अन्तरकी वस्तु है, बाहरकी नहीं। उसका अर्थ इतना ही है कि प्रियतम प्रभुके अतिरिक्त और किसीको भी मनमें स्थान न मिले, उनके अतिरिक्त और किसीसे राग न हो। तुम केवल उन्हींसे राग करो, उन्हींका भजन करो, उन्हींमें रम जाओ। बाह्य

परिस्थितियोंको तुम जितना ही अनुकूल बनाना चाहोगे उतना ही उनमें फँस जाओगे। चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, तुम जहाँ भी हो, वहीं भगवान्‌का भजन करो।' महात्माजीका उपदेश मानकर वे घर लौट गये। वे बहुत समयतक गृहस्थ रहे और उनका भजन बड़े-बड़े विरक्तोंसे भी उत्तम रहा।

(९)

एक महात्माने एक दिन यह कथा सुनायी थी। काफी समय पूर्व ऋषिकेश आज जैसा शहर नहीं था। वहाँ गृहस्थ कभी-कभी जाया करते थे। जङ्गलकी झाड़ियोंमें प्रायः विरक्त तपस्वी निष्ठावान् महात्माओंका ही निवास था। चन्द्रभागाके तटपर एक बड़े ही ध्याननिष्ठ महात्मा रहते थे। वे केवल सिद्धासनसे ही बैठे रहते थे। उनके श्वास जोरसे चलते किसीने नहीं देखे। सर्वदा प्राणोंकी समगति और अधखुली आँखें। उनकी अन्तर्मुखता आदर्श थी। एक दिन जब वे ध्यान-मग्न थे, किसी श्रद्धालु सज्जनने आकर उनके सामने पच्चीस रुपये रख दिये। आँख खुलनेपर उन्होंने देखा तो सामने रुपये रखे हुए हैं। न उन्हें रुपयोंकी इच्छा थी और न आवश्यकता ही। वे सोचमें पड़ गये कि 'इनका क्या किया जाय ?' एक सङ्कल्प उठा कि 'किसी ब्राह्मणको दे दिया जाय ?' दूसरा उठा कि 'किसी गरीबको दे दें।' तीसरा हुआ, साधुओंका भण्डारा कर दें।' और चौथा हुआ 'गरीबोंको खिला दें।' ध्यान करनेवाले महात्माके मनमें रुपयोंके सम्बन्धमें इतने प्रश्न कभी नहीं उठे थे। वे विक्षिप्त-से हो गये। उन्हें सूझता ही नहीं था कि इन रुपयोंके सम्बन्धमें क्या करें। अबतक रुपयोंको उन्होंने छूआ नहीं था। वे घबराकर एक वयोवृद्ध तत्त्ववेत्ताके पास

गये और उनसे अपने विक्षेपकी बात कही। महात्माने कहा—'स्वामीजी, अभी आपके मनसे रुपयोंका महत्त्व गया नहीं है। आप समझते हैं यह उपयोगी वस्तु है। इसके द्वारा संसारका काम होता है। इसीसे अनिच्छित रुपये सामने आनेपर भी उनके द्वारा कुछ-न-कुछ काम करनेकी इच्छा आगयी है। आपको तो केवल ध्यान करना चाहिए। व्यवहारके सम्बन्धमें एक भी प्रश्न आपके चित्तमें नहीं उठना चाहिए। जिस चित्तमें केवल 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' का ही ध्यान होना चाहिए, उसमें व्यावहारिक निष्ठुर कर्त्तव्योंका उदय क्यों हो? आप उनके द्वारा किसीकी भलाई कर सकते हो, परन्तु इससे आपके चित्तमें करनेका संस्कार बनेगा, दूसरोंकी आशा बढ़ेगी—आपसे उपकार प्राप्त करनेकी। इस प्रकार आप ध्यानसे वञ्चित हो जायँगे। व्यवहारके किसी भी बड़े-से-बड़े कामकी अपेक्षा भगवान्में एक क्षणकी भी चित्तकी स्थिति अनन्तगुनी उत्तम है, इसलिए अब सङ्कल्पोंकी परम्परा यहीं बन्द कर दीजिये। रुपयोंको न छूनेपर जब यह स्थिति है, तब उनके छूनेपर तो क्या दशा होगी—इसका अनुमान नहीं हो सकता। जो रात-दिन रुपयोंमें ही रहते हैं, उनके चित्तका तो कहना ही क्या है? वे रात-दिन उनकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं। अब आप उनका स्पर्श मत कीजिये। रुपयोंपर गोबर डालकर बिना छुए ही उन्हें उठा लीजिये और गङ्गाजीमें फेंक दीजिये।' उन ध्याननिष्ठ महात्माने वैसा ही किया, तब कहीं जाकर उनका चित्त स्वस्थ हुआ। विरक्तोंके लिए इन बातोंका सम्बन्ध कितना विघ्नकारक है, यह इस घटनासे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीसे ध्याननिष्ठ लोग प्रायः इन प्रपञ्चोंसे अलग ही रहते हैं।

एक प्रेमी जिज्ञासुने अपने ऊपर अत्यन्त कृपा करनेवाले महात्मासे पूछा—'भगवन्! रहस्यकी बात क्या है? जिसे गुरुलोग अपने एकान्तप्रेमी शिष्योंको गुप्तरूपसे बताया करते हैं, वह कौन-सी बात है?'

महात्माने कहा—'यदि मैं बता दूँ तो वह रहस्य ही कहाँ रह जायगा? रहस्यकी बात दूसरा कोई नहीं बता सकता, उसका पता तो अपने आप ही लगाया जाता है। जिज्ञासुने कहा—'तब तो वह बात मुझे कभी मालूम हो नहीं सकती। मैं तो आपसे ही जानना चाहता हूँ।'

महात्माने कहा—'दो प्रणालियाँ हैं रहस्य बतानेकी। एकमें तो गुरु अत्यन्त प्रिय शिष्यको अपने महत्त्वकी बातें बताते हैं—मुझे इस प्रकार अनुभव हुआ है, यह वरदान मिला है, मैं यह हूँ इत्यादि। कई पन्थोंमें अपनी उपासना अथवा अपने गुरुजनों-की उपासना बतलायी जाती है और शिष्यकी अपनी साधनाके परायण होनेको कहा जाता है तथा उसकी रक्षा तथा त्राणका आश्वासन दिया जाता है। दूसरी प्रणाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यह रहस्य केवल सच्चे गुरु ही बता सकते हैं। इसमें गुरुदेव समस्त जगत्की सत्ताके बाधके साथ-ही-साथ अपना भी बाध कर देते हैं और शिष्यसे कहते हैं—'मैं नहीं हूँ, तू ही है। मैं, जिसे शरीरके रूपमें तुम देख रहे हो, जिसमें प्रवचन, युक्ति-कौशल, प्रेम, सदाचरण और शुद्ध व्यवहारको देख-सुनकर तुम श्रद्धावन्त हो जाते हो, जिसे कभी-कभी भावातिरेकसे तुम भगवान् कहने लग जाते हो, वह मैं तुम्हारी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। मैं और तुम दोनों उपाधिरहित, निर्विशेष एवं एक हैं। न मैं मैं हूँ और न तू तू ही है। मैं, तू और वह—

इन शब्दोंके अर्थ जिन्हें भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, उन्हें रहस्यका ज्ञान नहीं है, वे तो स्थूलताओंमें और उनके संस्कारोंमें आबद्ध हैं। समस्त आवरणोंको फाड़ डालनेपर केवल एक और केवल एक ही वस्तु ऐसी निकलती है, जो सबका एकमात्र अर्थ है। भिन्नताके अर्थ तो कामचलाऊ—व्यावहारिक हैं। वैसे अर्थ जाने बिना जिनसे रहा नहीं जाता, अपनी वासनाओंकी पूर्तिमें बाधा पड़ती दीखती है, वे अर्थ उन्हींके लिए हैं। वास्तविक अर्थ तो सभी शब्दोंका एक ही है, उसे भले ही लक्ष्यार्थ कह लो। यह लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थका भेद भी व्यावहारिक ही है। इसलिए एक निर्विशेष सत् है, वही तुम हो, वही मैं हूँ। मुझे अपनेसे पृथक् सत्ता देनेवाले तुम ही हो।

इस प्रकारका समत्व—यह आत्मदान, जो शिष्यको केवल गुरुके रूपमें ही नहीं, गुरुत्व और शिष्यत्वसे ऊपर परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित कर देता है, केवल सच्चा गुरु ही कर सकता है। यही रहस्य है।

(११)

एक जिज्ञासुने पूछा—भगवन्! अमुक महात्मा तो अपने शिष्योंका बहुत ध्यान रखते हैं! क्या यह किसी समदर्शी महात्माके अनुरूप है? महात्माजीने पूछा—शिष्य भी तो महात्माजीका बहुत ध्यान रखते होंगे? जिज्ञासुने कहा—क्यों नहीं, उन्हें तो रखना ही चाहिए। महात्माजी बोले—तब जिसका ध्यान शिष्य रखते हैं, वह शिष्योंका ध्यान क्यों नहीं रखेगा? दोनोंकी एक ही दृष्टि है। शिष्यकी दृष्टिमें गुरु जो कुछ हैं, गुरुकी दृष्टिमें शिष्य भी वही है। इस विषयमें एक संवाद बहुत प्रसिद्ध है।

परमहंस रामकृष्ण नरेन्द्रपर बड़ी कृपा, बड़ा स्नेह रखते

थे। जब दो-चार दिन नरेन्द्र (पीछे स्वामी विवेकानन्द) उनके पास न आते तो वे बड़ी चिन्ता करने लगते थे। एक बार कई दिनोंतक नरेन्द्रके न आनेसे वे इतने चिन्तित हो गये कि उन्होंने नरेन्द्रको बुलानेको अपने एक भक्तको भेजा। अपनी छात्रावस्थामें नरेन्द्र बहुत ही खुले हुए थे। सङ्कोच तो उन्हें छूतक नहीं गया था। परमहंसजीके सामने तो वे नन्हें-से शिशुकी भाँति अपने मनकी सब बातें कह दिया करते थे। उन्होंने आते ही पूछा—'बाबा, आप मुझसे इतना प्रेम करते हैं, कहीं राजा भरतकी भाँति (वे एक हरिनसे प्रेम होनेके कारण दूसरे जन्ममें हरिन हो गये थे) आपको भी दूसरा जन्म न लेना पड़े?' परमहंसजीने कहा—'नरेन्द्र! तुम हमारी दृष्टिसे देखो तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम कौन हो। शिष्य तो केवल श्रद्धाके बलसे गुरुको भगवान् मानते हैं। गुरुकी दृष्टिमें तो ज्ञान और अनुभवसे सब भगवत्स्वरूप ही दीखता है। तुम अपनेको जैसा देखते हो, वह तो अज्ञान-दृष्टि है। वास्तवमें तुम भगवत्-स्वरूप हो।'

इसलिए कौन महात्मा किसे किस दृष्टिसे देखकर क्या व्यवहार करता है, इसे केवल वही जानता है—उसपर शङ्का करनेकी आवश्यकता नहीं।

(१२)

तीस वर्षसे भी अधिक हो गये उनका गोलोकवास हुए। वे ब्रजके एक ख्यातिप्राप्त महात्मा थे। मस्त इतने थे कि बस क्या पूछना! चारोंको भी माखन-चोर समझकर उनके साथ खेल लेते थे। कभी अपने सखाके बन्दी बन जाते, तो कभी रूठकर ऐसे बैठते कि कई दिनोंतक मानते ही नहीं। बड़े-बड़े भक्त आते, परन्तु वे खेलते ही रहते। यह सृष्टि उनके लिए कर्मजन्म या

अज्ञानजन्य नहीं थी। भगवान्‌की लीलामात्र थी। इस लीलामें लीलाप्रियकी इच्छाके अनुसार पात्र बने हुए भी एक सखा थे।

एक दिन एक प्रसिद्ध राजासे जो कि उनके भक्त थे, उन्होंने कहा—'तू राजा बना फिरता है, मुझे भी एक दिन राजा बना दे!' राजा साहब बड़े श्रद्धालु थे। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। बाबाको अपनी राजधानीमें में ले गये और तीन दिनके लिए बाकायदा उन्हें राज्यका सब अधिकार दे दिया। अब बाबा राजा हो गये।

राजा होते ही बाबाने सब व्यवस्था वहाँकी उलट-पलट कर दी। दीवानको दरवान और दरवानको दीवान बना दिया। रानीको दासीके कामपर नियुक्त कर दिया। राजकुमारको चाँटे लगवाये। चारों ओर तहलका मच गया। बाबासे ऐसी आशा तो किसीने नहीं की थी। सब लोग जाकर राजा साहबसे शिकायत करते परन्तु उसका भी तो कोई फल नहीं था। राजासाहब कहते—'भाई' शान्त रहो। वे बहुत बड़े महात्मा हैं, न जाने किस उद्देश्यसे क्या करते हैं। उनकी श्रद्धा ज्यों-की-त्यों रही। तीसरे दिन उन्होंने फिर सबको यथास्थान करके राजाको सब सँभला दिया।

राजाने बड़ी नम्रतासे पूछा—'बाबा, यह सब किस अभिप्राय-से आपने किया?' महात्माजी बोले—'तुम्हारा राज्य तो दुर्व्यवस्थाका केन्द्र हो गया था। मैनेजर चपरासियोंको बेईमान समझते थे तो चपरासी मैनेजरको जल्लाद। मैनेजरकी दिक्कतें चपरासियोंको मालूम नहीं थीं और उनकी कठिनाइयोंका मैनेजरको पता नहीं था। इसीसे उनमें परस्पर बड़ा वैमनस्य चल रहा था। राजकुमारको मजा आता था—दूसरोंको पिटवानेमें। उन्हें इस बातका बिलकुल अनुभव नहीं था कि पिटनेमें कितना

दुःख होता है। रानी भी दासियोंकी सजा करती-करती परेशान हुई जा रही थीं। उन्हें दासियोंकी परिस्थिति और कठिनाईका बिलकुल ज्ञान नहीं था। मैंने सोचा कि मैं खिलवाड़ भी खेल लूँ और तुम्हारे परिजनोंमें-से ये दोष भी निकल जायँ। इसलिए यह सब करना पड़ा। अस्तु, तुम अपना राज सँभालो। मेरी मस्तीमें, मेरे माँगे हुए रोटीके टुकड़ेमें जो सुख है, वह इस अमीरीमें कहाँ! फिर भी सब लालाकी ही लीला है। तुम खिलौनोंसे खेलो और मैं लालासे!' इसके बाद वे व्रजमें चले आये।

महात्माजीकी इस लीलासे क्या हम यह सीख सकेंगे कि हमारे जीवनमें भी अपने सामनेवालेकी परिस्थिति देखनेकी आदत पड़ जाय?

(१३)

बड़े कृपालु थे वे महात्मा। जब-जब गङ्गातटपर वे आते, हम उनके दर्शनोंको जरूर जाते थे। उनके पास कोई वस्त्र था तो कौपीन, और पात्र था तो एक मिट्टीकी हाँडी। वे बोलते बहुत कम थे, इतना कम कि उपदेशात्मक वाक्यका तो कभी उच्चारण ही नहीं करते। बहुत पूछनेपर भी यही कहते—'यह सब भगवान्की लीला ही लीला है। इसमें जो हो रहा है वही ठीक है, बेठीक कुछ भी नहीं। जो इसे बेठीक कहते हैं, वे भी ठीक ही कहते हैं। अपनी-अपनी लीला सभी पूर्ण कर रहे हैं। चोर चोरीकी, जज सजाकी और जल्लाद फाँसीकी। सब ठीक ही तो है। फिर क्या प्रश्न और क्या उत्तर? वह भी ठीक है।'

हमारे बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने अपनी जीवनचर्य्याके परिवर्तनकी एक घटना बतलायी। वह उन्हींके शब्दोंमें तो नहीं, जैसी याद है वैसी सुनिये।

'मैं लोगोंको उपदेश करता फिरता था। मुझे ऐसा अभिमान था कि मैं ज्ञानी हूँ, सदाचारी हूँ। दूसरोंको जब मैं अज्ञानी और दुराचारी देखता तो मुझे बड़ी दया आती। मैं अपनेको दूधका धुला देवदूत समझता था और दूसरोंको नरकका कीड़ा। मैं उस समय कितना दयनीय था, यह अब समझ सकता हूँ। परन्तु वह भी थी भगवान्‌की दया ही और यह भी दया ही है।

एक दिन मैं आरामकुर्सीपर बैठकर लोगोंके पतन और उत्थानकी समस्या हल कर रहा था। सोचते-सोचते नींद आ गयी। मैंने स्वप्न देखा। स्वप्नमें मैं एक महान् विद्वान् और सदाचारी उपदेशक था। मेरे रहनेका स्थान तो स्वर्ग था; परन्तु मैं कभी-कभी लोगोंको उपदेश देनेके लिए मर्त्यलोकमें भी आया करता था, विमानपर सवार होकर। मैं महान् था, वैभवशाली था, सम्मानित था और था लोगोंका उद्धारक। मैं अपनी स्थितिकी याद करके फूल उठता था।

एक दिन मैं विमानसे मर्त्यलोक आया। लोगोंको बताने लगा कि भगवान्‌की प्रार्थना कैसे करनी चाहिए। मैं संस्कृतका एक श्लोक बोलता और लोगोंको अपने पीछे बोलनेको कहता। जब वे सीख लेते तब किस समय, किस मुँहसे खड़े होकर किस प्रकार पाठ करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं—यह उनको बतलाता और सिर नवाकर वे मेरा उपदेश सुनते और मेरी प्रशंसा करते हुए चले जाते। मैं सोचता—मैंने इन लोगोंका उद्धार कर दिया।

मैंने देखा—एक आदमी योंही बैठा हुआ है। वह न तो मेरा सम्मान करता है और न मुझसे प्रार्थना करवानेका आग्रह ही करता है। मैंने सोचा—यह मूर्ख है, इसीसे मेरा उपदेश ग्रहण नहीं करता। मैं स्वयं चलकर इसे उपदेश दूँ।

मैं उसके पास गया। मैंने पूछा—'क्यों रे! तू परमात्माकी प्रार्थना जानता है?' उसने कहा— नहीं।' मैंने कहा—'तब इस संसारसे तेरा उद्धार कैसे हो सकता है? तू मुझसे प्रार्थना सीख, तब भगवान् तुझपर कृपा करेंगे।' उसने कहा—'मैं तो कुछ जानता नहीं। आप जो सिखाइए, मैं सीखनेको तैयार हूँ।'

मैं उसे प्रार्थनाके श्लोक सीखाने लगा। इतना वज्रमूर्ख था वह, कि एक-एक पद सौ-सौ बार रटनेपर भी याद नहीं कर सका। किसी कदर उसको एक श्लोक रटाकर मैं विमानसे स्वर्गके लिए रवाना हुआ। मैं सोचता जा रहा था कि 'यह कितना मूर्ख है और कितना नीचे गिरा हुआ है कि एक-दो श्लोक रटकर भगवान्‌की प्रार्थना भी नहीं कर सकता! अच्छा, मैंने एक श्लोक तो रटा दिया न? यदि यही याद रहा तो उसका उद्धार हो जायगा। मैं यही सब सोच रहा था और यह भी सोच रहा था कि मेरी वजहसे कितने प्राणियोंका उद्धार हो रहा है।'

एकाएक मैं बड़े आश्चर्यमें पड़ गया। मेरा विमान जितनी तीव्रगतिसे ऊपर चढ़ रहा था, उससे भी अत्यन्त तीव्रगतिसे कोई मेरा पीछा कर रहा था। क्षण भरमें ही मैंने देखा, वही आदमी, जिसे मैं श्लोक रटाते-रटाते परेशान हो गया था, एक ज्योतिर्मय मूर्तिके रूपमें मेरे सामने खड़ा है। उसने कहा—'हे उद्धारक! हे आचार्य! आपका बतलाया हुआ श्लोक मुझे भूल गया। अब मैं परमात्माकी प्रार्थना कैसे करूँगा? मैं समझता था वे 'मेरे हृदयमें निवास करते हैं—मेरी टूटी-फूटी भाषा भी समझते हैं। मैं उनसे अपनी भाषामें घण्टों बातें किया करता था सो जब वे मेरी भाषा समझते ही नहीं तो आप ठहरिये, मुझे वही भाषा सिखाइए जो वे समझते हों।'

मैं उसकी बात सुनकर अवाक् रह गया। मैंने कहा—'हे महात्मन् ! मैंने तुमको पहचाना नहीं। तुम्हें श्लोक रटनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान् तो बस तुम्हारी ही भाषा समझते हैं। मैं अबतक उपदेशकपनेके भ्रममें भटक रहा था। मैं तो तुम्हारी चरणधूलिको स्पर्श करनेके योग्य भी नहीं हूँ। तुम ! तुम महापुरुष हो। अपने चरणोंकी धूलि देकर मुझे कृतार्थ करो।' मैं उन महापुरुषके चरणस्पर्श करने जा ही रहा था कि मैं आरामकुर्सीसे नीचे गिर पड़ा और नींदके साथ वह स्वप्न भी न जाने कहाँ चला गया। यद्यपि वह था तो एक स्वप्न ही, परन्तु मेरे लिए जाग्रत्से अधिक मार्गोपदेशक था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि भगवान्ने मेरे उद्धारके लिए ही यह लीला रची है। मेरा अभिमान मिथ्या था। भगवान् नाना रूपोंमें स्वयं सबका उद्धार करते रहे हैं, यह निश्चय होते ही मैंने उपदेशका काम छोड़ दिया। लोगोंके उद्धारका ठेका तोड़ दिया भगवान्ने। मैं तभीसे सर्वदा, सर्वत्र, सब प्रकारसे भगवत्कृपाका अनुभव करता हूँ, और गंगातटपर विचरता रहता हूँ।'

(१४)

जब कई साधु इकट्ठे होते हैं तो प्रायः वे अपनी-अपनी यात्राओंके अनुभव एक दूसरेको सुनाया करते हैं। कनखलके संन्यासियोंमें ऐसे ही अवसरपर एक विरक्त महात्माके मुखसे मैंने नीचे लिखी बात सुनी थी।

उन्होंने कहा—'एक बार गंगातटपर विचरता हुआ मैं कलकत्ते पहुँच गया। मनमें आया चलें शहरमें कुछ खिलवाड़ खेलें। जब मैं एक करोड़पति सेठकी गद्दीमें पहुँचा, तो वहाँके सभी लोग चकित रह गये। कहाँ मैं लँगोटी लगाये काला-कलूटा भिक्षुक, और कहाँ वे सेठ-साहूकार ? सेठजीने अपनी आँखें

बहीके पन्नेपर गड़ा लीं। मैंने पुकारा—'सेठजी!' परन्तु सुने कौन? वे तो हिसाबमें मशगूल हो रहे थे। एक-दो बार पुकारनेपर मुनीमसे कहा—'खजांचीजी, इसे एकाध पैसा दे दो और दरबानको कहला दो, आइन्दा ऐसे भिखमंगे अन्दर न आने पावें।' मैंने कहा—'मुझे पैसा नहीं चाहिए सेठजी! मेरी बात तो सुनो।' परन्तु फिर भी सेठजीकी जगह मुनीम ही बोले—'तब क्या गिन्नी लेगा? भाग जा यहाँसे नहीं तो दरबानको बुलाता हूँ।'

'अन्ततः दरबान आया। मेरा गला पकड़कर वह ले जानेवाला ही था कि मैंने कहा—'सेठजी, मैं तो जा रहा हूँ। न मुझे पैसेकी जरूरत है और न तो तुम्हारी कोठी ही दखल करनी है। हाँ, एक बात कहे देता हूँ—एक सालके भीतर तुम्हारी मौत हो जायगी। सिर्फ यही कहनेके लिए मैं तुम्हारे पास आया था। अब जाता हूँ।' इतना कहकर जो मैं वहाँसे चला तो सेठजीने आकर मेरे पाँव पकड़ लिये। मैं वहाँसे जानेका हठ करता और वे ठहरनेका। अन्ततः उन्हें मैंने समझाया—'इस धनको अपना मत समझो। यह गरीबोंको बाँटनेके लिए तुम्हें दिया गया है। यद्यपि उन्हें अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट रहना चाहिए फिर भी तुम अपने कर्त्तव्यसे विमुख क्यों हो रहे हो?' उन्होंने हाथ जोड़कर मृत्युसे बचनेका उपाय पूछा। मैंने उन्हें प्रतिदिन नाम-जप, दान, सेवा और स्वाध्यायका नियम दिलाया।'

उन्होंने आगे कहा—'मनुष्य भोगमें इतना रम गया है कि बिना भयके साक्षात् दर्शन हुए अब उसका उनसे छूटना कठिन हो गया है। भगवान् भी शायद युद्ध, महामारी, रोग-शोकद्वारा भय दिखाकर इसे मार्गपर ही लाना चाहते हैं, इतनेपर भी यदि यह मानव प्राणी चेत जाता!'

●●●

(१५)

काशीकी बात है। मैं एक सज्जनके साथ एक प्रतिष्ठित नेताके पास गया हुआ था। नेता बड़े यशस्वी और योग्य पुरुष थे। जबतक हम उनके पास बैठे थे, उनकी बार-बार सिर झटक देनेकी आदत बड़े गौरसे देखते रहे और उनकी आँख बचाकर मुस्करा भी लेते थे। बात यह थी कि उनके सिरपर जो घुँघराले लम्बे-लम्बे काले बाल थे वे बार-बार कपोलोंपर आ जाया करते थे और वे उन्हें हटानेके लिए सिरको जरा पीछेकी ओर झटक दिया करते थे। प्रायः पाँच-सात मिनटमें वे एक-दो बार ऐसा अवश्य कर लेते।

जब हम वहाँसे चले तब मेरे साथी कहने लगे—'यदि साधकको ऐसी आदत पड़ जाय तो क्या कहना? जब-जब संसारकी चिन्ता अपने सिरपर आवे, तब-तब उसे इसी प्रकार झटककर फेंक दे। कितना सुन्दर अभ्यास है। मैं जो मुस्करा रहा था सो यही सब सोचकर।'

मैं सोचने लगा—'यदि आदमी शिक्षा लेनेपर उतारू हो तो सभी जगह शिक्षा ग्रहण करनेके अवसर हैं। केवल उसके लिए उन्मुखता चाहिए। दत्तात्रेयजी महाराजके चौबीसों गुरु आज भी तो हमारे सामने घूमते रहते हैं। जो शिक्षा उन्होंने ग्रहण की थी, वह हम भी ग्रहण करें तो क्या दिक्कत है?' यद्यपि वे मेरे साथी अपने सिर पर बाल नहीं रखते, फिर भी वे अपना सिर बार-बार झटकते रहते हैं और हर बार अनुभव करते हैं कि मैंने संसारको झटककर फेंक दिया।

(१६)

भगवान्‌की कृपाके सम्बन्धमें सत्सङ्ग चल रहा था। भक्त लोगोंका कहना था कि कृपासे ही सब कुछ हो जाता है, पुरुषार्थ

अथवा साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। बाबा अपने आसनपर बैठे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। भक्तोंका रुख देखकर वे एक बार बोले—सत्य ही है। भगवत्कृपा तो तत्त्व है। कोई माने या न माने, जाने या न जाने, वह तो सबपर एकरस है ही। साधक, असाधक सभी उस कृपाके महान् समुद्रमें ही बरफकी चट्टानकी तरह डूब-उतरा रहे हैं। सबकी संघटना ही कृपामात्रसे हुई है।' फिर चुप होकर मुस्कराने लगे।

एक भक्तने पूछा—'महाराजजी, तब क्या पुरुषार्थका कोई उपयोग नहीं है?' बाबाने कहा—'है क्यों नहीं? पुरुषार्थ भी तो कृपा ही है। साधनकी प्रेरणा भी तो कृपाकी ही अभिव्यक्ति है। तुम साधनाको कृपासे भिन्न क्यों मानते हो?' भक्त—'फिर साधन न करना भी तो कृपा ही हुई।' बाबा—'ठीक है। साधन करना और न करना दोनों ही कृपा है, इस प्रकारका विश्वास, निश्चय और अनुभव जिसे प्राप्त है वह तो महासाधन-सम्पन्न है।' भक्त—'परन्तु ऐसा विश्वास जिसे प्राप्त नहीं है, जो साधनमें संलग्न भी नहीं है, उसे क्या समझा जाय?' बाबा—'सत्य तो यह है कि उसकी यह स्थिति भी कृपासे शून्य नहीं है। हमारी क्षुद्र बुद्धि चाहे उसे कृपा न समझे, सब कृपा-ही-कृपा है।' बाबाकी बात सुनकर सब भगवान्‌की अनन्त कृपाका अनुभव करने लगे।

कुछ समय बाद बाबा स्वयं बोले—'जहाँ अपनी पृथक्ताका अनुभव है, जहाँ दुःखको छोड़कर सुख पानेकी इच्छा है, वहाँ जीवको अपने धर्मका पालन करना ही पड़ेगा। जैसे भगवान्‌का धर्म है कृपा, वैसे ही जीवका धर्म है साधन। वह साधन क्या है? भगवत्कृपापर विश्वास। विश्वास करना ही पड़ेगा। बिना विश्वासके कृपा होनेपर भी वह बेकार-सी है। विश्वास करो इतना ही तुम्हारा पुरुषार्थ है। भगवान्‌की कृपा तुम्हें

इसके लिए प्ररणा दे रही है।' इस प्रकार बाबा कह ही रहे थे कि एक आगन्तुकने आकर बाबाके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। वह आदमी बड़ा घबड़ाया हुआ था। मालूम होता था, वह बहुत ही भूखा-प्यासा है। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। बाबासे सान्त्वना पाकर वह कहने लगा—

'मैं एक अत्यन्त पापी जीव हूँ। मैंने जान-बूझकर बहुतोंको दुःख दिया है, चोरी की है, हिंसा की है, व्यभिचार किया है, झूठ बोलकर लोगोंको धोखा दिया है। ऐसा कौन-सा पाप है, जो मैंने न किया हो? अब मेरा हृदय जल रहा है। ग्लानिसे मैं मरा जा रहा हूँ। जीवन असह्य हो गया है। मेरी रक्षा करो, बाबा! मेरी रक्षा करो।' बाबाने कहा—'तुम इतना घबराते क्यों हो? अब तो पाप हो गये हैं न? तुम्हारे घबड़ानेसे तो अब उनका होना न होना नहीं हो सकता? तनिक शान्त चित्तसे विचार करो। अब तो पाप हो गये। उनके लिए पश्चात्ताप कर ही रहे हो। प्रायश्चित्त करो, दण्ड भोगो, नरकमें जाओ। जिस वीरतासे पाप किये, उसी वीरतासे उनका फल भी भोगो। घबड़ानेकी क्या बात है?' उस नवागन्तुक मनुष्यने कहा—'महाराज, मेरे चित्तमें न शान्ति है न स्थिरता। सिवा मृत्युके अब मेरे लिए कोई उपाय नहीं है। मेरी वीरता न जाने कहाँ चली गयी? अब तो मैं धधकती हुई आगमें जल रहा हूँ।' बाबा—'तुम घबराओ मत। भगवान्की कृपापर विश्वास करो। उनका नाम लो। उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दो। उनके होते ही तुम्हारे पाप-ताप शान्त हो जायँगे। विश्वास करो भगवान्की अहैतुकी कृपापर। वह अब भी तुमपर है और वैसी ही है जैसी हमपर और किसीपर भी।' नवागन्तुक—'प्रभो, मैं जल रहा हूँ। न मुझमें प्रायश्चित्त करनेकी शक्ति है और न तो

विश्वास करनेकी। मेरी जीभसे नामोच्चारण भी नहीं होता। मैं आत्महीन हूँ। आत्मसमर्पण कैसे करूँ? जबतक मेरे पाप हैं तबतक मैं कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ।'

एक क्षण मौन रहकर बाबाने कहा—'अच्छा तुम एक काम करो। हाथमें गङ्गाजल, कुश और अक्षत लेकर अपने सारे पाप मुझे समर्पित कर दो! मैं सहर्ष उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं तुम्हारे सब पापोंका फल भोग लूँगा। तुम निष्पाप होकर भगवान्‌की शरणमें जाओ, उनकी कृपापर विश्वास करो।' आश्चर्यचकित होकर कुछ आश्वस्त-सा वह बोला—'बाबा, क्या ऐसी भी सम्भव है? मुझ पापीपर भी कोई ऐसे कृपालु हो सकते हैं जो मेरे पापोंका फल भोगनेके लिए उन्हें स्वीकार कर लें।' बाबा—'इसमें क्या सन्देह है? तुम्हें भगवान्‌की दयालुतापर सन्देह है क्या? वे हम सबकी माँ हैं। माँ जब अपने बच्चेको गन्दी नालीमें गिरा हुआ देखती है, तब उसके, स्नान करके आनेकी प्रतीक्षा नहीं करती है। वह तो दौड़कर बिना विचारे ही पहले उसे गोदमें उठा लेती है, फिर धोतीसे उसे पोंछती है। गौका बच्चा जब नालमें जकड़ा हुआ पैदा होता है, तब माँ उसकी नालको, उसके गन्दे बन्धनको अपनी जीभसे चाट जाती है, उसके दोषोंको अपना भोग्य बना लेती है। इसीको वत्सला गौका वात्सल्य कहते हैं। भगवान्‌का वात्सल्य तो इससे भी अनन्तगुना है। वे पापीको और पापोंको भी स्वीकार कर सकते हैं, करते हैं। तुम उनके अपने नन्हें-से शिशु हो, उनकी गोदमें हो। तुम विश्वास करो, उन्होंने तुम्हें पहले स्वीकार कर लिया है। वे तुम्हारा सिर सूँघ रहे हैं। वे तुम्हें पुचकार रहे हैं। अनुभव करो और आनन्दमें मुग्ध हो जाओ।'

उस समय सभी भक्तों और उस आगन्तुककी आँखोंसे आँसू

बह रहे थे। सबके शरीर पुलकित थे, सबके हृदय गद्गद हो रहे थे। बाबाने कहा—'अब भी तुम्हें शङ्का हो कि मुझ पापीको भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे तो लाओ, सङ्कल्प कर दो—मैं तुम्हारे पाप स्वीकार करता हूँ।' नवागन्तुकने कहा—'मेरा विश्वास हो गया, बाबा! भगवान् मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे। उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया, मेरा दृढ़ विश्वास है। अब मैं कभी उनके चरणोंसे दूर नहीं होऊँगा।'

बाबाने भक्तोंसे कहा—'यही पुरुषार्थका उपयोग है जो कि भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है। यदि ये मुझे अपने पापका दान देते तो भी इन्हें विश्वास करना पड़ता कि बाबाने मेरे पापोंको स्वीकार कर लिया। यदि इनके अन्तःकरणमें ऐसी श्रद्धा है, विश्वास है, शक्ति है, तो फिर विलम्ब क्या है? भगवान्‌ने तो स्वीकार कर ही रखा है। केवल विश्वासका विलम्ब है। यह विश्वास ही जीवका पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ कृपाकी अनुभूतिका साधन है, तो कृपा पुरुषार्थको अभिव्यक्तिका हेतु है। दोनों एक ही हैं।'

(१७)

एक बड़े शहरमें एक बड़े प्रतिष्ठित धनी निवास करते थे। उनके चित्तमें बड़ा वैराग्य था, भगवान्‌के भजनमें बड़ी रुचि थी। वे सोचते रहते थे कि कब वह अवसर मिलेगा, जब सबकी चिन्ता छोड़कर मैं भजनमें ही लग जाऊँगा। उनके सन्तान नहीं थी। एक भतीजा था, जिसके पढ़ाने-लिखानेकी जिम्मेदारी सेठजीपर ही थी। वे उसको योग्य बनाकर भजनमें लगना चाहते थे।

कुछ दिनोंमें पढ़-लिखकर सेठजीका भतीजा योग्य हो गया। सेठजीने व्यापारका सारा काम-काज उसे सँभला दिया और

अपना विचार प्रकट किया कि मैं तो अब व्रजमें रहकर भगवान्‌का ही भजन करूँगा। भतीजेने पूछा–'चाचाजी, इस घरमें, व्यापारमें, रुपयोंमें, भोगोंमें, जो आनन्द है, भजनमें उससे अधिक आनन्द है क्या ?' चाचाजी—'इसमें क्या सन्देह है, बेटा! हमारा व्यापार, भोग और सुख तो अत्यन्त अल्प है। संसारके त्रैकालिक सुखोंको और मोक्ष-सुखको भी यदि एकत्र करके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरे पलड़ेपर भजनका लेशमात्र सुख रखा जाय, तो भी वह लेशमात्र सुख ही अधिक होगा। और तो अधिक क्या कहूँ, बेटा! भजनमें जो दुःख होता है वह भी संसारके सुखोंसे अच्छा है, श्रेष्ठ है।' भतीजा—'चाचाजी! जब भजनमें इतना सुख है, तब मुझे इस दुःखरूप व्यापारमें लगाकर आप अकेले क्यों उस सुखका उपभोग करने जा रहे हैं? जिसे आप दुःख समझते हैं, उसमें मुझे डाल रहे हैं और आप सुखमें जा रहे हैं, भला यह कहाँका न्याय है? मैं भी आपके साथ चलूँगा।' चाचाजी—'बेटा! मैं तो चाहता हूँ कि संसारके सभी लोग भगवान्‌में लग जायँ। मुझे कई बार इस बातका दुःख भी होता है कि लोग ऐसा सुखमय भजन छोड़कर प्रपञ्चोंमें क्यों फँसते हैं? परन्तु संसारका अनुभव किये बिना इसके दुःखोंका ज्ञान नहीं होता। तुम अभी नवयुवक हो। तुम कुछ दिनोंतक संसारके व्यवहारोंमें रहकर इसके सुख-दुखोंको देख लो फिर तुम्हारी रुचि हो तो भजनमें लग जाना।' भतीजा—'आपकी बात हमें जँचती नहीं है। मैं सोचता हूँ कि जिस व्यापार आदिमें लगे रहकर आपने अपनी इतनी उम्र बितायी है, उसका अनुभव आपसे अधिक मुझे कब होगा? जब आपका अनुभव इतना प्रत्यक्ष है, मेरी आँखोंके सामने है, तब फिर उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिए इतना सुखद भजन छोड़ देना

कहाँतक उचित है ? इसलिए मैं भजनके लिए अवश्य चलूँगा। आप साथ न रखेंगे तो मैं अकेला ही चला जाऊँगा।'

भतीजेका दृढ़ निश्चय देखकर सेठजीको प्रसन्नता हुई। अपनी सारी सम्पत्तिका उन्होंने ट्रस्ट बना दिया जिससे दीन-दुःखियोंकी सेवा हुआ करे। दोनोंने समस्त वस्तुओंका त्याग करके व्रजकी यात्रा की। रास्तेमें चाचाजीने अपने भतीजेसे बात करते हुए कहा—'बेटा! ऐसी बात नहीं है कि घरमें भगवान्‌का भजन हो ही नहीं सकता। हो तो सकता है, होता है। मेरे सामने संसारके व्यवहार-व्यापारमें बहुत बड़ी कठिनाई थी। आजकल व्यापारकी प्रणाली इतनी कलुषित, इतनी गन्दी हो गयी है कि बड़े-बड़े सत्पुरुषोंका व्यवहार भी पूर्णतः शुद्ध नहीं होता। जहाँ दूसरोंसे सम्बन्ध रखना पड़ता है, वहाँ कुछ-न-कुछ उनके सम्बन्धोंका ध्यान रखना ही पड़ता है। इसलिए कैसा ही सज्जन क्यों न हो, व्यवहारके क्षेत्रमें उसे विवश होकर अपराध करना पड़ता है। सम्भव है दो-एक इसके अपवाद भी हों। परन्तु है बहुत कठिन। अवश्य ही यह व्यापारका दोष नहीं है, किन्तु कलियुगमें ऐसे व्यक्तियोंकी भरमार है। इसीसे जो लोग अपने ईमान और सचाईकी रक्षा करना चाहते हैं, अपने अन्तःकरणको शुद्ध रखना चाहते हैं; वे थोड़े-से-थोड़ा व्यापार करते हैं अथवा उससे बिल्कुल अलग होकर भजन करने लग जाते हैं। भजन ही सर्वस्व है, भजन ही जीवन है। भजनके आनन्दके सामने त्रिलोकी तुच्छ है।'

दोनों ही चाचा और भतीजे व्रजमें रहकर भजन करने लगे। सत्सङ्ग करते, लीला देखते, जप करते, ध्यान करते और व्रजकी रजमें लोटते। दोनों अलग-अलग विचरण करते, अलग-अलग भिक्षा करते और रातको दूर-दूर रहते। कुछ दिनोंके

बाद तो सत्सङ्ग करते-करते उनकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो गयी कि एक को दूसरेकी याद ही नहीं रहती। कोई कहीं रहकर भजन कर रहा है, तो कोई कहीं। दोनों मस्त थे।

एक दिन बड़ी विचित्र घटना घटित हो गयी। सेठजी जप कर रहे थे। उनके मनमें बार-बार खीर खानेकी इच्छा होने लगी। एक तो यों ही मनुष्यकी इच्छाएँ उसके साथ जुड़ जाती हैं; दूसरे भजनके समयकी इच्छा तो कल्पवृक्षके नीचे बैठकर की हुई इच्छाके समान है। भगवान् अपने भक्तकी प्रत्येक इच्छा उचित समझकर पूर्ण करते हैं। थोड़ी-सी ही देरमें एक बारह वर्षकी सीधी-सादी लड़की वहाँ आयी और सेठजीके सामने दूध, चावल और चीनी रख गयी। सेठजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध तो हुए परन्तु उनकी खीर खानेकी इच्छा अभी मिटी नहीं थी। उन्होंने आग जलाकर खीर पकाना शुरू किया। अब उनके मनमें भतीजेकी याद आने लगी। वे सोचने लगे कि यदि वह भी आ जाता तो उसे भी खीर मिल जाती। चाचाके स्मरणका भाव भतीजेके चित्तपर पड़ा और वह अपने स्थानसे चलकर सेठजीके पास पहुँचा।

भतीजेकी स्थिति बहुत ऊँची थी। उसमें आत्मबल था। तभी तो वह एक ही दिनमें अपनी सारी सम्पत्ति छोड़ सका था। खीरकी तैयारी देखकर उसने चाचाजीसे सब बात पूछी और उदास हो गया। उसने कहा—'चाचाजी, यदि खीर ही खानी थी, तो घर क्यों छोड़ा? वहीं रहकर जो कुछ बनता भजन करते, दूसरोंको खीर-पूड़ी खिलाते और खुद भी खाते। जिसको छोड़ दिया उसकी फिर क्या इच्छा? जिसको उगल दिया, उसको फिर खाना—यह तो कुत्तोंका काम है। चाचाजी, आपने सनातन गोस्वामीकी बात तो सुनी होगी। इतने विरक्त

थे वे कि अपने ठाकुरको भी बाजरेकी सूखी रोटी खिलाते थे। एक दिन ठाकुरजीने उनसे कहा—'भाई! कम-से-कम नमक तो खिलाया करो। सूखी रोटी मेरे मुँहमें गड़ती है।' भगवान्‌की यह बात सुनकर श्रीसनातन गोस्वामीको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—'मेरे चित्तमें स्वादकी वासना होगी, तभी तुम ऐसा कह रहे हो। अन्यथा तुम्हें नमकको क्या आवश्यकता है?' सनातन गोस्वामीजीकी बात स्मरण करके हमें तो अपनी दशापर बड़ा दुःख हो रहा है। अभी भोगोंकी आसक्ति हमारे चित्तसे मिटी नहीं। इसीसे तरह-तरहके बहाने बनाकर और प्रत्यक्ष भी हम भोग चाहते हैं। न जाने भगवान्‌की क्या इच्छा है!' भतीजा बोल रहा था और सेठजीकी आँखोंसे आँसू गिर रहे थे। 'यह भी भगवत्कृपा ही होगी' इतना कहकर वह ध्यानमग्न हो गया।

थोड़ी ही देरमें वही लड़की जो खीरका सामान दे गयी थी, आयी। वह कहने लगी—'बाबा, तुम रोते क्यों हो? अबतक तुमने खीर भी नहीं खायी है? ऐसा क्यों? क्या मेरा कोई अपराध था?' उस लड़कीकी मधुर वाणी सुनकर दोनोंने आँखें खोलीं, तो वह लड़की साधारण नहीं, ज्योतिर्मयी साक्षात् श्रीजी थीं। दोनोंने साष्टांग दण्डवत् करते-न-करते सुना कि श्रीजी कह रही हैं—'यह सब मेरी ही लीला थी। यह व्रजभूमि मेरी भूमि है। यहाँ रहकर तुम करने-न-करनेका अभिमान छोड़ दो। तुम कुछ करते नहीं, कर सकते नहीं। सब मैं करती हूँ। जबतक तुम अपनेको एक भी क्रिया या सङ्कल्पका कर्ता मानोगे, तबतक तुम्हें दुःख होगा। जैसे मैं रखूँ वैसे रहो। जो कराती हूँ वैसे करो। तुम मेरे हो।'

दण्डवत् करके जब इन दोनोंने आँखें खोलीं, तब वहाँसे श्रीजी अन्तर्धान हो चुकी थीं। वे जीवनभर मस्त देखे गये। ●

स्वप्नकी स्मृति

प्रायः लोग स्वप्नोंको भूल जाया करते हैं। बुरे स्वप्न तो जगनेपर भी कुछ समयतक याद रहते हैं परन्तु अच्छे स्वप्न शीघ्र ही विस्मृतिकी गोदमें सो जाते हैं। स्वप्नकी तो बात ही क्या, जाग्रत्‌की भी अधिकांश बातें भूल ही जाती हैं। रह जाता है कुछ तो केवल राग-द्वेषका संस्कार। उसमें भी रागकी अपेक्षा द्वेषका अधिक। परन्तु मैंने बहुत पहले एक स्वप्न देखा था। वह स्वप्न था जीवनके आदर्शका स्वप्न। यदि मैं उसे अपने जीवनमें उतार पाता! परन्तु अबतक तो नहीं उतार पाया। उसके लिए जैसी चेष्टा होनी चाहिए थी वैसी चेष्टा भी नहीं हुई। फिर भी मैं उसे भूला नहीं हूँ। वह मेरी स्मृतिमें वैसे ही नया है। यदि मेरा जीवन उसके अनुसार बन गया होता तो आज यह लिखनेका अवसर ही न आता। मैं अपने प्राणनाथ, अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुरतम स्मृतिमें तल्लीन होता। परन्तु मेरी लगनका अभाव और मेरी शिथिलता मेरे पीछे लगी है। क्या करूँ? बैठे-बैठे उस स्वप्नकी याद करूँ! वह स्वप्न! हाँ, स्वप्न अत्यन्त मधुर है। उसकी स्मृति इस भजनहीन जाग्रत्‌की अपेक्षा तो बहुत ही सुन्दर है।

मैंने स्वप्न देखा था—एक ओरसे धीरे-धीरे गम्भीर यमुना बिना शब्द किये चुप-चाप आ रही हैं। दूसरी ओरसे भगवती भागीरथी बड़े वेगसे हर-हर करती आ रही हैं। दोनोंके बीचमें बड़ा ही सुन्दर एक बरगदका वृक्ष है। उसके नीचे भगवान्

शिवकी कपूरके समान श्वेतवर्णकी मूर्ति है। मैंने उन्हें श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम किया। मैं उस समय पन्द्रह या सोलह वर्षका लड़का था। वासनाएँ अधिक नहीं हुई थीं। मैं क्या बनूँ? किस प्रकार आगेका जीवन बिताऊँ? यही प्रश्न उस समय मनमें उठा। मैं सच्चे हृदयसे भगवान् शंकरकी प्रार्थना करने लगा। मेरे मनमें न छल था, न कपट था और न दम्भ था। मेरा अन्तस्तल प्रेमसे उमड़ पड़ा। आँखोंसे आँसू गिरने लगे। मैंने कहा—'भगवन्! मुझे मार्ग बताओ।' मेरी प्रार्थना सुनी गयी। उत्तर मिला—'यहाँ तीन नदियाँ बह रही हैं। किसी एकका किनारा पकड़कर ऊपरकी ओर बढ़ो। जिधरसे जल आ रहा है, उधर बढ़नेपर तुम्हें मार्गदर्शक मिल जायेंगे।' मैंने सोचा—यहाँ दो ही नदियाँ बहती हैं। तीसरी कौन है? नीले जलकी यमुना, मटमैले जलकी गंगा और तीसरीका जल कैसा है? उसी समय मुझे अत्यन्त सूक्ष्म प्रणवकी ध्वनि सुनायी पड़ी। झीने-से, रूपरहित-से जलका अनुभव हुआ। मानो इडा-पिङ्गलाके बीचमें ज्ञानकी धारा सुषुम्ना ही प्रवाहित हो। मुझे स्मृति हो आयी—यह जो सरस्वती है। इसीके किनारेसे क्यों न चले जाँय? ठीक तो है। बस, मैं चल पड़ा।

बड़ा सुन्दर मार्ग था। स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे कमल थे। हंस, परमहंस, सारस आदि विहंग विहार कर रहे थे। तरंगें उठती थीं, परन्तु दीखती न थीं। अमृतकी धारा थी, आनन्दका तट था। न सूर्य थे, न चन्द्रमा। मधुमयी रश्मियाँ छिटक रही थीं। कहाँसे आ रही थीं, मुझे पता नहीं। बड़ा ही सुन्दर स्फटिकका मार्ग था। केसरकी क्यारियाँ दोनों ओर सजायी हुई थीं। कहीं-कहीं धारा बड़ी सूक्ष्म, बड़ी ही पतली हो जाती थी। परन्तु मैं चला जा रहा था, सीधे मार्गपर।

भगवान् शिवपर मेरा पूरा विश्वास था। कोई शंका नहीं थी। मैंने देखा—एक सज्जन मुझसे आगे जा रहे हैं। मोटे-से, छोटे-से, सरल, हँसमुख, आनन्दकी मूर्ति और फुर्तीले। उनके साथ एक लड़का भी है। गोरा-सा, छरहरा-सा, प्रसन्न और अनुगत। मैंने सोचा कि ये मेरे मार्गदर्शक तो नहीं हैं? परन्तु जब ये इसी मार्गसे जा रहे हैं तब पीछे-पीछे चलनेमें क्या आपत्ति है? मैं उनके पाससे ही चलने लगा। लड़केने पूछा—'भगवन्, वृन्दावन अभी कितनी दूर है?' उन्होंने कहा—'यहाँसे अधिक दूर है? हमारे मनमें जितनी उत्सुकता होगी उतना ही शीघ्र हम वहाँ पहुँच सकेंगे। वहाँका मार्ग प्रेमका, लगनका है, पैरोंसे वहाँ कोई नहीं पहुँच सकता। जब ऐसे वृक्ष मार्गमें पड़ने लगें, जिनका मुँह नीचेकी ओर हो तब समझना कि वृन्दावन पास ही है।'

उस लड़केने पूछा—'भगवन्! वृन्दावनके वृक्षोंका मुँह नीचेकी ओर क्यों रहता है?' उन्होंने कहा—'भाई! वहाँके वृक्ष साधारण वृक्ष थोड़े ही हैं। वे परम प्रेमी हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और देवता हजारों वर्ष तपस्या करके श्रीकृष्णकी कृपासे वृन्दावनके वृक्ष होते हैं। उनके नीचे भगवान् खेलते हैं, लीला करते हैं, उन्हींको देखनेके लिए वे अपना मुँह नीचे किये रहते हैं। उनके एक-एक पत्ते उनकी आँखें हैं। वे अतृप्त नयनोंसे उनकी लीलाका रस लिया करते हैं। श्रीकृष्णकी लीला बड़ी मधुर है, मधुमय है। बिना उनकी कृपाके उसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। चलो, आज तो तुम्हें चलना ही है।' दोनों आगे बढ़ने लगे। मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

कुछ क्षणोंके बाद पुनः उस लड़केने पूछा—'भगवन्! आपने कौन-सी साधनाकी जिससे भगवान्की लीलामें आपका प्रवेश

हुआ ? कृपया आप इस विषयका अनुभव सुनाते चलें तो बड़ा अच्छा हो। भगवान्‌की चर्चा भी होती चले, मार्ग भी कटता चले।' उन्होंने कहा—'भाई! मेरा अनुभव ही क्या है? मैंने साधना ही क्या की है? मेरा कुछ अनुभव है भी तो केवल कृपाका है, केवल कृपासे है। वास्तवमें सम्पूर्ण जीवोंपर, समग्र जगत्‌पर भगवान्‌की अनन्त और अपार कृपाकी अगाध धारा बरस रही है। सब डूब-उतरा रहे हैं कृपाके महान् पारावारमें। परन्तु इसका अनुभव भी कृपासे ही होता है। मेरा जीवन क्या है? तुम्हारा जीवन क्या है? सबका जीवन क्या है? उन्हींकी कृपाका एक कण। कृपा नहीं! सम्पूर्ण कृपा। तब मेरी साधना क्या है? उन्हींकी कृपाका दर्शन। मैंने किस प्रकार उनकी कृपाका दर्शन किया है, यदि तुम यह सुनना ही चाहते हो तो लो, सुनो। परन्तु स्मरण रहे, यह सब उनकी कृपा है, मैं या मेरा कुछ नहीं है।

मेरे एक मित्र थे—बड़े श्रद्धालु, बड़े विश्वासी। वे प्रतिदिन सत्संगमें जाते, उपदेश सुनते, भगवान्‌का भजन करते। मुझमें न श्रद्धा थी, न विश्वास था और न तो मैं भजन ही करता था। वे मुझे बहुत समझाते। कहते कि 'देखा, भक्तोंमें कितनी शान्ति है? संसारके लोग बहुत-से साधन और सामग्रियोंके पास रहनेपर भी दुःखी हैं, अशान्त हैं, उद्विग्न हैं। परन्तु सन्त बिना परिश्रमके भी सुखी हैं, शान्त हैं, आनन्दित हैं। उन्हें क्रोध नहीं आता, शोक नहीं होता। वे किसीसे भयभीत नहीं होते। उनसे किसीका अनिष्ट नहीं होता। उनके हृदयमें कभी जलन नहीं होती। पारमार्थिक आनन्दको यदि न मानें तो भी उन्हें कितनी शान्ति है? चलकर देखो तो सही?' मैं उनके साथ सत्संगमें जाने लगा।

सन्तोंपर मेरे मित्रकी स्वाभाविक श्रद्धा थी। परन्तु मेरे

हृदयमें वह बात न थी। मैं कई बार उनमें दोष भी देखता। बीचमें दो-चार दिन जाना छोड़ भी देता। फिर भी उनमें मुझे कोई घसीट ले जाता। श्रद्धाके डावाँडोल रहनेपर भी उनके पास जाना ही पड़ता। पता नहीं क्या आकर्षण था? देखादेखी कुछ नाम भी मुँहसे निकल जाते। एक दिन मैंने एक सन्तसे अपनी अश्रद्धाकी बात कह दी। प्रार्थना की कि 'भगवन्! कम-से-कम मेरी अश्रद्धा तो दूर कर दीजिये।' वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—'कुछ भजन करो, भगवान्की कृपासे सब हो जायगा।' मैं राम-राम करता हुआ घर लौटा।

'मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि वे सन्त मेरे साथ हैं। जब मनमें अश्रद्धाके भाव उठते तो सामने ही चार-पाँच हाथकी दूरी पर जमीनसे कुछ ऊपर हँसते हुए-से वे दिख जाते थे। कभी मनमें पाप-प्रवृत्ति होती तो ऐसा जान पड़ता कि मेरे सिरपर, गालोंपर तड़ातड़ चपत लगा रहे हैं। पापकर्मकी ओर चलता तो वे आकर सामने खड़े हो जाते, कोई-न-कोई रोकनेवाला निमित्त अवश्य आजाता। मेरे मनमें श्रद्धाका संचार हो गया। क्रियात्मक पाप तो सर्वथा छूट ही गये। मैं नाम-जप करने लगा। उस समय मनमें बड़ा उत्साह था। जैसे बुद्धिमान् और अध्ययनशील विद्यार्थी सोचता है कि अब सम्पूर्ण शास्त्रोंको मैं समाप्त कर डालूँगा, वैसे ही मैं भी सोचता कि एक-न-एक दिन मैं समस्त सीढ़ियोंको पार करके भगवान्के पास पहुँच जाऊँगा। मार्ग चाहे जितना लम्बा हो, मैं अवश्य—अवश्य अन्त करके छोड़ूँगा। मैं साहस, उत्साह, उद्यम और शक्तिके साथ अपने मार्गपर चलने लगा।

'इस (उत्साहमयी) अवस्थाके बाद मुझे उन सन्तके दर्शन कम होने लगे। वे रहते तो मेरे पास ही थे, परन्तु न जाने क्यों

विषयोंसे युद्ध करते समय अब पहलेकी भाँति वे नहीं दिखते थे। शायद इसलिए कि मैं विषयोंसे लड़कर अपनी शक्तियोंका विकास करूँ, उन्हें जानूँ और उनका विस्तार करूँ। शायद इसलिए कि मैं असहाय अवस्थामें भगवान्की कृपा, सहायता और शक्तिका अनुभव करूँ। बात चाहे जो रही हो, अब वे प्रकट रूपसे मेरी सहायता नहीं करते थे। कभी-कभी भगवान्के स्मरणसे मेरी वृत्तियाँ घनी हो जातीं, कभी विषयोंके स्मरणसे तरल, शिथिल और कमजोर। इस प्रकारकी कुछ दिनोंतक मेरी यही (घनतरला) अवस्था रही।

'विषयोंके सामने आनेपर मन खिचने-सा लगता। मैं दूसरी ओर लगाना चाहता तो भी नहीं लगता। मैंने सोचा–विषयोंका सामने आना ही सबसे बड़ा रोग है। यदि ऐसे स्थानमें रहूँ, जहाँ ये संसारके सुन्दर-सुन्दर विषय पहुँच ही न पावें तो फिर इनसे खिचनेका प्रश्न हल हो जाय। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।' परन्तु दूसरे ही क्षण दूसरे प्रकारके विचार मनमें आते। सोचने लगता–'घर-द्वार छोड़कर वनमें गया और यदि वहाँ भी भोजन-वस्त्रकी चिन्ता सताने लगी तो क्या होगा ? यदि भजन ही करना है तो यहीं क्यों न किया जाय ? इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प उठते। इस चञ्चल (व्यूढ-विकल्पा) मनोवृत्तिसे घबड़ाकर मैंने उन सन्तकी शरण ली। उन्होंने कहा– 'अभी तुम संन्यासके अधिकारी नहीं हो। विषयोंके वश हो जानेवाला या उनसे युद्ध करनेवाला संन्यासमार्गमें प्रवेश करने योग्य नहीं है। जिसने विषयोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर ली है, वही संन्यासकी ओर कदम बढ़ा सकता है। तुम भजनके लिए अलग एक स्थान बना लो। भजन करो, विषयोंपर विजय प्राप्त करो।' मैं एकान्तके एक कमरेमें भजन करने लगा।

'विषयोंके साथ संग्राम करनेका अवसर तो अब आया। जब एकान्तमें बैठता तब नाना प्रकारके विषय आकर सामने नाचने लगते। उनके भोगोंकी कल्पना होती। भोग करनेके अनेक बहाने सूझते—कभी-कभी तो मेरा मन उनके प्रवाहमें बह जाता। मैं प्रातःकालसे ही उनको दूर करनेके लिए सचेष्ट रहता। निद्रा टूटते ही भगवान्‌से प्रार्थना करता और आर्त स्वरसे स्तुति करता। बहुत-से दिन ऐसे भी आते, जब विषयोंका चिन्तन कम, भगवान्‌का स्मरण अधिक होता। किसी-किसी दिन विक्षेप बिलकुल नहीं रहता। परन्तु सब दिन एक सरीखे नहीं बीतते थे। कभी मेरी जीत और कभी विषयाभिमुख मनकी जीत। इस प्रकार यह (विषयसंगरा) मनोवृत्ति कुछ दिनोंके लिए चलती रही। मैं इस विषम परिस्थितिको हटानेके लिए रो-रोकर भगवान्‌से कहा करता था।

'भगवान् बड़े दयालु हैं। उन्हें कोई सच्चे हृदयसे पुकारे और वे न सुनें, ऐसा न कभी हुआ है और न तो कभी हो ही सकता है। उन्होंने मेरे अन्दर शक्तिका, बलका सञ्चार कर दिया। मेरा मन मेरे अधीन जान पड़ने लगा। दोषोंकी ओरसे स्वभावतः उदासीन हो गया। दोषों या विषयोंके चिन्तनका निमित्त उपस्थित होनेपर उनकी ओरसे विमुख हो जाता। परन्तु अब भी मेरे अन्दर एक बहुत बड़ा दोष था। मैं नियम तो बहुत-से बनाता परन्तु उनका पालन ठीक न होता। प्रति-दिन एक लाख नामजप करनेका नियम बनाया। परन्तु कभी-कभी पूरा होनेमें कुछ कसर रह जाती। दो घंटे ध्यानका निश्चय किया, फिर भी उतने समयतक ध्यान न कर सका। करता भगवान्‌का ही काम; परन्तु ध्यानके समय जप, जपके समय स्वाध्याय और स्वाध्यायके समय पूजा। इस प्रकार नियमोंके

पालनमें मेरी मनोवृत्तियाँ असमर्थ रहने लगीं। मैं प्रार्थना करता—हे प्रभो! इस (नियमाक्षमा) वृत्तिको नष्ट कर दो। निश्चय करता कि आजसे ऐसा न होने दूँगा। परन्तु हो ही जाता। भगवान्‌की अपार कृपासे कुछ दिनोंमें नियमोंका पालन भी होने लग गया।

'जब भगवान्‌की कृपासे भजन होने लगा तब मेरे सामने प्रलोभनकी भीड़ लग गयी। संसारकी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ मेरे पास आने लगीं। कोई मेरे सामने रुपये रख जाता; कोई माला-फूल आदिसे, चन्दनसे पूजा करने आता, कोई स्तुति, प्रसंसा करता और घूम-घूमकर मेरी महिमा गाता। कभी-कभी मनको ये सब अच्छे भी लगते। पहले कोई गाली देता, निन्दा करता था तो उस ओर दृष्टि ही नहीं जाती थी। अब उसका ख्याल होने लगता था। किसीसे कहता नहीं था तो केवल इसलिए कि जब इतने लोग मेरी महिमा गाते हैं तो एक-दो की की हुई निन्दाका क्या मूल्य है? परन्तु मैं सचेत हो गया। बहुत दिनोंतक उन तरंगोंमें नहीं बहा। मैंने बाह्य जगत्‌से आँखें बन्द कर लीं, उस स्थानसे हट गया।'

'अब मुझे देवताओंके दर्शन होने लगे। कोई आकर कहता 'चलो तुम्हें स्वर्गका उत्तम सुख प्राप्त होगा।' कोई कहता—'तुम्हें ब्रह्मलोक मिलेगा। उससे उत्तम कोई लोक नहीं। महाप्रलयपर्यन्त सुख भोगना फिर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाना।' कोई कहता—'मैं तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करता हूँ। तुम अभी कैवल्यमुक्ति प्राप्त कर लो, अभी जीवन्मुक्त हो जाओगे।' मेरे मनमें मुक्तिका महत्त्व आता, ब्रह्मलोकका महत्त्व आता और कभी-कभी सोचता कि क्यों न इसे स्वीकार कर लिया जाय। अपरिमित कालतक ब्रह्मलोकका सुख और फिर मुक्ति।

इससे बढ़कर और क्या होगा ? इस (तरङ्गरङ्गिणी) मनोवृत्तिमें मैं बहते-वहते बचा ।

'वात यह थी कि मेरे भजनका नियम पूर्ववत् चल रहा था। कभी एक दिनके लिए भी उसमें किसी प्रकारका व्यवधान नहीं पड़ा। जब मेरी मनोवृत्ति ब्रह्मलोक या मुक्तिकी ओर झुकती तव मुझे ऐसा मालूम होता, मानो नन्हें-से श्रीकृष्ण मेरे कन्धोंपर वैठकर मेरे बाल खींच रहे हैं, मेरे गालोंपर चपत लगा रहे हैं। कभी ऐसा जान पड़ता कि वे मेरी गोदमें वैठे हुए हैं और रो-रोकर कह रहे हैं कि तुम मुझे छोड़कर ब्रह्मलोक या मुक्ति क्यों चाहते हो ? मैं उनका कोमल स्पर्श अनुभव करता। उनके मुखकी विवर्णताका अनुभव करता ! उनकी आँखोंमें जब मैं आँसू देखता तो मेरा कलेजा फटने लगता। मेरा हृदय हहर उठता, विहर उठता, सिहर उठता। मैं प्यारसे उन्हें अपने हृदयसे सटा लेता और कहता—'प्यारे कृष्ण ! मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। मैं तुम्हारा प्यार करूँगा, दुलार करूँगा। तुम्हारे लिए मरूँगा, तुम्हारे लिए जीऊँगा। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं।' वे मुस्कराकर मेरे हृदयसे चिपक जाते और कहते—'हाँ, मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा। अपने पास रखूँगा। तुमसे खेलूँगा, तुमसे हँसूँगा, तुमसे वोलूँगा।' मैं अपने प्राणप्यारे कन्हैयाकी बात, वह तोतली बोली सुनकर निहाल हो जाता। मैं एक-दो मुक्ति नहीं, अनन्त मुक्तियोंको उनके चरणोंपर न्यौछावर कर देता।

'मैं चलते-फिरते, उठते-बैठते सर्वत्र सर्वदा उनकी सन्निधिका अनुभव करता। जो वस्तु मेरे सामने आती उसीके हृदयमें वैठे हुए वे दीख जाते। उसके हृदयमें ही नहीं, ऐसा जान पड़ता कि उसका रूप बनाकर भी वही आये हैं। किसीसे

मिलनेमें, किसी भी परिस्थितिका सामना करनेमें मुझे झिझक नहीं होती थी। झिझक तो तब होती जब वहाँ श्रीकृष्ण नहीं होते। श्रीकृष्णसे क्या संकोच? मैं हर जगह, हर हालतमें उनकी अनूप रूपमाधुरीका पान करके मस्त रहता। कभी वे बाँसुरी बजाते और मैं नाचता। कभी मैं ताली बजाता और वे ठुमुक-ठुमुककर नाचते। कभी पीछेसे आकर मेरी आँखें बन्द कर लेते। कभी वे छिप जाते, मैं ढूँढ़ते-ढूँढ़ते खेलकी बात भूल जाता और उन्हें सचमुच अपनेसे अलग मानकर, पानेके लिए छटपटाने लगता, रोने लगता, तब वे हँसते हुए मेरे पास आ जाते।'

उन्होंने उस लड़केसे कहा—'वास्तवमें भगवान् हमारे साथ आँखमिचौनी खेल रहे हैं। वे कहीं गये थोड़े ही हैं। यहीं कहीं छिपे होंगे। बहुरूपिये हैं न, देखो कैसे-कैसे रूप बनाकर हमें छका रहे हैं। मैं जानता हूँ उनका छलछन्द। मैं पहचानता हूँ उनके सब रूपोंको। मुझसे छिपकर वे कहाँ जायेंगे? जो लोग इस क्रीड़ाका, खेलका, रमणका रहस्य नहीं जानते, वे इन वस्तुओंको उनसे भिन्न समझकर भटका करते हैं, अथवा उनके लिए रोया करते हैं। जो रोते हैं वे पा जाते हैं, जो नहीं रोते वे भटकते हैं। पानेवाले क्रीड़ाका रहस्य भी जान जाते हैं। देखो उस अजब खिलाड़ीका खेल! खुद ही खेल, खुद ही खिलाड़ी और देखनेवाला भी अपने आप ही। यही तो उसकी लीला है।

'हाँ, तो अब वृन्दावन आ गया। चलो तुम, भगवान्‌की लीला देखो। हम लोगोंके पीछे एक और बालक आ रहा है। अब वह इससे आगे नहीं जा सकता। ठहरो, उसे समझाकर लौटा दें तब आगे चलें। यह सब बातें मैंने उसीके लिए कही

है। वह यदि इनके अनुसार अपना जीवन बना सकेगा तो उसका भी भगवान्‌की लीलामें प्रवेश हो सकेगा।'

वे दोनों ठहर गये। मैं पास चला गया। उन्होंने मुझसे कहा—'भैया, यह भगवान्‌का लीला-लोक है। यहाँ सबका प्रवेश नहीं है। जो लोग स्थूल शरीरमें आसक्त हैं, जिनका मन कलुषित है, जिनके हृदयमें प्रेमभक्ति नहीं है, वे यहाँ नहीं आ सकते। यहाँ केवल वे ही आ सकते हैं, जिन्होंने कलुषित मन और कलुषित शरीरका चोला त्याग दिया है। इसका उपाय है—भजन, एकमात्र भजन। जाओ, प्रेमसे भजन करो और प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ो।'

मैं कुछ और कहनेवाला था। परन्तु उसी समय आरती-की घण्टी बज उठी। मेरी नींद टूट गयी और मैंने देखा कि पाँच बजनेमें अब कुछ ही देर है। वह एक स्वप्न था। मेरे भविष्य जीवनके लिए एक आदेश था। उसीपर मेरी सफलता निर्भर करती थी। परन्तु मैंने कुछ न किया। अपने सिरपरसे दोषोंकी गठरी न उतारी। आज भी मुझे वह स्वप्न याद है, और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरा वह स्वप्न इस जाग्रत्-की अपेक्षा बहुत अच्छा था। यदि मैं जीवनभर यह स्वप्न ही देखता रहता। परन्तु मेरा भाग्य इतना अच्छा कहाँ? यदि उस स्वप्नकी स्मृति बनी रहे तो भी बड़ा सुख हो। क्या ऐसा हो सकेगा? हाँ! स्वप्नकी स्मृति, स्वप्नके पदार्थोंकी स्मृति? ना, ना, श्रीकृष्णकी स्मृति!

•

•••

भक्तोंके दस भाव

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थ-प्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥ (शां० भ० सू० ४४)

स्नान-सन्ध्याके पश्चात् अपनी कुटीरके किवाड़ बन्द करके अकेले ही बैठा हुआ था। पहले तो चेष्टा यही थी कि संसारकी बातें मनमें न आयें, केवल भगवान्‌का ही स्मरण हो। परन्तु मनीराम कब मानने लगे। इन्होंने अपनी उछल-कूद शुरू की। बिना मतलबकी, व्यर्थकी बातें दिमागमें आने लगीं। फिर शाण्डिल्यका उपर्युक्त सूत्र याद आया और उसीपर कुछ विचार करने लगा। मनकी दौड़ती हुई वृत्तियोंके साथ उसका कुछ मेल था, ऐसा जान पड़ता है। इसी कारण मेरा मन तदनुरूप बदलता गया। मनके साथ वे दृश्य भी बदल रहे हैं। इसीसे बाहरी बातें भूलती गयीं और मैं अधिकाधिक उन दृश्योंके साथ तल्लीन होता गया। मैं मानो एक दूसरे लोकमें चला गया। वहाँ जो कुछ देखा उसकी एक धुँधली स्मृति अब भी है। वह है तो स्वप्नकी ही भाँति परन्तु जाग्रत्‌की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। यदि उस लोकमें मुझे अनन्त-कालतक रहना पड़े तो भी मैं अतृप्त ही रहूँ। हाँ! तो उसके एक अस्पष्ट छायाचित्रके दर्शनकी पुनः चेष्टा की जाय।

हाँ तो भगवान्‌का सम्मान कैसे किया जाय? अपनेको

शिष्टाचारका तो कुछ पता नहीं। जिनके घर भगवान् आते हों वे ही सम्मानका रहस्य समझ सकते हैं। तब हमें सम्मानकी क्या पड़ी है? सम्भव है कभी आजायँ। अजी! वे हमारे-जैसे पामरके घर क्यों आने लगे? नहीं-नहीं वे बड़े दयालु हैं। कभी आ सकते हैं, अवश्य आयेंगे। शायद आते भी हों। तब सम्मान करना सीखना चाहिए, न जाने किस रूपमें वे आ जायँ? फिर सीखें किससे? अर्जुन. हाँ अर्जुनसे तो सम्मानका पाठ पढ़ा जा सकता है। वह सर्वदा उनके साथ ही रहते हैं। दो घड़ीके लिए कोई आजाय तब तो शिष्टाचारका निर्वाह किया जा सकता है। बहुत दिनोंतक एक साथ रहनेसे अनादर होने लगता है, परन्तु अर्जुनने साथ रहकर भी सम्मानमें त्रुटि नहीं की। अन्तमें क्षमा भी माँगी कि कहीं अनजानमें अपराध न बन गया हो। अर्जुन अपने महलमें बैठे हों, किसी काममें तल्लीन हों, जहाँ मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, बस फिर क्या था? उठ पड़े। अरे यह क्या? उनकी आगवानी करनेके लिए झपटे जा रहे हैं। बस, फिर कितनी प्रसन्नता है, कितना उल्लास है, रोम-रोम खिल उठा है। अच्छा, चरणोमें गिरते-गिरते भगवान्‌ने हृदयसे लगा लिया। अहा, कितना आनन्द है। परन्तु अर्जुन तो संकोचसे अपने आपमें ही सिकुड़े जा रहे हैं। अनन्तः चरणस्पर्श कर ही लिया। अञ्जलि बाँधकर बगलसे कितनी नम्रताके साथ लिवाये जा रहे हैं। सोनेकी चौकोपर बैठाकर पैर धो रहे हैं। अहा! भगवान्‌के लाल-लाल सुकुमार तलवे कितने सुन्दर हैं? अपनी ही अँगोछीसे पोंछ रहे हैं। चेहरेपर प्रेमकी मस्ती झलक रही है। रत्नजटित सिंहासनपर बैठाकर जलपान, इलायची आदिका प्रबन्ध कर रहे हैं। एक ओर खड़े होकर चवँर डुला रहे हैं। उनके रोम-

रोम आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े हैं! उनका हृदय भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर पिघला जा रहा है। आँखें एकटक चरणों-पर लगी हैं। अर्जुन! धन्य हो। तुम्हारा भगवत्प्रेम धन्य है।

उहँ! मन न जाने कहाँ-से-कहाँ चला आया। भगवान्‌का सम्मान तो वे ही लोग कर सकते हैं, जिन भाग्यवानोंपर कृपा करके उन्होंने अपनेको प्रकट कर दिया है; जो उनकी अनप रूपमाधुरीके रसिक हैं या जो उनके मधुर स्पर्शके अनुभवसे कृतकृत्य होते रहते हैं। हम उनका सम्मान क्या कर सकते हैं? पर ऐसे भक्त भी कई हैं, जो भगवान्‌के सामने न रहनेपर भी उनका सम्मान करते रहते हैं। हाँ, भक्तराज इक्ष्वाकु! इक्ष्वाकु तो भगवान्‌के बहुमानमें ही मग्न रहते थे। उनका हृदय कितना शुद्ध था! अहा! सड़कसे टहलते हुए जा रहे हैं। परन्तु उनकी आँखें सुदूर चरते हुए एक काले हिरनपर लगी हैं। यह कृष्णसागर है। अहा! कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कितना मधुर नाम है! मेरे कृष्ण! आओ, आओ, एक बार प्रेमभरी चितवनसे मेरी ओर देखकर धीरेसे मुस्करा दो। कहाँ, तालाबमें पानी पीने जा रहे हो? नहीं, मेरे हाथसे पानी पी लो। न मानोगे? अच्छा, चलो तुम्हारे साथ मैं भी चलूँ। आह! कितना सुन्दर तालाब है। कमल खिले हुए हैं। कमल, कमल, आह! कमल-नयन! प्रभो! कहाँ छिपे हो! आकाश, आकाशमें हो? अवश्य तुम्हारा साँवरा सलोना शरीर नीले आकाशमें चमक रहा है। अरे, क्या तुम प्रकट हो गये? मेघश्याम! इसे मेघ कौन कहता है? तुम आकाशमें प्रकट होकर ललचा रहे हो। आओ, मेरे पास आ जाओ। मेरा गला रुँधा जा रहा है। अब चेतना नष्ट-सी हो रही है। श्यामसुन्दर! प्राणवल्लभ! हा नाथ!

भक्तराज इक्ष्वाकु जमीनपर क्या गिरे, मैं ही उस लोकसे गिर गया। ऐसा सौभाग्य किसका है? इस प्रकार भगवान्‌का सर्वत्र सम्मान कौन कर सकता है? नामदेव सरीखे बिरले ही महात्मा होते हैं, जो रोटी ले जानेवाले कुत्तेको भी भगवान् समझकर उन्हें घी खिलाने दौड़ पड़ते हैं। अरे, महाप्रभु चैतन्य-देव तो समुद्रकी नीलिमा देखकर अपने नीलोज्ज्वलप्रकाश श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें इस प्रकार तन्मय हो गये कि कूद ही पड़े। उनके हृदयमें कितनी प्रीति थी! हाँ, प्रीति। बिना प्रीतिके ऐसे भाव नहीं हो सकते। तब प्रीतिकी राजधानीमें कैसे प्रवेश हो? बड़ी जटिल समस्या है। विदुरकी प्रीति, हाँ, विदुरकी प्रीति तो अपूर्व ही है। विदुरानी स्नान कर रही थीं। एक साड़ी शरीरमें लपेटकर आ गयीं। एक मामूली-सा आसन रख दिया। अर्घ्य-पाद्य, स्वागत-सत्कार और पैर धोना तो भूल ही गयीं। लगीं केले खिलाने। उनकी आँखें लग गयीं श्रीकृष्णकी सौन्दर्य-राशिमें। मन थक गया प्रेमामृतकी धारामें स्नान करके। हाँ, उनके हाथ अवश्य ही लगातार केलोंके छीलनेमें व्यस्त हो रहे हैं। श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण तो बिना देखे ही मुँहमें डालते जा रहे हैं। विदुरानी! क्या तुम पगली हो रही हो? नहीं-नहीं, पागल तो श्रीकृष्ण ही हो रहे हैं। वे विदुरानीकी प्रीतिधारामें स्वयं बहे जा रहे हैं। पता नहीं कि मैं केला खा रहा हूँ या उसके छिल्के। ठीक है, अब विदुरजी आ गये। ये अवश्य रोक देंगे। परन्तु अरे, ये, ये तो चुपचाप खड़े हैं। क्यों विदुरजी! आप मना क्यों नहीं करते? अरे, आपकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। क्यों? भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध हो गये क्या? मेरी बात सुनते भी नहीं। अच्छा? आपकी चेतना लुप्त होती जा रही है? नहीं-नहीं, गिरिये मत। मैं पकड़ लेता हूँ।

मैं विदुरजीको गिरनेसे बचाने दौड़ा, परन्तु दौड़ते ही विदुरजी लापता हो गये। कैसी प्रीति है? क्या कभी हम भी ऐसी प्रीति प्राप्त कर सकेंगे? प्रीति अर्थात् भगवान्‌के सान्निध्यमें ही तृप्ति। परन्तु उनका सान्निध्य हो कैसे? हम उनके विरहका अनुभव ही कब करते हैं? क्या हमारे हृदयमें उनके लिए सच्ची छटपटी है? ना, हमारा मन तो विषयलोलुप है। अनेक प्रकारके उसमें विकार भरे हैं। विरह, सच्चा विरह प्राप्त हो जाय तो भगवान् दूर ही क्यों रहें? विरहकी मूर्ति गोपियाँ, हाँ, गोपियोंके पाससे भगवान् जाकर भी न गये। उनके सच्चे विरहने उन्हें रोक लिया। अक्रूरने दोनों भाइयोंको रथपर बैठा लिया। माँकी हिचकी बँध रही है, परन्तु पतिदेवकी आज्ञा और कन्हैयाके हठके कारण वे बोल नहीं सकतीं। नन्दबाबा और ग्वालबाल तो साथ जानेकी तैयारीमें ही लगे हैं। तैयार होकर जानेके लिए खड़े हैं। परन्तु गोपियाँ, आह! गोपियाँ न तो जा सकती हैं और न रह ही सकती हैं। क्या करें? उनके प्राण तड़फड़ा रहे हैं। वे लोक-लाज और गुरुजनोंकी परवाह छोड़कर दौड़ी आ रही हैं। उन्हें रोकनेवाला भी तो कोई नहीं है। यदि हो भी तो कोई क्या रोक सकता है? हाँ, तो आगयीं, घोड़ोंकी बाग पकड़ ली, रथको रोक लिया, कई अनजानमें ही मूच्छित होकर सामने ही गिर पड़ीं और अब रथ नहीं चल सकता। परन्तु जब गोपियोंकी यह विरहदशा देखकर रथ नहीं चल सकता तो भला कृष्ण क्या जायँगे? यह लो देखो, गोपियोंसे कह रहे हैं—'गोपियो! तुम क्यों घबड़ा रही हो? भला मैं तुम लोगोंको छोड़कर कभी जा सकता हूँ? दुष्टोंका दमन तो मेरे अवतारका गौण प्रयोजन है। मैं तुम्हारे पास रहूँगा। मेरा एक प्रकाश मथुरा जायगा और वहाँका कार्य पूरा होगा। हाँ, श्रीकृष्ण सभी

गोपियोंके साथ अलग-अलग जा रहे हैं, उनके घरका। और अक्रूरका रथ मथुराकी ओर चला।

अरे, मैं तो रथकी घरघराहटसे घबराहटमें पड़ गया। भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं! अपने सच्चे प्रेमियोंको कभी एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ते, अपने विरहके कारण किसीको दुःखी नहीं देख सकते। परन्तु उनका विरह कैसे प्राप्त हो? हमारा काम तो अभी उनके बिना भी चल रहा है। प्रत्युत हम उनके बिना भी दूसरी वस्तुओंमें सुख मानते हैं। विरह तो तभी प्राप्त हो सकता है, जब उनके अतिरिक्त समस्त दूसरी वस्तुओंकी इच्छा न रहे। इसीका नाम इतरविचिकित्सा है। वह दिन कब होगा जब हमारे जीवनमें यह प्रतिष्ठित हो जायगी? आह! उस भाग्यवान् उपमन्युके जीवनमें कितनी निष्ठा थी! वह शंकरके दर्शनके लिए तपस्या कर रहे थे। स्वयं शंकर ही उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर संसारमें उनकी इष्टनिष्ठा प्रकट करनेके लिए इन्द्रके वेषमें ऐरावतपर सवार होकर पधारे। उन्होंने बड़ा फुसलाया, प्रलोभन दिया, परन्तु उपमन्युने बड़ी दृढ़ताके साथ कहा—'इन्द्र! मैं शंकरकी आज्ञासे कीड़ा और पतंगा होनेके लिए तैयार हूँ, परन्तु तुम्हारे दिये हुए त्रैलोक्यके राज्यको भी नहीं लेना चाहता।' कितने जोरदार शब्द हैं? बार-बार स्मरण करूँ—

'अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये॥'

शंकर भी कितने दयालु हैं! इनका नाम ही औढरदानी है। आशुतोष! शंकर! यह क्या? तुम इन्द्रसे शंकरके रूपमें प्रकट हो गये। ऐरावतसे बैल बन गया। अपने भक्तको पुचकारकर वर माँगनेकी प्रेरणा कर रहे हो। नहीं-नहीं, उपमन्यु तो तुम्हारे

चरणोंमें ही रहेगा। यह प्रलोभनमें थोड़े ही आ सकता है। उपमन्यु! आज तुमने शिवको प्राप्त कर लिया है। देखो, शिवने सर्वदाके लिए तुम्हें अपना बना लिया है। अब तुम शान्ति-सुखके साथ उनके प्रेममें छके रहो।

शंकरके प्रस्थान करते ही मैं भी इस लोकमें पहुँच आया, परन्तु उपमन्युकी निष्ठा अभी प्रत्यक्ष-सी दीख रही है। क्या कभी ऐसी दृढ़ निष्ठा हमें भी मिलेगी। अपनी ओर देखनेपर तो विश्वास नहीं होता। वे ही प्रभु कृपा करके अपना लें तो हो सकता है। उनकी कृपा अपार है, उनकी महिमा अनन्त है। हाँ, उनकी महिमा भी विलक्षण ही है। जिसे उसका चसका लग गया फिर वह उसे छोड़ ही नहीं सकता। शेषनाग हजारों मुखसे गायन करते रहते हैं, देवर्षि नारदकी वीणा उसी मधुर स्वरके आलापमें संलग्न रहती है, व्यासके निरन्तर कीर्तनका अन्त ही नहीं और शुकदेव तो निर्गुण समाधितकका त्याग करके इसीका रसास्वादन करते रहते हैं। एक ओर पापी लोग नरकमें पड़े कराहते रहते हैं, दूसरी ओर भागवतके तत्त्ववेत्ता धर्मराज उनके पास जा-जाकर उन्हें भगवान्‌की महिमा सुनाया करते हैं। जहाँ भगवान्‌की महिमाका वर्णन होता है वहाँ वे स्वयं उपस्थित रहते हैं। तब तो हमें भी उनकी महिमख्यातिमें लग जाना चाहिए! हम तो कुछ जानते नहीं, कैसे करें? जानते नहीं तो क्या हुआ? जो प्राचीन ऋषियोंने किया है, उसे ही पढ़ें, उसीका स्वाध्याय करें, जो नहीं पढ़ सकते उन्हें सुनावें। उपनिषद्, गीता, भागवत, रामायण आदि क्या हैं? भगवान्‌की महिमा ही तो हैं। तब इन्हींको पढ़ा जाय, सुना जाय।

हाँ, सुननेकी बात तो बड़ी अच्छी है। हनुमान्‌ने तो कथा-श्रवणके लिए ही अपनेको इस लोकमें रख छोड़ा है। उस समय

बड़ा करुणापूर्ण दृश्य था। भगवान् राम अपनी प्रकट लीलाका संवरण कर रहे थे। भला कौन ऐसा होगा जो उनके बिना जीवित रहना चाहेगा ? सभी पुरजन-परिजन उनके साथ जा रहे थे। हनुमान्, आह हनुमान् !! वे तो प्रभुकी इच्छाके यन्त्र ठहरे। उन्हें तो भगवान्‌की कथा चाहिए। यही एकमात्र विरहियोंका संजीवन है। उन्होंने कह दिया—'प्रभो ! मैं रहूँगा और तबतक आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिए रहूँगा, जबतक इस लोकमें आपकी लोकपावनी कीर्तिका कथा-कीर्तन होता रहेगा। कितने सुन्दर शब्द हैं—

'यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ॥'

इसीको तदर्थप्राणस्थान कहते हैं। केवल भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेके लिए और सर्वात्मना उन्हींका होकर रहनेके लिए ही जीवित रहना तदर्थप्राणस्थान है। हनुमान् ! सचमुच हनुमान् ही इसके सच्चे उदाहरण हैं।

'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।'

केवल वही हैं। क्या कभी हमारा जीवन भी ऐसा हो सकता है ? सर्वदा सन्तोंके मुखसे भगवान्‌का लीलामृत पान करके मस्त रहें। परन्तु इसके लिए निर्भरता चाहिए, सब कुछ और स्वयं मैं भगवान्‌का हूँ, इस भावपर पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। जबतक 'मैं-मेरा, तू-तेरा'का बखेड़ा लगा रहेगा, तबतक हम चिन्ताओंसे कैसे मुक्त हो सकते हैं ? बिना चिन्ताओंसे मुक्त हुए मस्तीके दर्शन कहाँ ? इसके लिए महाभारतके उस वसुकी भाँति होना होगा—

'आत्मराज्यं धनञ्चैव कलत्रं वाहनं तथा।
एतद्भागवतं सर्वमिति तत्प्रेक्षते सदा ॥'

सचमुच यह सब भगवान्‌का है ही। समर्पणका कर्तृत्व नहीं लेना है। बस, यह जान लेना है कि सब भगवान्‌का है। समर्पण केवल क्रिया ही नहीं, वास्तवमें ज्ञान है। ज्ञान बिना सच्चा समर्पण नहीं हो सकता। इस ज्ञानपर परिनिष्ठित हो जानेपर फिर और क्या करना है? भगवान्‌के स्मरणमें तन्मय रहें, सारे जगत्‌को भूल जायँ फिर तो सर्वतद्भाव स्वतः ही हो जाय। अहा! प्रह्लादका कितना ऊँचा सर्वभाव था? वे 'वासुदेवः सर्वमिति' की भावनामें सर्वदा लीन रहते थे। उन्हें भगवान्‌के अतिरिक्त और किसी वस्तुकी प्रतीति ही नहीं होती थी। पर्वत-परसे जमीनपर गिरा दिये गये। उफ, अब इनको एक-एक हड्डी चूर-चूर होनेवाली है। परन्तु प्रह्लाद तो मुस्करा रहे हैं। उनके मुँहपर जरा भी विषादकी छाया नहीं है। क्यों प्रह्लाद! तुम्हारी प्रसन्नताका क्या कारण है? यही सोच रहे हो न कि मेरे प्रभु ही दयामयी पृथिवी माँके रूपमें हैं। भला उनकी गोदीमें गिरकर मैं दुःखी हो सकता हूँ? प्रह्लाद, तुम्हारा सोचना ही ठीक है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ, वे तुम्हें गोदमें ले लेनेके लिए आँचल पसारे माँके रूपमें नीचे खड़े हैं। परन्तु तुम्हारे मनमें तो उन गिरानेवालोंके प्रति भी दुर्भाव नहीं है। अरे, तुम तो उन्हें भी भगवान्‌के रूपमें ही देख रहे हो! धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारा सर्वभाव! क्या कभी ऐसा शुभ अवसर प्राप्त होगा जब हम तुम्हारे इस सर्वभावको लेशमात्र भी पा सकेंगे? कैसे आनेकी और पानेकी आशा की जाय, हमारे मनमें तो प्रति-कूलता भरी पड़ी है। किसी भी भीषणसे भीषण रूपमें भगवान् हमारे सामने आवें और हम उन्हें पहचान जायँ तब तो हम सर्वत्र, सर्वदा, और सर्वथा उनका दर्शन कर सकेंगे। अप्रातिकूल्यभाव! सचमुच तुम्हारा सच्चा प्रकाश तो भीष्ममें ही हुआ था।

उस दिनकी बात है। भीष्मके तीखे वाणोंसे घायल होकर अर्जुन बेहोश हो गया, घोड़े गिर गये। केवल श्रीकृष्ण थे और वे शस्त्र न उठानेका प्रतिज्ञासे बँधे हुए थे। परन्तु भक्तकी प्रतिज्ञाके सामने भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा शिथिल करनी पड़ती है। वैसा ही हुआ भी। श्रीकृष्णने रथका एक पहिया उठा ही लिया। जब वे दौड़े, फिर क्या था, भीष्मका हृदय भगवान्की भक्तवत्सलताका स्मरण करके गद्‌गद हो गया, वे बोल उठे—

'आइये, प्रभो आइये! मैं इस शस्त्रधारीके वेशमें आपको देखकर नमस्कार करता हूँ। मुझे मार डालिये, वेशक मार डालिये। मैं खूब पहचानता हूँ। मृत्युके रूपमें आपको देखकर मैं भयभीत थोड़े ही हो सकता हूँ।'

हाँ, भीष्म प्रसन्नतासे मरनेके लिए आगे बढ़ रहे हैं। क्यों न बढें, प्रियतमके हाथोंकी मार दुलारसे बढ़कर होती ही है। परन्तु प्रभो! क्या तुम सचमुच भीष्मको मारोगे? हाँ, भीष्म तो यही चाहते हैं। परन्तु तुम? तुम्हारे हाथमें तो चक्र सट-सा गया है। बड़े जोरसे पैर उठाते हो; पर हो वहीं-के-वहीं। तब अर्जुनको होशमें लाकर अपने शरीरसे दौड़कर उसको पकड़ लो; और क्या करोगे? इन प्रेमियोंके आगे तुम्हारा क्या चारा है! प्यारके बँधे दामोदर? बँधे रहो इनके प्रेमपाशमें। इसीमें आनन्द आता है न?

भगवत्प्रेम और भगवत्प्रेमी

'प्रिय वत्स! मेरे गौरवके कारण तुम मेरा भयमिश्रित आदर मत करो, यह मुझे प्रिय नहीं है। तुम्हें मेरा स्वतन्त्र प्रेमी होना चाहिए। यद्यपि मैं पूर्णकाम हूँ, मेरे लिए कुछ भी अपेक्षित नहीं है, तथापि जब मेरा प्रेमी भक्त अपने निःशंक प्रेमसे मुझे निहारता है या मुझसे प्रेमालाप करता है—तब उसका वह व्यवहार मुझे नित्य नूतन और अत्यन्त प्रिय लगता है। मैं नित्यमुक्त होनेपर भी अपने प्रेमी भक्तोंके द्वारा प्रेमपाशमें बाँध लिया गया हूँ. अपराजित होनेपर भी उनसे हार गया हूँ, और स्वाधीन होनेपर भी उनके अधीन हो गया हूँ। जो संसार और सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह छोड़कर मुझसे निःशंक प्रेम करता है, उसका अकेला मैं हूँ और वह अकेला मेरा। न उसका कोई दूसरा प्रिय है और न मेरा कोई दूसरा प्रिय है।' यह है भगवान्‌की वाणी प्रह्लादके प्रति।[1]

---

१. सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज।
नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव॥
अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्।
निःशंकप्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते॥
सदा मुक्तोऽस्मि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
अजितोऽपि जितोऽहं तैरवश्योऽपि वशीकृतः॥
त्यक्तबन्धुजनस्नेहो मयि यः कुरुते रतिम्।
एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृद्॥
——हरिभक्तिसुधोदय

भक्तके हृदयमें विराजमान यह निःशंक प्रीति क्या वस्तु है जिससे स्वतन्त्र आनन्दस्वरूप स्वयं भगवान् मुकुन्द भी पराधीन हो जाते हैं और दिव्य प्रेमोन्मादके वशीभूत हो जाते हैं? श्रुति भगवती कहती हैं—'भक्ति ही भगवान्को पकड़ लाती है, भक्ति ही उनका दर्शन कराती है। भगवान् भक्तिके वशमें हैं, और भक्ति ही सबसे बड़ी वस्तु है।' इसलिए अपने आनन्दके द्वारा परमानन्दको भी उन्मद बनानेवाली इस भक्तिका स्वरूप क्या है?

साङ्ख्यवादी ऐसा मानते हैं कि प्राकृत सत्त्वगुणमें जो मायिक आनन्द है. वही प्रीतिमयी भक्ति है। परन्तु स्वयं अप्राकृत परमानन्दघन भगवान् जो कि अपने आनन्दमें नित्यतृप्त हैं क्या इस मायिक और गौण आनन्दके वशीभूत हो सकते हैं? सर्वथा असम्भव है। निर्विशेष ब्रह्मवादी वेदान्ती कहते हैं कि यह प्रीतिमयी भक्ति भगवान्का स्वरूपभूत आनन्द ही है। परन्तु अपने स्वरूपभूत आनन्दमें कोई विशेषता, अधिकता न होनेके कारण उसमें भी भगवान्के वशीकरण और उन्मादका सामर्थ्य सम्भव नहीं है। तब क्या यह जीवका ही स्वरूपानन्द है? राम कहो, वह तो अत्यन्त क्षुद्र है। तब यह भगवत्प्रेम, प्रीति या भक्ति क्या वस्तु है? गम्भीरतासे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि इस प्रेममयी भक्तिका सम्बन्ध प्राकृत गुणमयी वृत्तियोंसे, निर्विशेष ब्रह्मानन्दसे अथवा प्रत्यक्चैतन्यमें स्वरूपसे विराजमान आनन्दके साथ नहीं है। यह तो भगवान्की ही कोई अचिन्त्य चमत्कारिणी विशेष शक्ति है जिसके अधीन वे भी हो जाते हैं। प्रकृति भगवान्की बहिरङ्गशक्ति है, जीव तटस्थशक्ति है और सच्चिदानन्द स्वरूपशक्ति है। सत्को सन्धिनी, चित्को संवित् एवं आनन्दशक्तिको ही भक्तिशास्त्रमें

आह्लादिनी शक्ति कहते हैं। यह स्वरूप नहीं, स्वरूपशक्ति है। इसी शक्तिसे भगवान् जगत् और जीवकी अपेक्षा विशेष हैं। यही शक्ति जगत् और जीवमें आनन्दका सञ्चार करती है और भगवान्को भी आनन्दित करती है। ठीक है, परन्तु अभी मुख्य प्रश्नका समाधान नहीं हुआ, क्योंकि यह आह्लादिनी शक्ति भी तो सर्वदा भगवान्में ही विराजमान रहती है, तब इसमें भी ऐसी विशेषता कैसे हो सकती है कि यह अपने आश्रयको ही अपने अधीन बना ले; परन्तु यह बात श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणमें शतशः कही गयी है कि भगवान् भक्तिके अधीन हैं। इसकी दूसरी कोई भी सङ्गति नहीं लग सकती और इसका परम तात्पर्य भी इसीमें है कि भगवान्की आह्लादिनी शक्तिमें भी अनेक वृत्तियाँ हैं। और उसमें सर्वानन्दातिशायिनी कोई ऐसी विलक्षण वृत्ति है जिसे भगवान् अपने भक्तोंके हृदयमें स्थापित कर देते हैं और उसके विलासको देख-देखकर स्वयं आनन्दित होते हैं और अपने आपको भूल जाते हैं। श्रीमद्भागवत आदिमें ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जिनमें भगवान्की आंखोंसे आँसू गिरते हैं, वे स्वयं आत्मविस्मृत, विह्वल और दिव्योन्माद दशाको प्राप्त हो जाते हैं। सच्चिदानन्द भगवान्को भी ऐसे दिव्य आनन्दका आस्वादन करानेवाली जो भगवान्की स्वरूपशक्तिभूत, जीवके हृदयमें विराजमान, भगवत्प्रदत्त उल्लासमयी वृत्ति है उसीको प्रीति, प्रेम अथवा भक्ति करते हैं।

व्याकरणके अनुसार 'प्रीति' और 'प्रेम' शब्द प्रायः पर्यायवाची हैं। प्रत्ययका भेद है, धातुका नहीं। तृप्त होने और तृप्त करनेके अर्थमें विद्यमान अकर्मक और सकर्मक दोनों ही प्रकारके 'प्री' धातुओंसे 'प्रीति' और 'प्रिय' शब्द बनते हैं, और 'प्रिय' शब्दसे भावमें प्रत्यय करनेसे 'प्रेम' शब्द बनता है। मोद,

प्रमोद, हर्ष, आनन्द, भाव, हार्द, सौहृद, तृप्ति, सुख आदिके अर्थमें प्रीति शब्दका प्रयोग होता है, फिर भी प्रीति और सुख शब्दके अर्थमें अन्तर है। उल्लासात्मक ज्ञानविशेषको सुख कहते हैं, परन्तु प्रीति इस सुखसे विलक्षण है। प्रीतिमें यह आवश्यक है कि जिससे प्रीति हो उसकी अनुकूलता बनी रहे। उसकी प्राप्तिकी लालसा अनुभवमें भी अनुकूलताका होना अनिवार्य है। इसलिए प्रीतिके सुखस्वरूप होनेपर भी उसमें प्रियतमकी अनुकूलता और अनुकूलतासे अनुगत स्पृहा एवं अनुभवकी विशेषता है। सुखका विरोधी दुःख है, प्रीतिका विरोधी द्वेष है, दुःख नहीं। इसलिए सुखका आश्रय होता है, विषय नहीं। परन्तु प्रीतिके आश्रय और विषय दोनों ही होते हैं। जिसमें प्रेम है वह आश्रय और जिससे प्रेम है वह विषय है। दुःख और द्वेषके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समझना चाहिए. परन्तु प्रीतिकी एक और विशेषता है, वह सविषयक ही नहीं निर्विषयक भी होता है। क्र्यादिगणमें पठित 'प्री' धातु अकर्मक है। यह ज्ञानविशेष होनेपर भी 'चेतति' आदिके समान निर्विषय एवं स्वयंप्रकाश भी है। इसीसे आत्मरति, आत्मप्रीति आदिमें प्रीति शब्दका स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश अर्थमें भी व्यवहार होता है।

जब भक्तके हृदयमें भगवद्रतिका उदय होता है, तब उसमें एक अभूतपूर्व उल्लासका प्रकाश जगमगाने लगता है और अपने प्रियतमके प्रति ममताका संयोग होता है, विश्वासकी वृद्धि होती है, अतिशय प्रियताका अभिमान उदय होता है, द्रवता आती है, अपने प्रियतमके प्रति उत्कट लालसा रहने लगती है, क्षण-क्षण अपने प्रियतममें नव-नव सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव होने लगता है और निरतिशय

तथा अतुलनीय चमत्कारके कारण दिव्योन्मादकी दशा रहने लगती है। यह चित्तकी उल्लासात्मिका रतिरूपा प्रीतिके ही विलास हैं; जिन्हें रसिकजनोंने भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया है। वे कहते हैं कि यह दृढ़ रति ही प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भावका रूप ग्रहण करती है।

प्रीतिकी उस अवस्थाको जिससे केवल उल्लासकी अधिकता ही प्रकट होती है, किन्तु ममता नहीं होती, जैसे चन्द्रमाके दर्शनमें उल्लास है, रुचि है, सुख भी है; किन्तु ममता नहीं है—दृढ़रति कहते हैं, यही रसका स्थायी भाव होता है। जब भक्तके चित्तमें अनेक जन्मोंके पुण्यपरिपाकसे, सत्संगसे और भगवत्कृपासे इस रतिका उदय होता है; तब जीवनके सारे व्यवहार उसी एकके लिए होने लगते हैं और दूसरी बातें तुच्छ-सी जान पड़ती हैं। अपने प्रियतमके अतिरिक्त और कहीं भी महत्त्वबुद्धि नहीं रहती। आगे चलकर ममताका आविर्भाव होता है। समृद्ध और सम्पन्न ममताकी अधिकता ही प्रेम है। जब भक्तके चित्तमें प्रेमका उदय होता है; तब कोई भी लौकिक या अलौकिक कारण प्रेमके स्वरूप और प्रयत्नकी हानि अथवा ह्रास करनेमें समर्थ नहीं होते। प्रेमके नाश और ह्रासका बड़े-से-बड़ा कारण उपस्थित होनेपर भी उसका विकास और प्रकाश ही होता है। इसीसे भक्ति-शास्त्रमें अपने प्रियतमके प्रति अतिशय ममताको ही भक्ति कहते हैं। पाञ्चरात्रमें कहा गया है कि प्रीतियुक्त अनन्य ममता ही भक्ति है। अनन्यका अर्थ है अपने प्रियतमके अतिरिक्त अन्य किसीसे ममताका न होना। प्रेमके तीन प्रकार होते हैं—मन्द, मध्यम और प्रौढ़। मन्द प्रेममें सेवाकी विस्मृति हो जाती है, जैसे एक सखी पछता रही थी—'हाय! हाय!! आज अपने विरुद्ध रहनेवाला

गोपीका ईर्ष्यापूर्ण मनोराज्य होनेके कारण, मैं अपने प्राण-प्यारे श्यामसुन्दरके लिए माला नहीं गूँथ सकी, अब क्या करूँ? गौओंका हम्बारव सुनायी पड़ रहा है, वे इधरसे आने ही वाले हैं।'

मध्यम प्रेममें वियोगका समय बड़े कष्टसे बीतता है। एक गोपी अपनी सखीसे कहती है—'सच-सच बता सखी, क्या यह लम्बा दिन शीघ्र बीत जायगा और मङ्गलमयी सन्ध्या मैं देख सकूँगी, क्योंकि उसी समय गोधूलि-धूसरित कुञ्चितकेश मन्दस्मित-मुखारविन्द नन्दनन्दन हमारे नेत्रोंकी व्यथा हरण करते हैं।'

प्रौढ़ प्रेममें वियोग सर्वथा ही सहन नहीं होता। एक गोपी अपनी सखीसे कहती है—'अरी बीर! तू मुझे बार-बार मान निभानेकी सीख देती है, तो प्राणप्यारेका एक चित्रपट भी मुझे दे दे, मैं अपने कान बन्द करके उसे आँचलसे छिपा रखूँगी और उसे देख-देखकर दो घड़ीतक मानवती बनी रहूँगी।' यही प्रेम जब और भी बढ़ता है—और प्रतिक्षण बढ़ना प्रेमका स्वभाव है, तब उसमें विश्वासकी पराकाष्ठा अपने आप ही आ जाती है। प्रेमकी इस दशाका नाम प्रणय है। प्रणयकी यह विशेषता है कि उसके उदय होनेपर अपने प्रियतममें गौरव, आदर, सम्भ्रम आदिकी पात्रता होनेपर भी ये सब शिष्टाचार समाप्त हो जाते हैं। यही प्रणय आगे चलकर मान बनता है। मेरा प्रियतम मुझसे बहुत प्रेम करता है, मैं अपने प्यारेका प्रेमास्पद हूँ—इस प्रणयाभिमानके कारण भावमें एक ऐसी विचित्रता आ जाती है कि कभी-कभी तो दूसरोंको ऐसा लगता है मानो प्रेमी कुटिलताका बर्ताव कर रहा है। परन्तु उस प्रतीयमान कुटिलतामें भी इतना विश्वास, इतनी प्रियता और इतना हित

होता है कि उसका किसी प्रकार निरूपण नहीं किया जा सकता। इस मानके उदय होनेपर और तो क्या स्वयं भगवान् आनन्द-मुकुन्द भी अपने प्रेमीके प्रणयकोपसे–प्रेममय भयसे आक्रान्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त प्रेम ही चित्तकी अतिशय द्रवावस्थामें स्नेह हो जाता है। स्नेहमें अपने प्रियतम और उनसे सम्बद्ध अन्य पदार्थोंका आभासमात्र प्राप्त होनेपर भी शरीर और चित्तमें कम्प, अश्रु आदि सात्त्विक विकारोंका उदय हो जाता है। अपने प्यारेके दर्शन, स्पर्श आदिसे अतृप्ति हो जाती है और अपने प्रेमास्पदमें परमैश्वर्य एवं परम सामर्थ्य रहनेपर भी किसी-किसीको अनिष्टकी आशंका होने लगती है। स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह।

जिस स्नेहमें आदरका भाव मिश्रित रहता है, दूसरे भावसे मिलकर स्वादिष्ट बनता है और पारस्परिक शीलताका अनुभव करके घनीभूत होता है उसे घृतस्नेह कहते हैं। एक ऐसी गोपी है जिसको दूरसे देखते ही श्रीकृष्ण उठ खड़े होते हैं और उसे हृदयसे लगाते हैं। उसके पवित्र प्रेमके वशमें रहते हैं; जो उनसे कभी मान नहीं करती। जैसे पानीमें पड़ते ही ओला गल जाता है, वैसे ही वह हमेशा स्नेहसे तर रहती है। ऐसी कौन भाग्यवती है जिसके साथ उसकी उपमा दी जा सके?

जिस स्नेहमें अतिशय ममता प्रकट रहती है; उसे मधुस्नेह कहते हैं। इसमें मधुरतापर कभी आवरण नहीं पड़ता। जैसे मधुमें भिन्न-भिन्न पुष्पोंके रस होते हैं, वैसे ही इस स्नेहमें कौटिल्य, नर्म आदि भावोंका सम्बन्ध होता है। इसमें आनन्दकी मादकता और भावकी गर्मी भी रहती है। इस प्रकार इसमें मधुकी समानता है। श्रीकृष्ण अपने एक मित्रसे कहते हैं कि—'राधा सुधामयी प्रतिमा है कि माधुर्यसार स्नेहका कला-कौशल? अपने गुणोंसे

नित्य वह घनीभूत रहती है, केवल भावकी ऊष्मासे ही द्रवित होती है। क्या बताऊँ मित्र, प्रसंगवश उनके नाम और धाम श्रवण करनेमात्रसे ही मुझे सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका विस्मरण हो जाता है।'

स्नेहमें जब उत्कट लालसा-अभिलाषाका गहरा रंग उभरता और चढ़ता है; तब उसको राग कहते हैं। रागकी दशामें क्षणिक विरह भी अत्यन्त असह्य हो जाता है। पलकका गिरना भी नहीं सुहाता। अपने प्रियतमके संयोगमें बड़े-से-बड़ा दुःख भी सुख बन जाता है और अपने प्रियतमके वियोगमें बड़े-से-बड़ा सुख भी दुःख हो जाता है। यह राग भी प्रतिक्षण वर्धमान है। राग दो प्रकारका होता है—एक नीलिमा और दूसरा रक्तिमा। नीलिमा भी दो प्रकारकी होती है—एक नीली राग और दूसरा श्यामा राग। नीली राग बहुत चमकता तो नहीं, पर कभी घुलता भी नहीं। श्यामा राग पहलेसे बहुत अधिक चमकता है और धीरे-धीरे औषधादिके मिश्रणसे साध्य बनता है। रक्तिमा भी दो प्रकारकी होती है—एक कुसुम्भकी और दूसरी मञ्जिष्ठाकी। कुसुम्भ राग चित्त-तटपर जल्दी चढ़ जाता, दूसरे राग-रंगोंकी शोभा बढ़ाता और स्वयं भी शोभा पाता है। यद्यपि कपड़ेपर कौसुम्भ राग कच्चा भी होता है, परन्तु श्रीकृष्णविषयक होनेपर यही पक्का हो जाता है। माञ्जिष्ठ राग जलादि निमित्त अथवा कालक्रमसे नष्ट नहीं होता। संचारी भाव उसे विचलित नहीं कर सकते। श्याम रागके समान उसमें औषधिकी आवश्यकता नहीं, वह स्वतः सिद्ध है। उसकी क्रान्ति हमेशा बढ़ती ही है, कौसुम्भ रागके समान घटती नहीं। श्रीराधा-माधवका अनुपम प्रेमरस बिना किसी उपाधिके ही प्रकट होता है, विजातीय भावका मिलन होनेपर भी कम नहीं

होता। गुरुजनोंके द्वारा महाभय प्राप्त होनेपर भी रसकी वृद्धि और नवीन मार्ग-दर्शन ही प्राप्त होता है। प्रतिदिन नवीन-नवीन चमत्कार, निर्मर्याद आनन्द और समृद्धि-वृद्धि ही होती रहती है। यही जब पल-पलमें अपने प्रेमास्पदको नये-नये रूपमें अनुभव कराने लगता है और स्वयं भी नवीन-नवीन रूपमें प्रकट होता है; तब इसीको अनुराग कहते हैं।

दो सखियोंका संवाद—

पहली—सखि! यह कृष्ण कौन है? इसका तो नाम सुन-कर ही मनको रोकनेकी शक्ति भाग जाती है।

दूसरी—अरी बावरी! तू यह क्या पूछ रही है? तू तो उसीके वक्षःस्थलपर प्रति-दिन क्रीडा करती है।

पहली—बीर! मेरी हँसी मत उड़ाओ।

दूसरी—अरी मुग्धे! अभी-अभी तो मैंने तुझे उसके हाथमें दिया था।

पहली—ठीक-ठीक सखी, अभी-अभी वह मेरी आँखोंके सामनेसे बिजलीकी तरह चमक गया है।

भक्तके जीवनमें अनुरागके उदय होनेपर प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों परस्पर एक दूसरेके अत्यन्त वशीभूत हो जाते हैं। संयोगमें वियोग और वियोगमें भी संयोगका अनुभव होने लगता है। अपने प्रियतमसे सम्बन्धित स्थावर जातिमें जन्म लेनेकी लालसा होने लगती है। जैसे बाँसुरी बननेके लिए बाँस बननेकी अभि-लाषा। वियोग होनेपर सर्वत्र अपने प्रियतमकी विविध रूपमें स्फूर्ति होने लगती है। प्रेमका यह स्वभाव ही है कि वह जिसके हृदयमें उदय होता है उसको तो पराधीन बना ही देता है, जिसके प्रति होता है, उसके अनुभवका विषय होकर उसको भी पराधीन बना देता है। इस अनुरागमें ऐसे-ऐसे चमत्कार हैं कि

उससे बड़ेकी तो चर्चा ही क्या, समानताका भी दूसरा कोई पदार्थ या भाव नहीं है। यही चमत्कार अनुरागीको दिव्य उन्मादसे भर देता है। इस दिव्य उन्मादको ही महाभाव कहते हैं।

महाभावकी यही अमृतमयी दशा अनुभावोंके अतिशय उद्दीप्त होनेपर रूढ़, और उससे भी कोई अनिर्वचनीय विशेषता प्राप्त होनेपर अधिरूढ़ नामसे कही जाती है। पार्वतीने शंकरसे प्रश्न किया—'राधा-माधवके दिव्य प्रेममें क्या विशेषता है?'

शंकरने कहा—'अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें और उनसे परे भी अबतक जितने सुख-दुःख हुए हैं और होंगे, उनकी यदि अलग-अलग राशि बना ली जाय, तो वे दोनों राधिकाके प्रेममें उदय होनेवाले सुख-दुःख-समुद्रकी एक बूँदकी छाया भी नहीं बन सकते।'

इस महाभावके उदय होनेपर संयोगके समय भी पलकोंका गिरना असह्य हो जाता है, कल्प भी सुखकी अधिकतासे क्षण प्रतीत होता है और वियोगकी दशामें एक क्षण भी कल्पके समान हो जाता है। संयोग और वियोग दोनों ही दशाओंमें सब-के-सब सात्त्विक लक्षण अत्यन्त उद्दीप्त रूपमें प्रकट होते हैं। प्रीतिके यही विलास कहीं भक्ति, कहीं प्रेम, कहीं स्नेह और कहीं भावके नामसे कहे जाते हैं।

अधिरूढ़ महाभाव दो प्रकारका है—मोदन और मादन। वियोगमें मोदनका स्थान मोहन ले लेता है। इसी मोहनमें दिव्योन्मादका उदय होता है। श्रीमद्भागवतका भ्रमरगीत इसी दिव्योन्माद दशाका विलास है। मादन सबसे परे है। वह सम्पूर्ण भावोंके उद्गम और उल्लासका स्थान है और वह सर्वदा श्रीराधारानीमें ही रहता है, क्योंकि यही भगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिका सार है।

अभी-अभी भगवत्प्रेमके जिन विलासोंकी चर्चा की गयी है वे जब किसी भक्तके हृदयमें उदय होते हैं; तो उसके चित्तको आमूलचूल लौकिक विकारों और संस्कारोंसे मुक्त करके दिव्य बना देते हैं। यही प्रीति भगवान्के विशेष स्वभावके आविर्भावका संयोग प्राप्त कर भक्तके हृदयमें एक नवीन भक्ति-पोषक अभिमान उत्पन्न कर देती है। किसके हृदयमें किस प्रकारका भक्ति-पोषक अभिमान उदय हो; इसकी भी कोई पद्धति होनी चाहिए। जिस भक्तको भगवान्के जिस प्रकारके प्रेमीका सत्सङ्ग प्राप्त होता है; उस प्रेमीके प्रेमकी पद्धत्ति ही भक्तके हृदयमें प्रकट होती है। प्रीति प्रकट होनेपर कोई अपनेको प्रभुका अनुग्रह-भाजन और कोई अपनेको अनुकम्पापात्र मानने लगते हैं। कोई-कोई अपनेको मित्र मानते हैं तो कोई-कोई प्रिया। भगवान्के जो नित्यपरिकर हैं; उनमें तो प्रीति और अभिमान दोनों ही नित्य होते हैं। भगवान्को अपना आराध्य जानना और मानना भक्तके लक्षणमें सम्मिलित हैं। परन्तु जब उसमें 'मैं उनका अनुग्रहभाजन हूँ'—यह अभिमान प्रकट होता है, तब उसे प्रीति कहते हैं। अनुग्रह दो प्रकारका होता है—प्रथम 'पोषण' और द्वितोय 'अनुकम्पा'। भगवान् अपने स्वरूप और गुणोंके द्वारा भक्तोंको आनन्दित करते हैं; इसका नाम पोषण है। स्वयं परिपूर्ण होनेपर भी स्वयं अपनेमें सेवाकी अभिलाषा स्वीकार करके अपने प्रेमी सेवकोंको सेवा आदिका सौभाग्य देना—उनका भला चाहना 'अनुकम्पा' है। यह भगवान्के चित्तकी कोमलता ही है; जिससे वे भक्तोंको सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी होते हैं। इन अनुग्रह-भाजन अर्थात् पोषण अनुकम्पा-पात्र भक्तोंके दो प्रकार होते हैं—निर्मम और समम। ज्ञानीभक्त सनकादि यह तो अनुभव करते हैं कि भगवान् हमारे हृदयमें अपने परमात्मा और

परब्रह्मभाव भरकर हमें आनन्द देते हैं; परन्तु उनके हृदयमें 'मामकीनस्त्वं' यह ज्ञान भी बना रहता है। उन्हें भगवान्‌के दर्शनसे, सुगन्धसे बहुत आनन्द मिलता है। शरीर और चित्तमें सात्त्विक विकारोंका उदय भी होता है। वे विनय और स्तुतिका भाव भी रखते हैं; परन्तु उनकी प्रीति शान्ति-प्रधान है और वे ब्रह्मानन्द-स्वरूपसे परमात्माका अनुभव करते हैं। इसीको भक्तिशास्त्रमें शान्तरस कहा गया है। जिनके ऊपर भगवान्‌की अनुकम्पा, चित्तकी कोमलता प्रकट हुई है और जिन्हें भगवान्‌के सेवा-सुखका सौभाग्य मिलता है उनके हृदयमें 'यह हमारे प्रभु हैं'—इस भावसे ममताका उदय हो जाता है। इसीसे भीष्म, उद्धव, प्रह्लाद अनन्य ममताको ही भक्ति कहते हैं। ममता प्रकाशित होनेके कारण ही वे अनुकम्पापात्र और उसके अभिमानी भी हैं। अनुकम्पा तीन प्रकारके भक्तोंमें प्रकट होती है—पाल्य, भृत्य और लाल्य। जैसे द्वारकाकी प्रजा, दारुकादि सेवक और प्रद्युम्न आदि सम्बन्धी। इनकी प्रीति वस्तुतः भक्तिके ही अन्तर्गत है। इनमें अनुकूलता अधिक होती है और ज्ञानांश आवृत रहता है, इसलिए इनमें प्रीतिकी प्रधानता है। पाल्योंमें आश्रय, भृत्योंमें दास्य और लाल्योंमें विनय-भावनाकी प्रधानता रहती है। भगवान्‌की जिस अनुकम्पासे जिनके हृदयमें 'मैं पुत्र हूँ,' 'मैं भाई हूँ' इस प्रकारका भक्तिपोषक अभिमान उदय होता है उनकी इस प्रीतिको वात्सल्य कहते हैं। लौकिक रसज्ञ महापुरुष भी इसको वत्सल-रस मानते हैं। वात्सल्यरस नन्द, यशोदा आदिमें होता है। 'यह मेरे समान ही मधुर शील-स्वभाववाला है और मेरे निष्कपट प्रेमका विशेष आश्रय है'—इस भावसे मित्रत्वाभिमान-प्रीतिका नाम मैत्री है। दोनों मित्र परस्पर निष्कपट

भावसे एक दूसरेके हितमें रस लेते हैं—इसको सौहृद कहते हैं। दोनों मित्र एक साथ परस्पर प्रेमपूर्वक आहार-विहार करते हैं—इसको सख्य कहते हैं। इसलिए मित्र भी दो प्रकारके होते हैं—एक सुहृद्, दूसरे सखा। इनके भी कई अवान्तर भेद हैं। 'ये मेरे परम प्रेष्ठ कान्त हैं' इस प्रीतिको मधुर प्रीति कहते हैं। प्रियके भावको ही प्रियता, प्रेम और प्रीति कहते हैं। लौकिक रसिकोंने इसीको स्थायी भावरूप रति मानकर रसकी निष्पत्ति मानी है। यह कान्तभाव कामके समान होनेके कारण कहीं-कहीं 'काम' शब्दसे भी कहा गया है। परन्तु प्रीति और काममें बहुत अन्तर होता है। काममें अपनी अनुकूलतासे विभिन्न इच्छाएँ होती हैं। परन्तु प्रीतिमें अपने प्रियतमकी अनुकूलतासे अनुगत स्पृहा और अनुभूति होती है। प्रीति तो एक प्रकारका ज्ञान ही है। कभी-कभी अपने प्रियतमको अनुकूलतामें भी अपने सुखकी वासना रहती है, इसलिए वह भी शुद्ध प्रीति नहीं है। शुद्ध प्रीतिमें अपना सुख भी प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए ही होता है। सुख और प्रीतिमें प्रियतमकी अनुकूलताका अंश ही उसकी विशेषता है। इसी प्रकार काम और प्रीति दोनोंमें इच्छा है। परन्तु प्रियतमकी अनुकूलता ही प्रीतिकी विशेषता है। इसीसे रासलीला आदिके प्रसंग काम-वर्धक नहीं, प्रीतिवर्धक हैं। जिसके श्रवण, वर्णनसे ही कामका ह्रास और नाश हो जाता है; उसमें कामकी गन्ध भी होना सम्भव नहीं।

एक गोपी कहती है कि—'यद्यपि श्यामसुन्दरके दर्शनसे मुझे सुख बहुत मिलता है; परन्तु इससे यदि उनकी कोई रत्तीभर भी हानि होती हो, तो वे मुझे कभी दर्शन न दें। मुझे जीवन भर घुल-घुलकर मरना पसन्द है—परन्तु उनकी थोड़ी-सी भी

हानि पसन्द नहीं।' श्रीमद्भागवतमें एक ऐसा प्रसंग आया है कि यह जानते हुए भी इस क्रियामें प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको सुख मिलता है, कहीं उन्हें पीड़ा न पहुँच जाय इस आशंकासे गोपी व्यग्र रहती है। यह व्यग्रता प्रेमकी एक उत्कट परिणति है, प्रेमकी भाषा है। प्रेम ऐसा रसायन है जो असन्तोषको सन्तोष, धृष्टताको विनय, सादगीको अलंकार, अज्ञानको ज्ञान, हारको जीत, दुःखको सुख, उत्कृष्टताको निकृष्टता, अन्धकारको प्रकाश, निषेधको विधि, अशक्तको समर्थ, वियोगको संयोग, मृत्युको जीवन, चंचलताको समाधि, निन्दाको स्तुति, हानिको लाभ, विस्मृतिको स्मृति, सकामताको निष्कामता, असन्तको सन्त, निग्रहको अनुग्रह, मूर्खको विद्वान् और शिष्यको भी गुरु बना देते हैं। प्रेममें न केवल कर्म, गुण और आकारमें ही परिवर्तन करनेकी क्षमता है वह सम्पूर्ण प्रकृतिमें भी उलट फेर करनेमें समर्थ है। प्रेमका यह सामर्थ्य प्रेमी और प्रियतमकी सिद्धि या शक्ति नहीं है; प्रत्युत शुद्ध रूपसे प्रेमका ही सामर्थ्य है। इतना होनेपर भी प्रेम स्वयं अपने आपमें किसी भी विशेषताका अभिमान धारण नहीं करता। वह स्वदृष्टिसे निर्विशेष और परदृष्टिसे सविशेष है।

परमानन्दकन्द मुकुन्दके अङ्ग-अङ्गसे रसमयी, मधुमयी, आह्लादमयी प्रकाश-रश्मियोंका विकीरण होता रहता है। सकलभुवनसौभाग्यसारसर्वस्व, सत्त्वगुणके उपजीव्य, अनन्त-विलासमय, अमायिक विशुद्ध सत्त्वका अनवरत उल्लास होते रहनेके कारण वे असमोर्ध्व मधुर हैं। उनमें किसी भी प्रकार चित्त लग जानेसे विधि-विधानके बिना ही निसर्ग-समुल्लासिनी प्रीतिका विकास हो जाता है। वह प्रीति किसी भी दूसरे विषयसे विच्छिन्न नहीं होती, अन्य-परत्वको सहन नहीं

करती। अवश्य ही वह ह्लादिनी शक्तिकी सारभूता एक विशेष शक्ति है। भगवान्‌की अनुकूलता ही उसकी आत्मा है। भगवान्‌के लिए प्यास और भगवद्‌रसकी अनुभूति उसकी आकृति है। भक्तकी मनोवृत्ति ही उसकी देह है। अनन्तगुणित अमृतसे अधिक सरस निज स्वरूपसे ही वह अपनेको सरस बनाती है। आत्मरहस्य-संगोपन होना उसका स्वभाव है। सारे पुरुषार्थ— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उसके दास हैं। वह भगवान्‌के प्रति पातिव्रत-व्रतके अनुष्ठानमें संलग्न है। उसके रूप भगवान्‌के भी मनको हरण करनेवाला है। यह प्रीतिरानी निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगी रहकर सर्वोपरि शोभायमान होती है। यही भगवान्‌की वह प्रीति है जो स्वयं भगवान्‌को भी अपने अधीन कर लेती है।



प्यारे कृष्ण !

श्रीकृष्ण ! मुझे मालूम नहीं, कुछ-कुछ मालूम होनेपर भी याद नहीं आता कि मैं तुमसे कबसे बिछुड़ा हुआ हूँ ! युगपर युग बीत गये, जन्मपर जन्म बीत गये। कभी तिनका होकर लोगोंके पैरके नीचे कुचला जाता रहा, कभी लकड़ी बनकर आगमें जलता रहा, कभी कीड़े-मकोड़े बनकर लोगोंको सताता रहा, कभी समुद्रकी उत्ताल तरंगोंमें बहता रहा और कभी अनेकों पशु-पक्षियोंकी योनियोंमें पैदा होकर लोगोंके द्वारा विताड़ित होता रहा, न जाने किस-किसको पुकारा, किस-किसके चरणोंकी शरण ली, परन्तु तुम्हें नहीं पुकारा। कई बार स्त्री होकर लोगोंका भोग्य बना और न जाने कितनी बार पुरुष होकर कितनोंकी चापलूसी करता रहा। श्रीकृष्ण ! एक बार भी सच्चे हृदयसे मैंने तुम्हारे चरणोंकी शरण नहीं ली। एक बार भी आर्तस्वरसे तुम्हें नहीं पुकारा ! पुकारनेकी इच्छा भी नहीं हुई ! मैं जलते हुए लोहेके द्रवको अमृत समझकर पीनेके लिए दौड़ा, उससे जलकर जलते हुए सोनेके द्रवकी ओर दौड़ा, उससे लौटकर खारे समुद्रमें कूद पड़ा और वहाँ भी भूखा-प्यासा रहकर अनेक जल-जन्तुओंसे विताड़ित हुआ। कहाँ नहीं गया, किसके दरवाजेपर मैंने सिर नहीं पटका ? परन्तु हाय री मेरी दुर्बुद्धि ! एक बार भी तूने सच्चे स्वामीकी स्मृति नहीं की ! !

यह सब होता रहा, इस सब दौड़-धूपके अन्दर एक प्रेरणा

थी श्रीकृष्णकी। हाँ! श्रीकृष्ण!! तुम्हारी ही प्रेरणा थी। तुम हृदयमें बैठकर यही प्रेरणा कर रहे थे कि मैं सच्चा सुख पाऊँ, सच्ची शान्ति पाऊँ और अपने स्वामीकी सन्निधिमें जाकर अपने प्रियतमका आलिंगन पाकर सर्वदाके लिए उनके हृदयसे सट जाऊँ—एक हो जाऊँ। यह इच्छा तुम्हरी दी हुई इच्छा थी; परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था— यह इच्छा किसकी दी हुई है। यह भी नहीं समझ रहा था कि किसके पास जानेसे यह इच्छा पूरी होती है! मैं बिना जाने अनजान पथसे चल पड़ा और ढूँढ़ने लगा उन विषयोंमें सुख और शान्तिको, जहाँ स्वप्नमें भी उनके दर्शन नहीं हो सकते!

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया? तुम्हारे प्रेमियोंसे सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियोंने जो कुछ तुम्हारा सन्देश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा, अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था। मैं मरुस्थलमें पानी ढूँढ़ रहा था। मैं संसारमें सुखके लिए भटक रहा था। भला संसारमें सुख कहाँ! भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणोंमें ही है। अब प्रभो! तुम्हारे चरणोंमें आ गया हूँ। ये तुम्हारे लाल तलवे, ये तुम्हारे कमलसे कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदयसे सटे रहें, इनकी शीतलतासे मेरे हृदयकी धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम! एक बार मेरे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रख दो न! रख दो, बस मेरी एक बात मान लो!

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ! हृदयकी तहमें तो अब भी विषयों-की लालसा है और वाणीसे तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ।

इसीसे मालूम होता है श्रीकृष्ण ! कि तुम दूरसे ही मुझे देखकर हंस रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे हो। मैंने तुम्हारे प्रेमियोंके द्वारा, तुम्हारे दूतोंके द्वारा सुने हुए सन्देशको सच्चे रूपमें अभी ग्रहण नहीं किया है। थोड़ी देरके लिए उन सन्देशोंको सुन लेनेपर भी मनने उन्हें ठीक रूपसे ग्रहण नहीं किया है। यदि मन तुम्हारे सन्देशको सत्य मानता, उसका विश्वास हो जाता कि सच्चा रस तो श्रीकृष्णके स्मरणमें ही है। यदि वह अनुभव कर लेता कि विषयोंमें रस नहीं है, तो फिर वह कभी स्वप्नमें भी विषयोंकी ओर नहीं जाता, तुम्हारे चरणोंका रस लेनेमें ही मत्त होता। ऐसा नहीं होता जैसा कि मनकी आज स्थिति है। श्रीकृष्ण ! परन्तु मैं करूँ ही क्या ? मनको मनाना मेरे हाथमें तो है नहीं, वह बड़ा बलवान् है, अपने हठपर अड़ा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ आदिसे उसने दोस्ती कर रखी है, वह तुम्हारा सन्देश सुनकर भी अनसुना कर देता है। सब कुछ देखते-सुनते हुए भी उसी मार्गसे चलने लगता है, जिससे चलनेका उसे अभ्यास हो गया है।

इसका एक उपाय है, तुम सन्देश मत भेजो। आओ, स्वयं आओ, मेरी बात तो सुन ही रहे हो न ! एक क्षणके लिए मेरी आंखोंके सामने प्रकट हो जाओ। थोड़ी देरके लिए मेरे हृदयमें आकर बैठ जाओ और सन्देशके स्थानपर अपने मुँहसे तुम मनको आदेश दे दो कि मन ! तुम मेरे हो, मेरी सेवामें रहो, एक क्षण भी मुझे छोड़कर मत जाया करो। मेरे सर्वस्व, मेरे श्रीकृष्ण ! वह तुम्हारी आज्ञा मानेगा। मेरा विश्वास है, तुम्हारी आज्ञा अवश्य मानेगा। कर दो न ऐसा ही ! मैं सर्वदाके लिए तुम्हारे चरणोंकी सन्निधि पा जाऊँ। श्रीकृष्ण ! क्या कहते हो ? मेरा हृदय कलुषित है। वह तुम्हारे आने

योग्य नहीं है। मेरी आँखें दूषित हैं। वे तुम्हारा दर्शन करने योग्य नहीं हैं, परन्तु मेरा वश क्या है? मेरी आँखों और हृदयको शुद्ध करनेवाला और है ही कौन? तुम स्वयं पवित्र कर लो और आ जाओ। यदि उनके शुद्ध होनेपर ही तुम आओगे, तब तो मैं करोड़ो कल्पोंमें भी तुम्हारे दर्शनोंका अधिकारी नहीं बन सकूँगा। श्रीकृष्ण! तुम बड़े दयालु हो, बड़े भक्तवत्सल हो। तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं प्रेमपरवश हूँ। परन्तु मैं भूल कर रहा था, मैं भक्त नहीं हूँ; मैं तुमसे प्रेम भी नहीं करता। मैं सच्चे हृदयसे अपनेको दयापात्र भी नहीं मानता। कहाँ है मुझमें दीनता? मैं तो अभिमानका पुतला हूँ। तब क्या मुझपर दया नहीं करोगे! श्रीकृष्ण! इसी अवस्थामें तो मैं वास्तवमें दयाका पात्र हूँ। यदि मैं अपनेको दयापात्र समझता, तब तो दयापात्र होता ही। उसमें तुम्हारी दयालुता क्या होती! मेरी दशा तो इतनी दयनीय हो गयी है कि मैं अपनेको दयापात्र भी नहीं समझता, इसलिए मैं और भी दयाका पात्र हो गया हूँ। जैसे भयंकर रोगसे ग्रस्त प्राणी उन्मादके कारण अपने रोगको नहीं समझ पाता और इसीसे लोग उसपर विशेष दया करते हैं, वैसे ही अज्ञानवश अपने रोगको न समझनेवाला मैं क्या तुम्हारा विशेष दयापात्र नहीं?

मैंने तुम्हारी लीला सुनी है, मैंने तुम्हारी कथा सुनी है। तुम पतितोंको पतितपावन बना देते हो, अधमोंको अधमोंके उद्धारका साधन बना देते हो। तुम प्रेमियोंके नचानेपर नाचते हो और वे जो-जो कहते हैं, करते हो। मैं तुम्हारे दरवाजेपर तुम्हारे चरणोंके पास लोटकर तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। उठा लो मुझे, एक बार कह दो, तुम मेरे हो। अपना लो न प्रभु!

सब संसार तो तुम्हारा है ही। तो क्या मुझे ही बाहर रखना चाहते हो ? मैं भी तुम्हारा ही हूँ। फिर यह कहनेमें क्यों देर करते हो ! स्वामिन् ! तुम मुस्करा रहे हो। क्यों मुस्करा रहे हो ? क्या मेरे अज्ञानपर ! हाँ, मैं हँसने ही योग्य हूँ। तुम ही इशारा कर रहे हो न कि तू तो मेरा है ही, सभी अवस्थाओंमें मेरा रहा, मैंने कभी तुझे छोड़ा नहीं। तुम यही कह रहे हो न नाथ ! कि पाप करते समय भी मैं तेरे साथ रहा। तेरे पीछे खड़ा होकर तुझे देखता रहा, एक क्षणके लिए भी तुझे नहीं छोड़ा। मैं तुझे प्रेम करता हूँ किन्तु तूने ही मुझे छोड़ दिया है, मेरी ओरसे आँखें बन्द कर ली हैं, संसारकी सुन्दरतापर मुग्ध हो गया है और मेरी ओर देखना ही छोड़ दिया है। सत्य है प्रभो ! तुम्हारा कहना ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा, तुमने मुझपर अमृतकी वर्षा की। मेरे साथ तुम्हें ऐसे स्थानोंमें भी जाना पड़ा जहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिए था। परन्तु हे अनन्तस्वरूप ! अब मेरी त्रुटिपर, मेरे अपराधपर दृष्टि मत डालो। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा जो कुछ भी मैं था, हूँ और होऊँगा, वह सब तुम्हारा ही था, तुम्हारा ही है और तुम्हारा ही होगा। अब ऐसी कृपा करो कि मैं इस सत्यपर स्थिर हो जाऊँ और प्रतिक्षण तुम्हारे चरणकमलोंको अपने हृदयसे सटाये रहूँ। मेरे जीवनसर्वस्व ! मेरे प्राणोंके प्राण। मेरे स्वामी ! मेरे हृदयमें प्रेमकी ऐसी ज्वाला जगा दो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जायँ। हृदयके मन्दिरमें तुम्हें बैठनेकी जगह बन जाय। प्रियतम ! अपना ऐसा विरह दो, कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखोंको धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशिका मधु पीकर छक जायँ।

• • •

प्रभो ! दे दो न अपने लिए व्याकुलता ! मैं तुम्हारे लिए तड़फड़ाता हुआ घूमा करूँ—

हे नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज !
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन !
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥
हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम !
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्नः ॥
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द-विरहेण मे ॥

श्रीकृष्ण ! ये आँखें तुम्हारे अतिरिक्त और किसीको क्यों देखती हैं ? चाहे तो तुम इनके सामने आओ और चाहे इन्हें जला दो । यह वाणी दूसरेका नाम क्यों लेती है ? चाहे तो इससे तुम्हारा ही नाम निकले और चाहे यह नष्ट हो जाय । श्रीकृष्ण ! मेरे कान तुम्हारा ही मधुर आलाप सुनें, तुम्हारी ही बाँसुरीकी तान सुनें, या बहरे हो जायँ । मेरी चित्तवृत्ति और किसीको न देखे, न सुने, न स्पर्श करे । मेरी क्यों ! यह तुम्हारी ही चित्तवृत्ति है, लगा लो अपने चरणोंमें प्रभो ! मेरे दयालु प्रभु ! मेरे प्रेमी प्रभु ! लगा लो न, रहा नहीं जाता । विवश हो रहा है चित्त, एक बार तो कृपा कर दो । कृपा तो तुम्हें करनी ही है । बिना कृपा किये तो तुम रह ही नहीं सकते, फिर देर क्यों कर रहे हो ? अभी कर दो न ? यह देखो, एकटक आँख खोले, मुँह बाये तुम्हारी ओर देख रहा हूँ । मेरे प्यारे कृष्ण ! प्यारे कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण !

सख्य-रस

रसका स्वरूप है—आस्वादन। इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणसे और अन्तरात्मासे आस्वादन करते जाइये, रस लेते जाइये, यदि कहीं इसकी परम्परा टूट जाती है, कहीं रसनीय वस्तु अथवा रसास्वादन करनेवाले करणोंमें विच्छेद हो जाता है, दोनों या उनमें-से कोई एक नहीं रहता तो ऐसा समझिये कि अभी आपको रसकी उपलब्धि नहीं हुई है। जहाँ भाव और भावके विषयमें स्थायित्व ही नहीं है, वहाँ रसकी प्रतीति तो काव्यदृष्टिसे भी कल्पनामात्र है। रस वह आस्वादन है, जिसमें आस्वादक और आस्वाद्य दोनों इतने घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें पारस्परिक भेदका भी बोध नहीं रहता। इसीसे लौकिक स्थूल विषयोंको लेकर जिस रसकी अनुभूति होती है; वह तो रसाभासमात्र है, वास्तविक रस नहीं; क्योंकि उसके आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही क्षणिक एवं अस्थायी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लौकिक रसानुभूतिका व्यापार भी मानसिक ही है; फिर भी स्थूल घटनाओंके आश्रित होनेके कारण उसमें-से रसाभासकी व्याप्ति दूर नहीं की जा सकती। इसीसे विचारशील पुरुष रसाभासके पीछे न भटककर नित्य-रसकी शोध करते हैं, जो कि आलम्बन और उद्दीपनकी एकरस नित्यता और सत्यताके आधारपर प्रतिष्ठित है। स्थूल भूतोंका संयोग न होनेके कारण उसकी दिव्यता और चिन्मयता अबाधित है। यह चिन्मयका चिन्मयसे चिन्मय संयोग अथवा चिन्मय वियोग; जिसका

स्थायित्व अव्याहत है, वास्तवमें रस है और भक्तोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करके इसीका रसत्व स्वीकार किया है। वृत्तियोंके आलम्बन और उद्दीपन दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जो वृत्तियोंके चाञ्चल्य एवं बहिर्मुखताके विषय हैं; जिनका जीवन वृत्तिसापेक्ष होनेके कारण मनोमय एवं क्षणिक है। दूसरे वे होते हैं, जो वृत्तियोंके आश्रय हैं, वृत्तियोंके शान्त होनेपर अनुभवमें आते हैं और लौकिक दृष्टिसे वृत्तियोंके न रहनेपर भी जिनका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यों भी कह सकते हैं कि वृत्तियोंके शान्त होनेपर ही उनका आविर्भाव होता है। इन वृत्तियोंके आश्रयभूत आलम्बन और उद्दीपनोंसे जहाँ रसकी अनुभूति प्रारम्भ होती है, वहीं इस भक्तिरसका श्रीगणेश समझना चाहिए।

यद्यपि जीवका सम्पूर्ण प्रयत्न भगवत्कृपा और प्रेरणाके अधीन ही है, तथापि वृत्तियोंको शान्त करके निःसङ्कल्प हो जाना, अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना—यहाँतक साधनोंकी यत्किञ्चित् गति है। जब अपने इस सहजस्वरूपमें जीव स्थित हो जाता है, तब निखिल संसारकी निवृत्तिसे निश्चिन्तता और अखण्ड स्वातन्त्र्यका परम सुख उपलब्ध होता है। अन्तर्मुखताकी यही परम सीमा है और इसीको 'शान्त रस' भी कहा जा सकता है। अन्तरात्माकी इस शुद्ध स्थितिमें, जब कि वह बाह्य विषमताओंसे ऊपर उठ जाता है, भगवान्के ऐश्वर्यका आविर्भाव होता है। 'महतो महीयान्' प्रभुको अपनी सेवा स्वीकार करनेके लिए अनुग्रहवश सम्मुख प्रकट हुआ देखकर जीव अपनेको उनके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उनकी सेवाके लिए निछावर हो जाता है और उनकी सेवाका सुअवसर प्राप्त करके अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उसीमें संलग्न हो जाता है। इस अवस्थामें जीव

भगवान्‌के ऐश्वर्यमय लोकमें रहता है और वहाँकी प्रत्येक सम्भव सेवाका सौभाग्य प्राप्त करता है। पंखा झलना, चँवर डुलाना, चरणकमलोंका पखारना, दबाना तथा और भी बहुत प्रकारकी सेवाएँ मिलती हैं। भगवान् उन्हें स्वीकार करके बहुत प्रसन्न होते हैं। इस समय भक्तके सामने भगवान्‌का रूप होता है, लीला होती है और वह उनकी सेवामें लगा रहता है। इसके साथ ही भगवान्‌का ऐश्वर्य, उनकी अचिन्त्य शक्ति देख-देखकर भक्त उसीमें अपनेको डुबाता रहता है। इस परमेश्वरको अपने स्वामीके रूपमें प्राप्त करके जीव प्रतिक्षण एक अनिर्वचनीय रसका अनुभव करता है। भक्तका यह परमानन्द किसी भी लौकिक सुखसे तुलना करने योग्य नहीं रहता। भक्तका यही परमानन्द 'दास्य-रस'के नामसे विख्यात है।

जिस क्षण भक्त दास्य-रसकी अनुभूतिमें तन्मय रहता है, उस समय उसके हृदयमें यह कल्पना भी नहीं आ सकती कि दास्य-रससे ऊँचा भी कोई रस है। क्योंकि अपने एक-एक सङ्कल्पसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार करनेवाले प्रभुकी सेवासे बढ़कर और किसी स्थितिकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसलिए इसके आगेका रस भक्तको उसकी इच्छासे नहीं, भगवान्‌की इच्छासे प्राप्त होता है। तथापि भगवत्-सम्बन्धका रस सर्वत्र एकरस ही होता है। तथापि भगवद्-लीलाकी दृष्टिसे उसमें आगे-पीछेका व्यवहार भी एक प्रकार सङ्गत ही है। इसीसे इस नियमका कोई अपवाद नहीं कि सच्चा सेवक सखाके पदपर प्रतिष्ठित हुए बिना नहीं रहता। प्रेमी स्वामी जब देखता है कि सेवकका सच्चा प्रेम ही सेवाके रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है, तब वे उसे सेवक नहीं रहने देते, सखा बना लेते हैं। भगवान् तो किसीको अपना सेवक नहीं

मानते, वे सर्वभूतमहेश्वर होनेपर भी अपनी ओरसे सबके सुहृद् ही हैं। जीव जब उन्हें स्वामीके रूपमें प्राप्त करके उनकी सन्निधिमें रहते-रहते यह अनुभव करने लगता है कि ये तो अनन्त ऐश्वर्यवान् होनेपर भी उसके अभिमानी नहीं हैं, परम सहृदय एवं रसिकशिरोमणि हैं, किसीके भी साथ साधारणसे साधारण खेल खेलनेमें भी इन्हें कोई हिचक नहीं है, इसके विपरीत ये आनन्दित ही होते हैं, तब वह भगवान्की लीलाओंसे ही थोड़ा-थोड़ा ढीठ होने लगता है, और जहाँ वह हाथ जोड़े रहता था, बोलते समय सहम जाता था और कोई अपराध न हो जाय—इसके लिए काँपता रहता था, वहाँ वह अब हँस-खेल लेता है, उलाहना भी देने लगता है और कभी-कभी अपनी बात माननेके लिए जिद्द भी कर बैठता है। यद्यपि इसके चित्तसे ऐश्वर्यका पूरा भाव उठ गया हो—ऐसी बात नहीं होती, सेवासे वैमुख्य भी कभी नहीं होता, फिर भी अधिकांश ऐश्वर्यकी भावना अन्तर्हित ही रहती है। यही कारण है कि ऐसी स्थितिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक सेवा हो पाती है और कभी-कभी तो उपालम्भ देकर भी सेवा स्वीकार कर ली जाती है। श्रुतिमें भी भगवान् और जीवके सख्यका सुस्पष्ट निर्देश है।

भगवान्के सभी लोकोंमें कुछ-न-कुछ सखा रहते हैं। सभी अवतारोंमें उनका साहचर्य भगवान्को भी अपेक्षित रहता है। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान्की लीलामें तो सखाओंका ही प्राधान्य है। बचपनसे लेकर किशोरावस्थातक और जागरणसे लेकर शयनतककी लीलाओंमें ग्वालबालोंकी उपस्थिति अनिवार्य रही है। श्रीकृष्ण सोते ही रहते, आँगनमें ग्वालोंकी भीड़ इकट्ठी हो जाती। गोष्ठमें सब साथ-साथ गोएँ दुहते, गाँवके आस-पास बछड़ोंको चराते, गौओंके साथ-साथ जङ्गलमें जाते,

यमुनामें जल उछाल-उछालकर डुबकियाँ लगा-लगाकर नहाते, खेलते-कूदते, लड़ते-भिड़ते, गाते-बजाते और शामको मौजसे घर लौटते। ब्रजके ग्वाल-बाल रातमें भी श्रीकृष्णके साथ ही रहते थे, परन्तु सख्य-रसकी यह गुह्यलीला प्रकट करने योग्य नहीं है। ग्वालोंका जीवन, प्राण, शरीर और धन—सब कुछ श्रीकृष्णके लिए था और श्रीकृष्ण उनके थे—कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनकी प्रत्येक चेष्टा श्रीकृष्णके लिए ही थी। जङ्गलोंमें श्रीकृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते, दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते, तब किसी गोपकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते। कोई कोमल कोंपलों और सुकुमार कुसुमोंकी सेज बिछा देता, कोई साँवले शरीरपर मोतीकी तरह चमकते हुए श्रमबिन्दुओंको पोंछने लगता, तो कोई कमलके बड़े पत्तेसे पङ्खा झलने लगता, कोई बालोंपर पड़ी हुई धूलिको झाड़कर उनमें सुगन्धित पुष्प गूँथने लगता तो कोई पैर ही दबाने लगता; कोई नाचता तो कोई गाता, कोई ताली बजाने लगता तो कोई सींग। श्रीकृष्णको जैसे सुख पहुँचता, वे जैसे प्रसन्न होते, वही सब करने लगते। कभी उनसे होड़ भी लगाते, कभी उनको हरा भी देते और कभी-कभी तो दाँव लेते-लेते उन्हें परेशान कर देते। सख्य-भावकी इस पूर्णतामें जो रस था, जो रस है किसीकी बुद्धि उसकी कल्पना कर ले, उसको अपने आकलनके घेरेमें बाँध ले—यह सम्भव नहीं है।

सखा दो प्रकारके होते हैं—एक तो नित्य-सिद्ध और दूसरे साधन-सिद्ध। नित्य-सिद्ध वे हैं, जो भगवान्‌के चिदानन्दमय धामकी चिदानन्दमयी लीलामें भगवान्‌के नित्य सहचर हैं। साधन-सिद्ध वे हैं, जो अनेक जन्मपर्यन्त तपस्या करके भगवान्‌की कृपा और प्रसादका अनुभव कर सके हैं और क्रमशः

उत्तरोत्तर भावोद्रेकके अनुसार रसका अनुभव करते हुए सखाकी श्रेणीतक पहुँचे हैं। साधन-सिद्ध सखाओंकी श्रेणीमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी सभी हो सकते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्की लीलामें जो शरीर, मन, प्राण और नदी, वृक्ष, भूमि आदि होते हैं वे सब-के-सब चिन्मय एवं दिव्य होते हैं। वहाँ रोग, शोक, जरा-मृत्यु आदि दोषोंका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक ही ऋतुमें सब ऋतुएँ, एक ही समयमें सब समय, एक ही स्थानमें सब स्थान और एक वस्तुमें सभी वस्तुएँ समायी हुई हैं। संक्षेपमें भगवान्के लीला-धाममें देश, काल और वस्तुओंका भेद नहीं होता। भगवान्की इच्छा ही देश, काल और वस्तुओंके रूपमें प्रकट होती रहती है। एक ही समय, एक ही स्थानमें भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट रहते हैं, प्रत्येक व्यक्तिके साथ पृथक्-पृथक् लीला करते हैं। कहीं श्रीदामाके साथ कुश्ती लड़ रहे हैं; तो कहीं सुबलके साथ झूल रहे हैं। कहीं शरद् ऋतु है तो कहीं वसन्त। कहीं सायंकाल है तो कहीं प्रातःकाल। यशोदाके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और ग्वालबाल सोये हुए हैं, तो ग्वालोंके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण खेल रहे हैं ओर यशोदा दूसरे काममें लगी हैं। गोपियोंके लीलाक्षेत्रमें ग्वाल-बाल निकुञ्जमें प्रवेश नहीं कर सकते, तो ग्वालोंके लीलाक्षेत्रमें गोपियाँ केवल दधि-दान लेनेके लिए छेड़खानी करनेको पात्रमात्र हैं। कहीं ग्रीष्मकी दोपहरी है, यमुनास्नान हो रहा है, तो कहीं शरद्की पूर्णिमा है, अमृतमयी ज्योत्स्नाका रस लूटा जा रहा है। इन सभी लीलाओंमें नित्यसिद्ध और साधनासिद्ध दोनों प्रकारके सखा नित्य सम्मिलित होते हैं।

व्रजके सखाओंकी चार श्रेणियाँ हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था श्रीकृष्णसे कुछ बड़ी

होती है। उनके सख्यमें वात्सल्यका लोकोत्तर सौरभ रहता है। उनके हाथोंमें कोई-न-कोई शस्त्र रहता है, जिसमें वे दुष्टोंके आक्रमणसे श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिए निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। इस श्रेणीमें बलराम, सुभद्र, मण्डलीभद्र, वीरभद्र आदि बहुत-से सखा हैं। ये श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए इतने सतर्क रहते हैं कि कहीं बादल गरज जायँ तो ये वृषभासुर-जैसे दानवकी आशङ्कासे सजग हो जाते हैं और श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंकी तनिक भी परवाह नहीं करते। इस श्रेणीके सखाओंमें मण्डलीभद्रका शरीर भौंरे-जैसा काले रंगका है। गुलाबी रंगका वस्त्र धारण करते हैं। सिरपर मयूरपिच्छ है, हाथमें लाठी। देखिये, सुबलसे क्या कह रहे हैं—'सुबल, मेरा कन्हैया दिनभर जङ्गलोंमें घूमते-घूमते थक गया है; इसकी खुमारी पूरी उतर जाय, ऐसी चेष्टा करनी चाहिए। मैं धीरे-धीरे सिर मलता हूँ, तुम पैर दबाओ। नींद गाढ़ी हो जायगी, तब हम पंखा झलेंगे।' बलरामका शरीर शरत्कालीन मेघके समान शुभ्रवर्ण है। नीला वस्त्र, घुंघचीकी माला, एक कानमें कुण्डल और एक कानमें कमल, भौंरे मँडरा रहे हैं। लम्बी-लम्बी भुजाएँ श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए फड़कती रहती हैं। सुबलसे आप कहते हैं—'सुबल! आज माँने मुझे रोक लिया है, मैं श्रीकृष्णके साथ नहीं जा सका। आज मेरी जन्मतिथि है, क्या करूँ? कृष्णके बिना मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। तुम जाकर उसे कह दो आज कहीं भूलकर भी कालीदहकी ओर न जाय। गाँवके आसपाससे ही गौओंको चराकर लौटा ले आये।' बलराम आज अपने कृष्णके साथ नहीं जा सके, परन्तु उनकी आत्मा श्रीकृष्णके साथ ही है और वे उन्हींकी रक्षाके लिए चिन्तित हैं। यह वात्सल्यमिश्रित सख्य है।

• • •

सखाओंकी अवस्था कुछ छोटी किन्तु समानताको लिए हुए ही होती है। उनके सख्यमें दास्यका किञ्चित्-मिश्रण रहता है, क्योंकि प्रेम सेवाके रूपमें ही प्रकट होता है। इस श्रेणीमें विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, मरन्द, मणिवन्ध आदि हैं। ये सेवाके लिए निरन्तर उत्कण्ठित रहते हुए आपसमें एक दूसरेको प्रेरित करते रहते हैं। देखिये, एक सखा वोल रहा है—'विशाल, तुम पद्मिनीके पत्तेसे पङ्खा झलो। वरूथप, तुम बिखरे हुए बालोंको सँभालो। वृषभ, तुम बातें बन्द करके पैर दबाओ। आज मेरा प्यारा कृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते थक गया है।' इस श्रेणीके सखाओंमें देवप्रस्थ सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके रूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—शरीर रक्तवर्ण है, वसन्ती रङ्गका वस्त्र धारण करते हैं। हाथमें गेंद है, गौओंकी रस्सी सिरपर लपेटे हुए हैं। कितनी सुन्दर झाँकी है! पर्वतकी एक विशाल कन्दरामें श्रीदामाकी लम्बी बाँहपर सिर रखकर श्रीकृष्ण लेटे हुए हैं। दामाका हाथ हृदयपर है और देवप्रस्थ धीरे-धीरे उनका पैर दबा रहे हैं। श्रीकृष्णकी सेवा ही इनका जीवन है।

प्रियसखाओंकी अवस्था श्रीकृष्णके बराबर होती है। इनमें दास्य और वात्सल्य दोनोंको दबाकर केवल सख्यभाव प्रकट रहता है। ये विभिन्न क्रीड़ाओंसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते रहते हैं, कुश्ती लड़ते हैं, लाठी भी चलाते हैं और जैसे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों, वैसी ही चेष्टा करते हैं। इनमें श्रीदामा, सुदामा, दामा, वसुदामा, स्तोककृष्ण आदि सखा हैं। इनमें श्रीदामा मुख्य हैं। इनमें-से कोई उल्टी बात कहकर श्रीकृष्णको हँसाता है, कोई बाँहें फैलाकर पुलकित शरीरसे भेंटता है, कोई धीरे-धीरे पीछेसे आकर आँखें बन्द कर लेता है। इस प्रकारकी सुखमय क्रीड़ा

प्राय: हुआ करती है। श्रीदामाका शरीर मनोहर श्यामवर्णका है, पीताम्बर धारण करते हैं, सिरपर लाल पगड़ी है, हाथमें सींग और रस्सी हैं। प्रेमवश श्रीकृष्णका हर बातमें मुकाबला किया करते हैं। देखिये, श्रीकृष्णसे मिलते हुए क्या कह रहे हैं— कन्हैया, तुम बड़े निष्ठुर हो; एकाएक हम लोगोंको यमुनातटपर छोड़कर कहाँ चले गये ? यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि शीघ्र ही तुम मिल गये। अच्छी बात है; आओ, सबको गले लगा-लगाकर आनन्दित करो। मोहन, मैं तुमसे सच कहता हूँ—'एक क्षणके लिए भी जब तुम आँखोंसे ओझल हो जाते हो, तब गौएँ क्या हैं, हम कौन हैं, गोष्ठ किधर हैं और हमें क्या करना चाहिए—इसका ध्यान ही नहीं रहता, सारी-की-सारी व्यवस्था ही उल्टी हो जाती है।' कितना प्रेम है !

प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी पूर्वोक्त तीनों श्रेणियोंसे अन्तरङ्ग है। इनकी भावना और भी ऊँची होती है और रहस्यकी बातोंमें इनका प्रवेश रहता है। इस श्रेणीमें सुबल, वसन्त, उज्ज्वल, गन्धर्व आदि सखागण हैं। समय-समयपर ये श्रीकृष्णका सन्देश श्रीकिशोरीजीको पहुँचाते हैं और उनके सन्देश श्रीकृष्णके पास ले आते हैं। उनके भेजे हुए चित्रपट, पान आदि भी ये लाकर देते हैं। इनमें सुबल और उज्ज्वल प्रधान हैं। सुबलकी अङ्गकान्ति सोने-जैसी है, हरे रंगका वस्त्र धारण करते हैं, आँखें कमल-सी हैं और नीतियुक्त वचनोंके द्वारा ये ग्वाल-बालोंको आनन्दित करते रहते हैं। उज्ज्वलकी अङ्गकान्ति श्रीकृष्णकी भाँति वर्षाकालीन मेघके समान है। लाल वस्त्र धारण करते हैं, आँखें बड़ी चञ्चल हैं, इनके बालोंमें सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगे रहते हैं। इनके सम्बन्धमें गोपियाँ चर्चा करती रहती हैं—'कहीं श्रीकृष्णका सन्देश लेकर उज्ज्वल आ गया तो हमारे

मानकी रक्षा नहीं। वह बातचीत करनेमें इतना चतुर है कि उसके सामने हमारी एक नहीं चलती, हार जाना पड़ता है।' ग्वालोंमें भी उज्ज्वल हास्यके लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। ये तरह-तरहकी युक्तियोंसे ग्वाल-बालोंको हँसाया करते हैं। ग्वाल-बालोंमें बहुत-से शास्त्रके बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई-कोई लोक-व्यवहारमें बड़े निपुण हैं। कोई-कोई इतने खिलाड़ी हैं कि उनके खेल देखकर देवता भी चकित हो जाते हैं। कोई श्रीकृष्णके साथ वितण्डा करते हैं तो कोई मधुर भाषणसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते हैं। सबकी प्रकृति मधुर है। सबका प्रेम लोकोत्तर है। सबके सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं। सबके हृदय-सिंहासनके एकमात्र सम्राट् हैं 'श्रीकृष्ण'।

बड़े-बड़े सन्त आत्माके रूपमें जिनका उनुभव करते हैं, नारदादि श्रेष्ठ मुनिगण परमाराध्य इष्टदेवके रूपमें जिनकी आराधना करते हैं, जो अनन्तर ऐश्वर्य और माधुर्यके एकमात्र केन्द्र होनेपर भी इन ग्वालबालोंके प्रेमवश इनके-जैसे होकर सामान्य बालककी भाँति लीला कर रहे हैं, उन भगवान्के प्रेम, दया और सुहृदताका कौन वर्णन कर सकता है ? देखिये, आपके सामने यह वृन्दावनधाम है। कितनी सुगन्धि और कितना सौन्दर्य है इसमें। भूमिपर हरी-हरी दूब और वृक्ष पुष्पोंसे लदे हुए। एक ओर यमुना, दूसरी ओर गौओंके झूण्ड-के-झुण्ड। इनके चरवाहे कौन हैं ? वही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण। पीताम्बर धारण किये हुए, सिरपर मयूरपिच्छ, कानोंमें कनेरके पुष्पोंका कुण्डल, अखाड़ेमें ग्वाल-बालोंके साथ नटोंकी तरह पैंतरा बदल रहे हैं। ग्वाल-बाल ताल ठोंक-ठोंकर ललकार रहे हैं। कोई किसीकी प्रशंसा करता है तो कोई ताल दे रहे हैं। अद्भुत लीला है! अनिर्वचनीय प्रेम है। विस्मित हो-

होकर देवता लोग पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। हो जाइये आप भी इस आनन्दमें सम्मिलित।

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें अवस्था, रूप, सींग, वंशी, विनोद आदि बहुत-से पदार्थ हैं। जिस समय श्रीकृष्णके पास पहुँचानेके लिए ग्वालबाल व्याकुल रहते हैं, छटपटाते हैं, इधर-उधर भटकते रहते हैं, उस समय सींग या बाँसुरीकी ध्वनि उन्हें बता देती है कि इस समय कृष्ण कहाँ हैं। इस रसमें सभी प्रकारके अनुभाव होते हैं। गेंद खेलना, एक दूसरेपर सवारी गाँठना, झूला झूलना, दौड़ना, कलेऊ करना, जलविहार करना, नाचना, गाना इत्यादि बहुत-से अनुभाव प्रकट होते हैं। ये श्रीकृष्णका शृङ्गार करते हैं, कभी उन्हें फूलोंसे ढक देते हैं, कभी उनके कपड़े पकड़-कर खींचते हैं, कभी श्रीकृष्ण उनका शृङ्गार करते हैं, तो कभी हाथापाई भी हो जाती है।

सख्य रसकी अनुभूतिमें सभी सात्त्विक भाव भी प्रकट होते हैं। उस दिन जब श्रीकृष्ण कालीदहमें कूद पड़े थे, ग्वाल-बालोंकी क्या-क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार वे मूच्छित और मृतप्राय हो गये थे—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस समय श्रीकृष्णने बाहर निकलकर श्रीदामाकी मूर्च्छा तोड़ी उस समय श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए श्रीदामाने अपनी बाँहें फैलानेकी चेष्टा की; परन्तु वह उठा नहीं सका, उसके सारे शरीरमें जड़ता आगयी थी, वह स्तम्भित हो गया था। गोपियाँ सुबलसे कहा करती थीं—'सुबल, तुम धन्य हो! गुरुजनोंके सामने ही पुलकित शरीरसे तुम श्यामसुन्दरके शरीरसे लिपट जाते हो। वे भी तुम्हारे कन्धोंपर हाथ रख देते हैं। कितना पुण्यमय है तुम्हारा जीवन! हम तो निछावर हैं तुम्हारे ऐसे जीवनपर।'

● ● ●

सख्य-रसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—सख्य-रति, प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग। मिलनकी उत्कण्ठाका नाम 'रति' है। 'कब मिलेंगे? कब मेरे प्रियतमकी मधुर वाणी मेरे कानोंमें अमृतकी वर्षा करेगी? कब मैं उनका संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाऊँगा?' यह सख्य-रतिकी अवस्था है। सम्भ्रमित और स्तम्भित हो जानेकी स्थितिमें भी प्रभावित न होना प्रणयका लक्षण है। व्रजमें भगवान्‌की स्तुति करनेके लिए ब्रह्मा एवं शङ्कर-जैसे श्रेष्ठ देवता आये हुए हैं; वे अञ्जलि बाँधकर नत-मस्तक होकर श्रीकृष्णकी अभ्यर्थना कर रहे हैं। परन्तु प्रणयकी ऐसी महिमा कि ग्वाला अर्जुन श्रीकृष्णके कन्धेपर हाथ रखकर मुकुटपर पड़ी हुई धूलि झाड़ रहा है। तिरस्कृत, अपमानित, दुःखित और निराश होनेपर भी सख्यका उत्तरोत्तर उन्मेष प्रेमका लक्षण है। अपने प्रियतम जिस अवस्थामें रक्खें, उसी अवस्थामें रहकर प्रसन्न होना और उनकी प्रसन्नताके लिए ही प्रत्येक चेष्टा करना स्नेहका लक्षण है। रागका अर्थ है सर्वस्वका बलिदान, अपने लिये कुछ न रखना। अश्वत्थामाने श्रीकृष्णपर बाण चलाया, अर्जुनने आगे होकर उसे अपनी छातीपर ले लिया और उसे मालूम हुआ मानो किसीने सुकुमार पुष्प फेंके हैं। श्रीकृष्णका सखा वृषभ जेठकी दुपहरीमें नंगे सिर श्रीकृष्णको माला पहनानेके लिए फूल चुन रहा है। सूर्यकी प्रखर किरणें उसे ऐसी मालूम होती हैं मानो शरद्‌की चाँदनी हो।

सख्य रसमें संयोगके ही समान वियोग भी होता है। सहृदय पुरुषोंका कहना है कि बिना वियोगके संयोगकी पुष्टि नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंकी क्या अवस्था होती है—यह प्रायः लोग जानते ही हैं। अपने सखा श्याम-सुन्दरसे बिछुड़नेपर ग्वाल-बालोंकी स्थिति भी वैसी ही हो

जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने इनका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसके स्मरण मात्रसे एक बार तो पत्थर-सा हृदय भी पिघल ही जाता है। एक ग्वाल, श्रीकृष्णका विरही ग्वाल क्या कह रहा है, सुनिये तो सही—

अघस्य जठरानलात् फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतो
दवस्य कवलादपि त्वमवितात्र येषामभूः।
इतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरघाटीधरात्
कथं ग विरहज्वरादवसि तान् सखीनद्य नः॥

मोहन! अघासुरके जठरानल, कालिय-ह्रदके विष और दावानलके ग्राससे जिन्हें तुमने बचाया था, वे ही तुम्हारे सखा आज उन तीनोंसे भी प्रत्यक्षतः घोरतर शक्तिवाले इस भयङ्कर बिरहकी ज्वालासे भस्म हो रहे हैं। तुम कहाँ हो, क्यों नहीं हमारी रक्षा करते? क्या हम दूसरे हो गये? हम वही, तुम वही, कष्ट उससे भी भयङ्कर। फिर तुम्हारा न आना—हमारी रक्षा न करना—कहाँ तक उचित है?

उद्धव आये व्रजवासियोंका प्रेम देखने। वे जो कुछ शिक्षा ले गये व्रजसे, महात्माओंने उसका खूब गायन किया है। ग्वालोंकी क्या स्थिति देखी थी उन्होंने, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। वे श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—

प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभरं
तुषारेऽपि प्रौढिं दिनकरसुतास्रोतसि गतः।
अपूर्वः कंसारे सुबलमुखमित्रावलिमसौ
बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति॥

श्रीकृष्ण, तुम्हारे विरहकी धधकती हुई अपूर्व ज्वाला सुबल आदि सखाओंको रात-दिन जला रही है। वे जब अत्यन्त शीतल भाण्डीर वटकी छायामें जाते हैं, तब वह ज्वाला और भी उग्रतर

रूप धारण करती है। जब वे यमुनाकी हिमशीतल धारामें प्रवेश करते हैं, तब उस ज्वालाका चमत्कार और भी बढ़ जाता है। कहाँ जायँ, किसका आश्रय लें? जिस भाण्डीरके नीचे वे तुमसे दाव लेते थे, जिस यमुनामें पानी उछालकर तुम्हें हरा देते थे—वही भाण्डीर, वही सूनी यमुना आज उनको जलायेगी नहीं तो क्या करेगी? श्रीकृष्ण, तनिक सोचो तो उनके तापको। कितने तप्त हैं वे तुम्हारे लिए?

अब उनके शरीरमें दम नहीं है—दिन-दिन उनका शरीर छीज रहा है, केवल लम्बी साँस ही उनके जीवनकी निशानी है—

त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं
गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम्।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो
समीरस्य घ्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत्॥

तुम तो कंसकी मुक्तिके लिए—सखाओंको छोड़कर इस सुन्दर नगरीमें चले आये। उधर उनकी क्या दशा है, जानते हो कुछ? ग्वालोंका गम्भीर खेद उनके शरीरको खाये जा रहा है, तुम तो दैत्योंके दुश्मन हो, उन बेचारोंकी ओरसे इतनी उदासीनता क्यों? देखो तो सही! अब उनके शरीरमें पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश कितने कम हो गये हैं? बाकी है तो केवल वायु, जो नासिकामार्गसे बड़े वेगसे चल रहा है। अब उनकी मृत्युमें कोई विलम्ब नहीं है। जल्दी करो, रक्षा करो! उनकी यह कृशता तुमसे कैसे सही जा रही है?

श्रीकृष्ण! उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ गयी है कि नींद तो उन्हें कभी आती ही नहीं। निद्राने उनकी आँखोंको स्वयं छोड़ दिया—

नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्वं वाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच॥

आँखें कभी खाली हो, तब तो नींद आवे ? जब देखो आँसू—बस, आँखें आँसुओंसे भरी ही रहती हैं। निद्रासे देखा नहीं गया। उसका भी हृदय फटने लगा उनकी विरह-व्यथा देखकर। उसने आना ही छोड़ दिया। इस तरह वे कितने दिन स्वस्थ रह सकेंगे ? वे तुम्हारे लिए पागल तो हैं ही उनका यह पागलपन और मत बढ़ाओ श्रीकृष्ण !

उनका जीवन आलम्बशून्य हो रहा है। तुम्हीं थे उनके जीवन, उनके सर्वस्व, और आलम्बन, सो तुम्हीं नहीं रहे। अब वे कैसे जीवित रहें ? एक ग्वालने मुझसे कहा था—

गते वृन्दारण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि।
नहि भ्रामं भ्रामं भजति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्वचिदपि विलम्बं लवमपि ॥

जब मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण वृन्दावनसे चले गये, एक क्षणके लिए भी मेरा चित्त कहीं स्थिर नहीं हुआ। वह रुईकी तरह हलका होकर इधर-उधर उड़ता ही रहता है। उसका भटकना बन्द ही नहीं होता। कभी आकाशमें जाता है तो कभी पातालमें। जहाँ उसके आलम्बन श्रीकृष्ण ही नहीं, वहाँ वह कैसे ठहरे ? अब ग्वाल-बाल घबरा गये हैं, उनके धैर्यका बाँध टूटनेवाला ही है। श्रीकृष्ण ! मैंने कई महीनोंतक रहकर स्वयं उनकी दशा देखी है—

रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निर्वृत्ति
कलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम्।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते
यदुवर विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः ॥

• • •

वे अब अपनी जीविकाका काम पशुपालन भी छोड़ रहे हैं। गौएँ भी तो हुंकार भर-भरकर तुम्हें ढूँढ़ती ही रहती हैं। जो कुछ उन्हें कलाका—नाचने-गाने-बजाने आदिका ज्ञान है, उसे भूलनेके लिए कोटि-कोटि यत्न कर रहे हैं। और तो क्या कहूँ ? श्रीकृष्ण ! अब वे जीनेकी इच्छा भी नहीं करते। उन्हें कोई कैसे धीरज बँधावे ?

जान-बूझकर वे अपनी जीविका आदिका त्याग कर रहे हों, ऐसी बात भी नहीं है। तुम्हारे विरहके कारण उनमें जड़ता आ गयी है। उनकी दशाका स्मरण करके हृदय फटने लगता है—

अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षाङ्गकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहिताश्छविच्छायया।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदां गणाः शिखरजातवृक्षा इव ॥

शरीरपर वस्त्र नहीं, दुबले-पतले, अस्त-व्यस्त, रूखे-सूखे, जीविकाहीन, सौन्दर्यरहित। मुखसे एक शब्द भी नहीं बोलते। ऐसा मालूम पड़ता है कि पर्वत-शिखरपर निष्कम्प वृक्ष खड़े हों। श्रीकृष्ण ! उनसे भी गयी-बीती हालतमें हैं तुम्हारे सखा। इसका कारण क्या है जानते हो न ? तुम्हारा विरह ! तुम्हारे विरहसे ही वे जडप्राय हो गये हैं। मेरी तो आँखें आसुओंसे भरी जा रही हैं, बोला नहीं जाता, क्या तुम इतने निष्ठुर हो गये ?

उनकी व्याधि कल्पनामात्रसे मेरे हृदयको जर्जरित कर रही है। उनकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है—मेरा हृदय टूटा जा रहा है। चलो न, अपनी आँखसे ही देख लो ! न हो तो फिर लौट आना—

विरहज्वरसंज्वरेण ते ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर तटे विचेष्टते चिरमाभीरकुमारमण्डली॥

कबसे यमुनातटपर ग्वाल-बाल लोट रहे हैं? हृदयमें तुम्हारे विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, शरीरका एक-एक बन्धन टूट रहा है। क्या तुम उन्हें इस स्थितिमें देख सकोगे? श्रीकृष्ण! तुम्हारी यह गम्भीरता नष्ट होकर रहेगी। तुम्हें उनको अपने गले लगाना पड़ेगा।

उनकी उन्मत्त चेष्टा कल्पनातीत है। तुम आज मथुराके स्वामी हो, भूल जाओ उन्हें। परन्तु सोचो तो, क्या यह उचित है? उनका उन्माद आज सीमाका उल्लङ्घन किये जा रहा है—

विना भवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
जगद्व्यवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिताः।
लुठन्ति भुवि शेरते वत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते किमपि वल्लवानां गणाः॥

विरहके विभ्रमने यहाँतक उन्हें उन्मत्त कर दिया है कि वे आपको भी भूल गये हैं। जगत्के व्यवहारोंकी मर्यादा तो अलग ही रही। वह तो सब-की-सब उसकी स्मृतिसे बहुत दूर हो गयी है। वे कभी जमीनपर लोटते हैं, कभी सो जाते हैं, कभी हँसते हैं, कभी दौड़ते हैं, कभी रोते हैं, कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। सारे जगत्को तुमने सुखी किया, केवल अपने ग्वालोंको रुलाया। आज संसारमें आनन्दोत्सव मनाया जा रहा है और गोकुलमें सबकी आँखें अन्धी हो रही हैं - किसीकी मूर्च्छा ही नहीं टूट रही है। यह मूर्च्छा कहीं मृत्युका रूप न धारण कर ले?

श्रीकृष्ण! उनकी मृत्यु भी उनसे दूर नहीं। क्या मृत्यु इससे कुछ भिन्न होती है?

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि ॥

श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहज्वरकी लहरोंसे उत्पन्न ज्वालाओंने उनको इतना जर्जरित कर दिया है कि तुम्हारे ग्वाल-बाल पर्वतकी तराइयोंमें इस प्रकार पड़े हुए हैं कि अब उनका श्वास भी बन्द हो गया है। देखो, उनके परिचित प्रेमी हरिण अपनी अपरिमित अश्रुधारासे बार-बार सींचकर भी जब उन्हें नहीं जगा पाये, उनकी निश्चलताको भंग नहीं कर सके तो अब वे बेचारे निरुपाय होनेके कारण शोकाकुल हो रहे हैं।

इससे भी अधिक कोई करुण अवस्था हो सकती है? हृदय फटा-सा जाता है उनकी अवस्थाकी कल्पना करके; परन्तु प्रेमियोंकी अवस्थाका यहीं अन्त नहीं है। वे मर-मरके जीते हैं, जी-जीके मरते हैं। मरनेपर भी उनके हृदयमें वही व्याकुलता, वही प्रेम और वही मिलनोत्कण्ठा! परन्तु यह रस है। इसका स्वाद जिसको मिल गया, वह इस दुःख या मृत्युका प्रतीकार नहीं करता। वह तो जन्म जन्म इसी अवस्थामें रहना चाहता है। भगवान्का विरह—संसारके सभी संयोग-सुखोंसे श्रेष्ठ सुख है। कई भक्त तो यह भी कहते हैं कि भगवान्के संयोगसे भी उनका वियोग—विरह अच्छा है। यदि किसीको उनके विरहका घाव लग जाय तो फिर उसकी कोई दवा नहीं। दवाकी जरूरत भी नहीं।

यह ग्वाल-बालोंका विरह प्रकट लीलाके अनुसार है। गुप्त-लीलामें तो इनका कभी भगवान्से विरह होता ही नहीं। जगत्के लोगोंको भगवान्के विरहमें कितनी पीड़ा होनी चाहिए, इसका

यह निदर्शनमात्र है। इस विरहके द्वारा संयोगकी परिपुष्टि होती है। जिसके विरहमें इतना दुःख है, उसके संयोगमें कितना सुख होगा ! जब आगे-आगे गौएँ चलती हैं और पीछे-पीछे धूलि-धूसरित श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हुए, ग्वाल-बाल उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गाते हुए और ताल भरते हुए—कितना आनन्द होता है उस समय ! उसको 'आनन्द' शब्दकी सीमामें बाँधना ही अन्याय है। यह दर्शन देखनेवालों, स्मरण करनेवालोंके चित्तमें ही परम रसका सञ्चार कर देता है। गोपयाँ—इसी वेशको देखकर तो श्रीकृष्णपर निछावर हुई थीं। जब सख्यकी लीलाओंको देखनेवाले इतने प्रभावित, चमत्कृत और आनन्दित होते हैं, तब जो स्वयं सख्य-रसका आस्वादन करते हैं उनके आनन्दकी कल्पना कौन कर सकता है ? ब्रह्मा भी उनके भाग्यकी सराहना करते हैं—'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।' श्रीशुकदेवजीके शब्दोंमें—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

•

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

'सखी ! आज तुम पहले-पहल इस प्रेमनगरमें आयी हो, इसलिए चलो; तुम्हें यहाँकी कुछ बातें बताऊँ और भगवान्‌की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ।'

'भगवान् तो लाड़िलीजीके साथ उस कुञ्जमें चले गये न ? अब लीला क्या दिखाओगी ? कुछ उनके प्रेमकी बात सुनाओ ! मेरी बात सुनकर तुम हँसने क्यों लगीं ? क्या कोई रहस्यकी बात है ? यदि है और मैं उसे जानने-देखनेकी अधिकारिणी हूँ तो अवश्य बताओ—और दिखाओ।'

'सखी ! भला तुम किस बातकी अधिकारिणी नहीं हो ? तुमपर युगल-सरकारकी अपार कृपा है, अनन्त प्रेम है। इस प्रेमनगरमें केवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माओंका ही प्रवेश हो सकता है। आश्चर्य मत करो, प्रेमसे सुनो और देखो, देख-देखकर आखें सफल करो। भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है, अद्‌भुत है। तर्क युक्तियोंसे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। वह तो केवल कृपासाध्य है, अनुभवगम्य है। परन्तु है और ऐसी ही है, जो कि अभी मैं तुम्हें दिखाऊँगी।'

'मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है। अब विलम्ब मत करो। जल्दी दिखाओ।'

'हाँ हाँ !! अब विलम्बकी क्या बात है ? चलो, चलती चलें और बात भी करती चलें। देखो, इस प्रेमनगरकी बात निराली है। इसके विभिन्न भागोंमें भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ

करते रहते हैं। ये लीलाएं अनादिकालसे अनन्तकालतक अर्थात् सर्वदा नित्य प्रवाह-रूपसे चलती ही रहती हैं। कभी बन्द नहीं होतीं। किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पर्श नहीं कर सकता। प्रत्युत ज्ञानके द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्के प्रलयके पश्चात् किसी-किसी महापुरुषको भगवान् अपनी इस लीलाभूमिमें बुला लेते हैं। चलो, देखो, अभी मैं तुम्हें विभिन्न भागोंमें ले चलकर भगवान्की दिव्य लीलाओंका दर्शन कराती हूँ। तुम देखोगी कि कहीं रासलीला हो रही है तो कहीं चीरहरण हो रहा है। कहीं पूर्वराग, तो कहीं मानलीला और कहीं संयोग तो कहीं वियोग हो रहा है। तुम आश्चर्य क्या करती हो? यह भगवान्की लीला है न? जैसे अनिर्वचनीय भगवान् हैं वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है। यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणोंका प्रवेश नहीं, जड़ताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो केवल चिन्मय ही चिन्मय है। भगवद्विग्रह चिन्मय, लीला चिन्मय और धाम चिन्मय है। यों भी कह सकती हो कि सब भगवान् ही भगवान् हैं। वे ही लीलाधाम रमणीय और रमणके रूपमें हो रहे हैं।'

'अच्छा, तो अब चलो, तुम्हें कुछ कुमारियोंके दर्शन कराऊं। परन्तु इससे पहले एक बात और सुन लो। इस प्रेमनगरमें कालकी गति तो है नहीं, इसलिए एक ही समय कहीं वसन्त, कहीं वर्षा, कहीं शरद्, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त ऋतु रहती है। युगल-सरकारके विहार-कुण्डमें तो ग्रीष्म ही ग्रीष्म चलता है। एक साथ ही कहीं सूर्योदय हो रहा है तो कहीं सन्ध्या! कहीं रात्रि है तो कहीं दिन! सब भगवान्की लीला है न!

'और उनकी बात क्या सुनाऊँ? वे एक स्थानपर यशोदाकी

गोदीमें बैठकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए दूध पी रहे हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालवालोंके साथ खेल रहे हैं और तीसरे स्थानपर गोपियोंके साथ रास-विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त है, उनके प्रेमरसके आस्वादनके भाव अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेम-भावोंका आस्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमें ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना, समझीं ?

'देखो सायंकालका समय है, सूर्यकी रक्तरश्मियाँ हरे-भरे लताकुञ्जोंपर पड़कर दूसरा ही रंग ला रही हैं। कुञ्जोंके सामने कुछ नन्हीं-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न ? उनकी आँखें कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामें लगी हुई हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है! बात यह हुई कि आज इन्होंने पहले-पहल बाँसुरीकी वह मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमें न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्यों न हो ? जिसे सुनकर बड़े-बड़े मुनियोंसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमें लगे रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली ब्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सम्हाल सकती हैं? हाँ, फिर उन्होंने जाकर अपनी बड़ी बहनोंसे पूछा—यह किसकी ध्वनि है? जबसे उन्होंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोंकी बात इन्हें बतायी है, तबसे इन्हें और कहीं चैन ही नहीं पड़ती। बड़ी व्याकुलताके साथ गौओंको चराकर लौटनेका मार्ग देख रही हैं।

'देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिए

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओंकी भीड़ उन्हींके स्वरमें स्वर मिलाकर गायन करती हुई उन्हींको देख-देखकर प्रेमकी मस्तीमें छकी हुई चली आ रही हैं। काले-काले लम्बे घुँघराले बालोंसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोंपर, वनमालापर, पीत पटपर और बालोंपर भी गो-रज पड़ी हुई है। हाँ, वह देखो, बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुस्कराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस, अब क्या! ये सदाके लिए उनके हाथों बिक गयीं। उनके हृदयमें प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उस' है।

'श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौड़कर उन्हें गोदीमें उठा ले गयी होंगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाड़ले लालकी दिनभरकी थकावट मिटाती होंगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हें पानेका यत्न करेंगी। अब आओ, दूसरे प्रदेशमें चलें।'

'देखो अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुराग-भरी रश्मियोंसे प्राची दिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त ऋतुकी इस सरदीमें कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ श्रीकृष्णके नामोंका मधुर संकीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो इनके सोनेका समय है। परन्तु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड़ सकती है? इन्हें ठण्डकी परवाह नहीं, शरीरकी सुध नहीं और गुरुजनोंकी लाज नहीं। ये तो प्रेमकी पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं? इस कड़ाकेके जाड़ेमें नग्न होकर घण्टों यमुना-जलमें स्नान करती हैं

और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनी देवीकी पूजा करती हैं। इनका मन्त्र, उफ् कितना सीधा मन्त्र है ? कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं। कहती हैं 'देवी ! नन्दलाड़ले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ।' कितना सीधा मन्त्र है !'

'एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेंगे, इन्हें सर्वदाके लिए अपनायेंगे। उन्हें कोई चाहे और वे न मिलें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे प्रेम-परवश हैं,—दयालु हैं और हैं बड़े भक्तवत्सल। इस अवस्थाका नाम है—'यत'। इसमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना बड़ी लगनके साथ चलती है !'

'देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमें बातचीत कर रही हैं। चलो, पाससे सुनें। इस प्रेमनगरमें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं। ये गोपियाँ तो श्रीकृष्ण-प्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमें बड़ा आनन्द है।'

हाँ, सुनो एक क्या कह रही है—

'सखी ! यहाँकी हरिणियाँ कितनी भाग्यवती हैं, जो बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी चितवनसे उन्हें निहार-निहारकर अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंका लाभ लेती हैं और उनकी पूजा करती हैं। उनका वह जीवन कितना धन्य है। और हम, हम अपने पतियोंके साथ नहीं जा सकतीं। क्या, हम भी उसी योनिमें होतीं ! तब हमें कोई न रोकता। परन्तु रोकनेसे क्या होता है ? हम तो इन्हें निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी। अब किसीके रोके नहीं रुकतीं।'

'सभी बारी-बारीसे कुछ कह रही हैं। कितना प्रेम है ! जीवनमें यदि ऐसी लालसा जग जाय तो क्या पूछना है ? फिर

तो सर्वदाके लिए भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय। देखो, वह देखो. कई गोपियाँ अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी प्रशंसा करती हुई यमुनाकी ओर बढ़ रही हैं। ये यमुनामें स्नान करने और जल भरने तथा दही-दूधके बेचने आदिका बहाना बनाकर प्रायः ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी झाँकी किया करती हैं। इनका प्रेम धन्य है, इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है। इसका नाम है 'ललि'।

'जब प्राण-प्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द ही आनन्द रहता है, परन्तु यदि एक क्षणके लिए भी वियोग हो जाय तो असीम दुःख भी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षोंमें, लताओंमें, कुञ्जोंमें छिप जाते हैं और गोपियाँ बिना पानीके मछलियोंकी भाँति तड़फड़ाने लगती हैं। देखो, हम तो देख ही रही हैं कि वह आड़में खड़े होकर मुस्कुरा रहे हैं और उधर उस गोपीकी बुरी दशा हो रही है। मुँह पीला पड़ गया है। सिर झुक गया है। आँसू बहाती हुई आँखें इधर-उधर चकपकाकर देख रही हैं। चुने हुए फूल गिर पड़े इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है। अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होने-वाली है। पर भगवान् उसे मूर्च्छित थोड़े ही होने देंगे। आकर अभी-अभी उठा लेंगे। परन्तु प्रेमकी यह दशा है बड़ी सुन्दर। इसे 'दलित' कहते हैं। जिसे यह प्राप्त हो जाय उसीका जीवन सफल है।

'जब 'दलित' दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं। उस दिनकी बात है—श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये। हम विकल होकर वन-वनमें

भटककर ढूँढ़ने लगीं। वृक्षों, लताओं, पशु-पक्षियोंतकसे पूछने लगीं! परन्तु कौन बताता है। वह तो हमारा पागलपन था। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम अपने आपको भूल गयीं। बस; केवल रोना-ही-रोना अवशेष रहा। परन्तु उसी रोनेके अन्दर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये। कितना सुन्दर था वह क्षण! उन्हें देखते ही मानो मुर्देमें जान आ गयी हो, हम सब उठकर खड़ी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड़ लिया। किसीने अपने हाथोंको उनके कन्धोंपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।

'उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूल ही गयीं। विरहका दुःख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी, तो दूसरी हृदयके अन्तस्तलमें उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परन्तु यह समाधि योगियोंकी-सी समाधि नहीं थी। इसमें आँखें बन्द तो थीं परन्तु इसलिए बन्द थीं कि कहीं हृदयमें विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोंके मार्गसे निकल न जायँ।' इस संयोग-सुखकी मस्तीको ही प्रेमियोंने 'कलित' दशा बतलाया है।

'हाँ, तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा-का-सारा दृश्य आँखोंके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था। सुनो, सुनो, मैं कहे बिना नहीं रह सकती।'

'श्रीकृष्णके आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनयमें लगी हुई थीं, परन्तु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पड़ती थी। विशेष ममताके कारण प्रणय-रोषका भाव प्रकट करती हुई वह दूर ही खड़ी थीं। उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं। अधर दाँतों तले दबे हुए थे और वे

विह्वलता प्रकट कर रही थीं। फिर उनका बड़ा अनुनय-विनय किया गया। स्वयं श्रीकृष्णने अपनी रूठी हुई प्राणेश्वरीको मनाया, तब जाकर कहीं प्रसन्न हुईं।' यह प्रेमसंरम्भकी 'छलित' दशा है। यह प्रेमकी बड़ी ऊँची स्थितिमें ही प्रकट होती है। हमारे जीवनमें भला भगवान्‌से रूठनेकी बात कैसे आ सकती है? हम डरती रहती हैं कि कहीं वे न हमसे रूठ जायँ। यद्यपि वे तो प्रेमस्वरूप हैं, भला कभी रूठ सकते हैं? परन्तु कभी-कभी इसकी वृद्धिके लिए रूठनेका-सा अभिनय कर बैठते हैं। उस समय हमें कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्होंने रात्रिमें बाँसुरी बजायी और हम सब घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ीं। हाँ, तो उस समय वे रूठे-से बन गये। कहने लगे, घर लौट जाओ। सखी! यह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हो उठती हैं। उस समय मनमें यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरीरको रखकर क्या होगा? इसे इसलिए हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काममें आये, परन्तु जब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या जरूरत? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमें जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्ममें तो उन्हें पा सकेंगी। यही सब सोचते-सोचते गोपियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमें उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णतः उदय हो आया था। और उसी समय भगवान्‌ने हमें अपनाया। कितने प्रेमकी बात है! कितने प्रेमी हैं वे!'

'यह बात तो बीचमें आ गयी थी। भगवान्‌के मिलनेपर उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमें जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान

चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढ़नी बिछा दी। वे मुस्कराते हुए उसपर बैठ गये। हम उन्हें घेरकर चारों ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें लेकर अपने हृदयसे लगा लिया, किसीने उसकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बड़े प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरेकको आकाशमण्डलमें ठिठके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनोंसे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कलकल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। वह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।'

'मेरी प्यारी सखि! मैं तुम्हें इसलिए इधर लायी थी कि तुम्हें प्रेमनगरके कुछ दृश्य दिखाऊँ, परन्तु मैं अपनी ही बातोंके कहनेमें इतनी तल्लीन हो गयी कि दिखाना ही भूल गयी। अब आओ, आगे चलें, तुम्हें विरहलीलाके विभागमें ले चलें। भगवान्की नित्य-सहचरी गोपियोंका उनसे कभी वियोग नहीं होता, परन्तु भगवान्के विरहमें किस प्रकारका दुःख होता है और होना चाहिए, यह बात बतानेके लिए तथा संयोगात्मक रसराजकी पुष्टिके लिए वियोगके दृश्य भी होते हैं। आओ, ले चलूँ तुम्हें।'

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद तो प्रत्यक्ष हो रहा है न? एक ओर सन्देश लेकर आये हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से बैठे हुए हैं, दूसरी ओर वह भ्रमरोंकी गुनगुनाहटको ही भगवान्का सन्देश मानकर न जाने क्या-क्या बक रही है। इसके चित्र-विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो, क्या कह रही है? भौंरोंको अपने पास फटकनेतक नहीं देती और उसे बार-बार डाँटती है कि तुम जाओ मथुरा, यहाँ तुम्हारी

ज़रूरत नहीं। देखती नहीं हो क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी है, आँखोंकी खुमारीसे साफ जाहिर होता है कि उद्वेगके मारे इसे नींद नहीं आती। शरीर और कपड़ोंको धोनेकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरके जीती है। और वह भी केवल इसी आशासे कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसके मनमें केवल यही बात है कि शायद मेरे मर जानेके बाद वे आवें और मुझे न पा करके दुखी हों! बस, केवल उनके सुखके लिए ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब वह इस संसारसे उठ गयी होती। इसका नाम है 'विहृत' दशा।'

'अरे, देखो-देखो, अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी मौन हो जाती है, मानो कोई पत्थरका टुकड़ा पड़ा हो। सुनो, क्या कह रही है—

प्राणेश्वर! जीवनधन!! आओ, एक बार, केवल एक बार आओ। देखो, यह वही यमुना है न, जिसमें तुम जलविहार करते थे? नाथ! यह वही कदम्ब, वही लताओंका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही मैं; परन्तु तुम, तुम कहाँ हो! आओ-आओ,

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्त्तिनाशन!
मग्नमुद्धर गोविन्द! गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे? हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये बिना तुम नहीं रह सकते।'

'देखो कहते-कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इसे प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देखें।'

'अरे यह क्या! इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा। एक ही क्षणमें इसकी दशा बदल गयी। अब तो यह संयोग-सुखसे

सन्तृप्त मालूम पड़ती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते। अब इसके लिए सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिए भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे'की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।

'अब चलो, युगल सरकारके उस कुञ्जके पास चलें जिसे छोड़कर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार-निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें—

इन नयननु छविधाम बिलोकिय।
सखि! चलि वेगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पीजिय।
इन नयननु छबिधाम विलोकिय।

प्रेमपर्याय•
उत्त-दलित, कलित, चलित, क्रान्त
विहृत, गलित।

प्रेम-माधुरी

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है? वहाँ सब कुछ है—प्रेम है, सङ्गीत है, मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण-कणमें एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते-पत्तेमें एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वहाँ तो सर्वस्व है। जीवन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमें रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओंसे आलिंगित सरस रसालकी मञ्जरियोंके मकरन्दसे अन्धे हुए भौंरोंको, जो अपनी चञ्चलता छोड़कर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमें कैद हों। जब मलयज वायु अपने कोमल करोंसे स्पर्श करती है, बौरोंके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोंको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य संगीत गाये हुए मधु-धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताओंकी ओर बढ़ते हैं, तब नव हृदयमें कितना आनन्द आता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है—यह वहीं चलकर देखिये। आप भी श्रीरूपगोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेंगे—

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे-
विनिःष्यन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्।
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति॥

आमके बौरोंके सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौरोंको बन्द करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्धित वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको संवर्धित कर रहा है।

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छूतक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है! कितना सुन्दर है यह धाम! परन्तु आप अभी धामको मत देखिये; ये सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय क्या ये ध्यान कर रही हैं? अजी वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे-पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा सुनिये, यह इनका भोलापन है। आप सुनकर हँसेंगे, परन्तु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके ही पास रहता है! इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती है, एक क्षणके लिए भी बन्द नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप-सुधाके पानके लिए आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी-तटपर, जहाँ भी ये रहती हैं वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिए मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होंने सोचा यह हृदयकी विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिए। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमें कैसे हो? इसलिए आप योग कर

रही हैं। कितना आश्चर्य है! बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोंके द्वारा मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, उन्हींसे मनको हटाकर यह गोपी विषयोंमें लाना चाहती है। बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें तनिक-सा देखनेके लिए लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है! श्रीरूपगोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

परन्तु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी? ये निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके कामकाजमें लगी रह सकेंगी? ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रंगमें रँगा जा चुका है. अब इसपर दूसरा रंग चढ़नेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ? यह कथा भी बड़ी विचित्र है। गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिसके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने

अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं, इनका हृदय स्वयं निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। इन्हें मालूम न था कि ये तीनों एक ही हैं। एक हृदयकी तीनपर आसक्ति! इन्हें बड़ी व्यथा हुई। श्रीरूपगोस्वामीने इनकी मर्मान्तिक पीड़ाका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥

एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी। दूसरे दिन किसी पुरुषकी वंशी-ध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी। तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया। बड़े दुःखकी बात है। धिक्कार है मुझे! तीन-तीन पुरुषोंसे प्रेम! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है।

जब इन्हें मालूम हुआ कि यह तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई। एक वेदना तो शान्त हो गयी; परन्तु दूसरी लग गयी। उसी दिन इनकी गति बदल गयी। वे कैसे मिलेंगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया। बार-बार काँप उठतीं, सारे शरीरपर श्वेत-बिन्दु झलकते ही रहते। सखियोंसे यह बात छिपी न रही। उन्होंने एकान्तमें पूछा—सखी, तुम्हें क्या हो गया है? कौन-सी ऐसी

दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिए तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है? बार-बार तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी देखी नहीं! ऐसा क्यों? हम लोगोंसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं? अपने लोगोंसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सकें तो हमें उसका अवसर दो। हमें हमारे सौभाग्यसे क्यों वञ्चित कर रही हो? इन्होंने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोंने इन्हें वृन्दावनके कुञ्जोंमें श्रीकृष्णके दर्शन कराये। क्या ही सुन्दर दर्शन था! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं—

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाजः
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य।
मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीनां
मदयति मम मेधां माधुरी माधवस्य॥

'नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोंकी चञ्चल चितवन, कपोलोंपर मनोहर पल्लवोंकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही मधुर! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड़ रही है, मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं, घरकी सुध भूल गयीं, अपने आपको भूल गयीं। परन्तु इनकी चेष्टा ज्यों-की-त्यों बनी रही। घरवाले बड़े चिन्तित हुए—'यह क्या हो गया? इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वैद्यकमें तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न-हो कोई बड़ा ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने

लगती है, गुञ्जाके दर्शनमात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमें अपूर्व नाट्यक्रीड़ाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौन-सा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है!'

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः॥८॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमें वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है न परलोकका। कम-से-कम लोक और पर-लोकका स्वार्थ रखनेवालोंके लिए तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी—श्रीकृष्ण! यदि कहीं दूसरे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोंमें पड़ जाते हैं, तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसककर रोने और काँपने लगती है। और तो क्या कहूँ, संयोगवश नये-नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हें प्राप्त करनेके लिए इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तसे पंख प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया उसको फिर तृप्ति कहाँ? वह तो उन्हें देखे बिना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है।

प्रतिक्षण प्यास बढ़ती ही जाती है और बार-बार मनमें यही आता है कि हा! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये, उनके बिना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमें थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥

'हे सखी! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिए निष्ठुर हो गये; वे अब तक नहीं आये, तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, मत रोओ। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमें मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हों और मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचलरूपसे रहे।'

'यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे—'मैंने निष्ठुरता की। कहीं उसके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड़ दे। उसकी फली-फूली मनोरथ-लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने आकर देखा, तमाल वृक्षकी आड़में खड़े होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिए मैंने गुरुजनोंकी बड़ी लाज छोड़

दी; सखियो ! जिनके लिए तुम लोगोंको, जो कि हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया; जिनके लिए सती-साध्वी स्त्रियों द्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ। मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है !'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिए अधीरभावसे दौड़ीं; परन्तु यह क्या ? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है ? यह मधुर संस्पर्श तो प्राणोंमें मृत्युके बदले अमृतमय जीवनका सञ्चार कर रहा है। आँखें खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेक प्रकारके भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमें आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया, आखें जम गयीं, मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी निधि पाकर उसे आँखोंसे ओझल कौन करे ! निर्निमेष नयनोंसे रूप-रसका पान करने लगी। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले, बोले, अनेक प्रकारकी लीला करते रहे; परन्तु वे बड़े खिलाड़ी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे वहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोंके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परन्तु घरके कर्तव्योंको कौन सँभालता, मन तो इनके हाथमें था ही नहीं। इन्होंने सोचा योग करनेसे मन वशमें होता है; चलो, अब योग ही करें। यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिए, या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिए योग कर रही हैं। परन्तु क्या यह सम्भव है ? चित्तमें कोई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं ? चित्त कहीं

चला जाय तो उसे खींच सकते हैं ? देवी ! तुम अब क्या कर रही हो यह ? जो चित्त हो गया है, जिसके बिना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमें-से कैसे निकाल सकोगी ? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है। प्रेमका स्वरूप ही कुछ ऐसा है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमें उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उल्टी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं, क्योंकि इसमें विष और अमृत दोनोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीड़ा तो इसमें इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बड़ा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका अहङ्कार शिथिल पड़ जाता है। श्रीरूपगोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निःष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

इतना ही नहीं, प्रेमकी गति और भी विलक्षण है, क्योंकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढंगसे सोचता है। प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिए, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है; वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमें व्यथा होने लगती है। प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहाँ दुःख होना चाहिए, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है—उन बातोंको परिहास समझकर। दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणोंके कारण बढ़ता नहीं; क्योंकि वह तो आठों पहर एकरस एक-सा रहता है। अपनी महिमामें प्रतिष्ठित, अपने स्वरसमें डूबा हुआ

नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है—कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है। श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया॥

प्रेमनगरकी रीति ही निराली है, स्थूल लोककी मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं। अपने प्रियतमको अपने हृदयसे निकालनेके लिए योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ, अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं। वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोंसे अलग करना चाहती हैं इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोंको छोड़ देना चाहती हैं, जो बिना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्वविमोहन मोहनकी मुरली बज उठेगी, उस समय इनकी सब योग-समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमें कि बड़े-बड़े समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वंशीकी मधुर-ध्वनि कब मेरी समाधि तोड़ेगी! वंशी-ध्वनिके सम्बन्धमें जानते हो न वह क्या-क्या कर गुजरती है इस संसारमें—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'जब वंशी बजती है, तब बादलोंका गतिरोध हो जाता है। सङ्गीतसम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक-सनन्दन आदिके हृदयमें रसका समुद्र उमड़ने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड़ बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं—मेरी सृष्टिमें इतना माधुर्य कहाँ! रसातलके एकछत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका घेरा तोड़-फोड़कर सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त हो जाती है यह वंशीध्वनि।'

वंशीकी इस उन्मादक स्वर-लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता? इसीके द्वारा निखिल जगत्का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते हैं, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं!

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, इनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है। इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है। इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य सुगन्ध भर रही है। इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती है। घण्टोंतक आत्मविस्मृतिमें रहनेके बाद एकाध बार इन्हें अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं। परन्तु यह योग-साधना क्या इन्हें श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है? अजी, योग-साधनामें क्या रखा है, संसारकी कोई भी शक्ति इन्हें श्रीकृष्णसे अलग

नहीं कर सकती। और तो क्या, श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनेसे अलग नहीं कर सकते।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं, अपने प्रेमियोंकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वयं मुग्ध होते रहते हैं। अपने प्रेमियोंके प्रेमको जगानेके लिए ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं। वे अब भी यहीं कहीं होंगे। इन व्रजदेवीकी जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी। उन्हें सर्वत्र गोपियोंका ही दर्शन होता होगा। अब वे आते ही होंगे। देखो न, वह आ रहे हैं। वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द-मन्द पद-विन्यास, हाथमें बाँसुरी, मेघश्याम श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंहें, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट—सब-का-सब आँखोंमें, प्राणोंमें, हृदयमें और आत्मामें दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो, कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हम लोग अलग होकर सुनें और उनकी लीलाओंका आनन्द लें। अच्छा, क्या गुनगुना रहे हैं?

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है, मेरे बायें राधा है, मेरे दाहिने राधा है, पृथिवीमें राधा है, आकाशमें राधा है—यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे लिए राधामय क्यों हो गयी? •

पूज्यपाद श्रीरूपगोस्वामीके विभिन्न प्रसङ्गोंके श्लोक मैंने अपने ढंगसे बैठा लिये हैं, सहृदयजन मेरी इस ढिठाईपर ध्यान न दें।

परमार्थके पथपर

(१)

शरद्की पूर्णिमा। नीरव निशीथ। चारों ओर सन्नाटा। भगवती भागीरथीकी धवल धारा अपनी 'हर-हर' ध्वनिके साथ बह रही है। हिमालयकी एक छोटी-सी उपत्यकापर बैठा हुआ सुरेन्द्र मानो माँ गंगाजीकी लहरियोंमें कुछ बात कर रहा है। शरीर निश्चेष्ट, श्वासका पता नहीं। नेत्र निर्निमेष। परन्तु उसकी मूक भाषा मानो कुछ संकेत कर रही है।

माँ गंगे! तुम इतनी चञ्चल क्यों हो? तुम इतनी उत्सुकता, इतनी आतुरता लेकर किसके पास जा रही हो? क्या जिनके चरणकमलोंसे तुम निकली हो उन्हीं क्षीराब्धिशायी श्रीविष्णु भगवान्‌के चरणकमलोंमें समाने जा रही हो? अथवा जिन्होंने तुम्हें प्रेमोन्मत्त होकर अपने सिरपर धारण किया है, उन्हीं कैलासपति आनन्दवनविहारी श्रीकाशीविश्वनाथके चरण पखारनेके लिए इतनी आकुलतासे पधार रही हो?

माँ! तुम अपने पिता हिमाचल, हिमाचलके पुत्र वृक्ष-वनस्पति आदि भाई-बन्धुओं, अपने ही जीवनसे सिक्त वात्सल्य-भाजन एवं आश्रितों और हिमकी अपार धनराशिको छोड़कर कहाँ—किस उद्देश्यसे जा रही हो? एक बार मुड़कर पीछे देखती तक नहीं हो, तनिक ठहरकर किसीकी बात सुनती तक नहीं हो, मार्गमें पड़नेवाले महान् बाधा-विघ्नों, बड़े-बड़े पर्वतों-चट्टानोंकी जरा भी परवाह नहीं करती हो। कहाँ जा रही हो

मेरी माँ ? क्यों जा रही हो करुणामयी ? एक बार बोलो तो सही ! हाँ, क्या कहा ? क्या कह रही हो ? हरि-हरि, हरि-हरि अथवा हर-हर, हर-हर, बात तो ठीक है; अबतक मैं समझ नहीं रहा था। दोनोंका एक ही अर्थ है।

अच्छा, मेरी दयामयी माँ ! यह तो बताओ, मैं क्या करूँ ? मेरा जीवन किधर जा रहा है ? क्या मैं सचमुच तुम्हारी ही भाँति अपने लक्ष्यकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ रहा हूँ ? अभी तो मुझे अपने जीवनका स्वरूप ही अज्ञात है। क्या तुम अपने जीवनकी चञ्चलता प्रत्यक्ष करके मुझे उसकी सीख दे रही हो ? प्यारी अम्माँ ! सच्ची बात है, तुम मुझे सीख दे रही हो। जीवन चञ्चल है, गतिशील है, अस्थिर है। यह प्रतिपल बदल रहा है परन्तु एक-सा ही मालूम पड़ता है। अभी-अभी जो तरंगें चन्द्रमाकी सुधाधवल किरणोंसे किलोल कर रही थीं, क्षणभरके संस्पर्शसे स्फटिककी भाँति चमककर इठला रही थीं, वे कहाँ गयीं ? पता नहीं, वे कितनी दूर निकल गयी होंगी। उनके स्थानपर फिर दूसरी तरंगें अठखेलियाँ कर रही हैं, अगले क्षणमें ये भी लापता हो जायँगी। तब क्या जीवनका यही स्वरूप हैं ?

माँ, मेरी प्यारी माँ ! वास्तवमें जीवनका यही स्वरूप है। आश्चर्य तो यह है कि ध्यानसे—गम्भीरतासे देखा न जाय तो सब कुछ आँखोंके सामने होनेपर भी कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे तो इस चञ्चलताके अतल गर्भमें स्थिर रहकर तुम बड़ी गम्भीरतासे निरन्तर इस चञ्चलताका निरीक्षण किया करती हो। देवि ! मुझे तो गम्भीर दृष्टि प्राप्त नहीं, कैसे निरीक्षण करूँ ?

सचमुच जीवन एक खेल है। इसमें इतने प्रकारके दृश्य सामने आते हैं कि उन्हें स्मरण रखना असम्भव है। जीवनभरकी

तो क्या बात, एक दिनकी घटनावली भी पूर्णतः और क्रमशः स्मरण रखना कठिन है। चाहे जितनी सावधानीके साथ डायरीके पृष्ठ भरे जायँ, कुछ-न-कुछ अपूर्णता रहेगी ही। जीवनमें लाखोंसे मिलते हैं, हजारोंसे सम्बन्ध करते हैं, सैकड़ोंसे उपकृत होते हैं और दस-पाँचके उपकारकी पाग भी अपने सिरपर बाँध लेते हैं। अगणित वस्तुओंके वर्णन सुने हैं, उनके दर्शन किये हैं, उनके संग्रह किये हैं और यथासम्भव लाभ भी उठाये हैं। परन्तु क्या उसका स्मरण है? जीवनकी अबाध बहनेवाली अगाध धारामें वे न जाने कहाँ बह-बिला गये। कुछका स्मरण भी है तो छायामात्र। वह भी केवल उन्हींका जिन्होंने हृदयपर कोई ठेस लगा दी या महान् उपकारके भारसे लाद दिया। केवल राग-द्वेषके चिह्न ही अवशेष हैं। उनकी स्मृति ही वर्तमान जीवन है। मन उन्हींके संस्कार-सागरमें गोते लगा रहा है। देखता हूँ, बार-बार देखता हूँ कि मन वर्तमान क्षणमें नहीं रहता। वह अतीतकी स्मृतियोंसे उलझा रहता है, अथवा उन्हींके आधारपर भविष्यका चित्र बनाकर उसीकी उधेड़बुनमें मस्त रहता है। तब क्या यही जीवन है, जिसे अपनी ही सुध नहीं, भूला-सा, भटका-सा, अनजाने मार्गपर निरुद्देश्य-निराश और न जाने क्या-क्या हो रहा है?

मन-ही-मन यही सब सोचते-सोचते उसकी आँखें कब बन्द हो गयीं, इस बातका पता सुरेन्द्रको न चला। वह अपनी विचार-धारामें इस प्रकार डूब गया, मानो बाह्य जगत् कुछ हो ही नहीं। वह संलग्न था जीवनकी तहमें छिपे हुए रहस्योंके ढूँढ़ निकालनेमें। चन्द्रमाने अपनी अमृतमयी किरणोंसे उसका सम्मान किया, वायुदेवने धीरे-धीरे उसकी थकान मिटानेके

लिए पंखा झलना जारी रक्खा। परन्तु उसे इन बातोंका पता न था सम्भव है, मालूम होनेपर उसके विचारमें बाधा ही पड़ती। परन्तु वह तल्लीन था।

(२)

सुरेन्द्र अभी पच्चीस वर्षकी अवस्थाका एक युवक था। विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही पिताकी मृत्यु हो जानेके कारण उसे व्यावहारिक जीवनमें आना पड़ा था। यहाँ आकर उसने देखा और खूब विचारसे देखा धर्मके नामपर अधर्म, सत्यके नामपर असत्य, सदाचारके नामपर कदाचार और परमार्थके नामपर स्वार्थ! भगवान्‌की ओरसे यह अमूल्य जीवन प्राप्त हुआ है, उनकी आज्ञासे न्याय एवं सदाचारपूर्वक व्यवहार चलाते हुए उनकी ओर बढ़नेके लिए; परन्तु आजकलके व्यवहारकी क्या दशा है? क्या वह भगवान्‌की ओर ले जानेमें सहायक है?

उसने बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुषोंसे मिलकर उनसे शुद्ध सात्त्विक व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेकी चेष्टा की; परन्तु उसे अधिकांश अभिमान, दम्भ एवं परमार्थके स्थानपर स्वार्थके ही दर्शन हुए। जहाँ कहीं कुछ भलाईकी बात मिली भी वहाँ सम्मान, प्रतिष्ठा और कीर्तिकी लिप्साका साम्राज्य मिला! अवश्य उसे दो-चार सज्जन भी मिले; परन्तु या तो उसने भ्रमवश उन्हें पहले लोगोंकी भाँति दम्भी आदि मान लिया या उन्होंने उसके सुधारकी ओर दृष्टि ही नहीं डाली।

सुरेन्द्रको बड़ी निराशा हुई। वह सोचने लगा क्या ये बातें केवल किताबोंमें लिखनेकी अथवा व्याख्यान या उपदेशके समय लच्छेदार भाषामें कहनेकी ही हैं, इनके अनुसार आचरण करनेवाला कोई नहीं हैं? निष्काम कर्मयोग, अनासक्ति,

भगवत्सेवा, परोपकार एवं सेवा आदि क्या केवल 'आदर्श' हैं? ये कभी जीवनमें नहीं उतरते? यदि जीवनमें ये उतरते हैं तो क्या इनके साथ काम, क्रोध, अभिमान आदि भी रह सकते हैं?

इन बातोंकी चिन्तासे, इन उलझनोंके न सुलझनेसे सुरेन्द्रका जीवन निराश हो गया। उसकी उदासीनता प्रतिदिन बढ़ती ही गयी। घरके काम-काजमें मन न लगता। मिलनेवालोंको देखकर बड़ी झुँझलाहट होती। वह जी चुराकर इधर-उधर लुक-छिपकर अपना विषादमय समय काट देता। दिन-का-दिन बीत जाता। आधी रात हो जाती, भोजनकी याद न आती, पानी तक नहीं पीता।

उसकी यह दशा देखकर एक महात्माको बड़ी दया आयी। सुरेन्द्रकी मानसिक स्थितिका उन्हें पूरा पता था। वे एक दिन एकान्तमें सुरेन्द्रके पास आये और उसे समझानेकी चेष्टा की। उन्होंने कहा—'भाई! तुम इतने चिन्तित क्यों हो? इस प्रकार अपना अमूल्य समय नष्ट करना क्या उचित समझते हो? तुम आदर्श पुरुष ढूँढ़ते हो? ठीक है, वैसे पुरुषकी संसारमें बड़ी आवश्यकता है। परन्तु केवल इसी बातके लिए अपने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको तो नहीं भूल जाना चाहिए। आदर्श पुरुषके ढूँढ़ने या उसकी चिन्ता करनेमें तुम जितनी शक्ति एवं समय लगा रहे हो, यदि उन्हींका सदुपयोग करो तो तुम स्वयं आदर्श बन सकते हो। हाथ-पर-हाथ धरकर बैठनेसे कोई लाभ नहीं, उत्साहके साथ उठो और आगे बढ़ो। इस संसारमें अनेक बाधा-विघ्न हैं, ये तुम्हें स्थिर नहीं रहने देंगे। यदि पूरी शक्ति लगाकर आगे न बढ़ोगे तो प्रमाद, आलस्य आदिके शिकार बन जाओगे। तुम एक मन्त्र याद रक्खो—'बचो और आगे बढ़ो।'

महापुरुष ही स्थिर रह सकते हैं क्योंकि उन्हें स्थिर आलम्बन मिल गया है। जिनका आलम्बन स्थिर नहीं अर्थात् जिन्हें नित्य सत्य भगवान्‌का सम्बन्ध प्राप्त नहीं, वे कहीं स्थिर नहीं रह सकते। उन्हें आगे बढ़ना होगा या विवश होकर पीछे—पतनकी ओर हटना पड़ेगा। सम्हल जाओ, आगे, बढ़ो, यह विषाद तमोगुण है। यह आगे बढ़नेके लिए आवश्यक होनेपर भी सर्वदाके लिए या अधिक समयके लिए वांछनीय नहीं है।'

सुरेन्द्र उनकी बात बड़े ध्यानसे सुन रहा था। उसे ये बातें बड़ी अच्छी मालूम हुईं। उसने सोचा अब इन्हींको आत्मसमर्पण कर दूँ, इन्हींकी आज्ञापर चलूँ, ये आदर्श पुरुष जान पड़ते हैं। परन्तु दूसरे ही क्षण उसका हृदय एक प्रकारकी अशंकासे भर गया। उसने विचारा—यह भी पहलेके लोगोंके समान हुए तो? यह प्रश्न उठते ही काँप उठा। उसका मनोभाव महात्मासे छिपा न रहा। उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—'भाई! मैं कब कहता हूँ कि तुम मुझपर या किसी व्यक्तिपर विश्वास करो। तुम केवल भगवान्‌की आज्ञापर विचार करो। उसीके अनुसार चलो। परन्तु चलो अवश्य। इस प्रमाद-आलस्यमय जीवनका परित्याग कर दो।'

सुरेन्द्रने आँखें नीचे करके कहा—'आखिर क्या करूँ? भगवान्‌की आज्ञा कैसे प्राप्त हो? सभी तो अपने-अपने मतको भगवान्‌की आज्ञा बताते हैं।'

महात्माजीने कहा—'भाई! तुम्हें इन उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। इन्हें सुलझानेके लिए तो विशाल अध्ययन, निर्मल बुद्धि, गुरुकृपा और लम्बे समयकी आवश्यकता है। क्या तुम गीतापर विश्वास रखते हो? मैं आशा करता हूँ कि तुम पूर्ण विश्वास करते हो। विश्वास होनेपर भी अपनी मानसिक

कमजोरीके कारण उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते अथवा भाष्यों और टीकाओंके मतभेदोंसे भयभीत हो गये हो। यह तुम्हारे मनकी निर्बलता है। उसे अभी छोड़ दो। गीता माताकी शरण लो। वह अपने भूले हुए भोले बच्चेको अवश्य मार्ग दिखायेगी। गीताका स्वाध्याय करो, गीताका पाठ करो, गीताके एक-एक मन्त्रको अपने दिल-दिमागमें भर लो।'

महात्माकी इस आदेशपूर्ण बातको सुनकर सुरेन्द्रको बड़ा ढाढ़स हुआ। उसने जिज्ञासाकी दृष्टिसे महात्माजीकी ओर देखा! उन्होंने कहा, 'भैया! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। देखो, तुम्हारा कितना समय बेकार जाता है। तुम दस मिनट मेरे कहनेसे और बेकार बिता दो। अधिक नहीं केवल सात दिनोंके लिए मेरी बात मान लो। आजसे सोनेके पूर्व पवित्रताके साथ आर्त हृदयसे 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता २.७) वाली अर्जुनकी प्रार्थना सच्चाईसे करो। सात दिनोंमें ही तुम्हें भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी।'

'सात दिनोंमें ही भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी' यह सुनकर सुरेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उन वृद्ध महाराजके प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। वे महात्मा मन-ही-मन उसका कल्याण-कामना करते हुए चले गये।

अब सुरेन्द्रको बड़ी उत्सुकता रहने लगी। सोते, जागते, निरन्तर ही उसे प्रतीक्षा रहने लगी कि देखें भगवान्‌की क्या आज्ञा होती है। चलते-फिरते जान-अनजानमें कई बार उसके मुँहसे निकल पड़ता—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' दिनभरमें सम्पुट लगाकर गीताके दो-तीन पाठ भी कर लेता। भगवान्‌के नामका जप भी कुछ हो जाता। सात दिनोंमें ही उसके उद्वेग, अशान्ति और विक्षेप बहुत कुछ कम हो गये।

उसकी श्रद्धा और बढ़ी। सातवीं रातको वह बड़ी एकाग्रतासे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रभुकी प्रार्थना करने लगा। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहते-कहते उसके मुँहसे प्रार्थनाकी झड़ी लग गयी। वह न जाने क्या-क्या कबतक कहता रहा। भगवान्के सामने आर्तभावसे—सच्चे हृदयसे पुकारते-पुकारते उसकी आँखें बन्द हो गयीं। कुछ देरके लिए झपकी-सी लग गयी। उसे हम नींद नहीं कह सकते क्योंकि उस समय वह सत्त्वगुणके साम्राज्यमें था। वहाँ नींद कैसे पहुँच सकती है? तमोगुण वहाँ जा ही नहीं सकता जहाँ प्रभुकी प्रार्थना रहती है। नींदके माँ-बाप तो आलस्य और प्रमाद हैं। अस्तु, वह जाग्रत् भी नहीं था, क्योंकि उसे बाह्यज्ञान बिलकुल न था।

उसी समय उसने देखा कि वह एक दूसरे लोकमें चला आया है। यहाँके दृश्य तो सब मनुष्यलोकसे मिलते-जुलते हैं। परन्तु वहाँकी अपेक्षा यह स्थान अधिक निरापद, अधिक प्रसाद एवं पुष्टिजनक है। अपनेमें बलका अनुभव हुआ। इतनेमें ही एक वयोवृद्ध पुरुष उसके सामने उपस्थित हुए। उनके चेहरेसे महत्ता, प्रभाव, दया आदिकी प्रकाशमयी किरणें निकल रही थीं।

उन्हें देखते ही सुरेन्द्रका सिर उनके चरणोंपर बरबस झुक गया। उन्होंने अपने हाथों उठाकर सुरेन्द्रको बैठाया और उसके सम्हल जानेपर कहने लगे—'बेटा! दुखी मत हो। सचमुच संसारका बन्धन बड़ा भयङ्कर है। इसमें बँधे हुए न जाने कितने अभागे जन्म-जन्मसे भटक रहे हैं। परन्तु इसके बनानेका उद्देश्य तो इसमें बाँधना न था, यह तो मुक्तिके लिए बनाया गया था। बड़े दुःखकी बात है—परिणाम उलटा हुआ। मुक्तिके स्थानपर

बन्धन ! उफ, इसीको तो माया कहते हैं, यही तो मोहका चक्कर है। इसमें आदर्श पुरुष बहुत-से हुए हैं, हैं और होंगे। उनका लक्षण यही है कि वे संसारमें रहते हुए भी इससे बँधते नहीं। वे भवसागरमें डुबकी लगाते हैं परन्तु भगवत्प्रेमकी रस्सी पकड़े रखते हैं। वे व्यवहार करते हैं परन्तु उनकी आँखें और उनकी वृत्तियाँ भगवान्‌में लगी रहती हैं। वे कर्ता-भोक्ता रहते हुए भी अकर्ता-अभोक्ता रहते हैं। उनका आधार मजबूत है। ऐसा करनेके लिए भगवदाज्ञा है। परन्तु सब तो ऐसा नहीं कर सकते। इसके लिए बड़ी साधना, बड़ी तपस्याकी जरूरत है। दस-पाँच दिन सत्संग सुन लिया, दो-चार किताबें पढ़ लीं और निष्कामकर्मी—अनासक्त योगी हो गये, यह कोरा भ्रम है। इसके लिए त्यागकी, वैराग्यकी, भगवत्कृपाके अनुभवकी अपरिहार्य्य आवश्यकता है। अभी तुम युवक हो, अशावान् हो, शक्तिमान् हो। उठो, जागो, साधनामें लग जाओ। इस संसारको छोड़ो मत, इसे अपने काबूमें कर लो।'

सुरेन्द्रने अञ्जलि बाँधकर कहा—'भगवन् ! क्या साधन करूँ ? मुझसे जो हो सके, प्राणपणसे करनेको तैयार हूँ। आप कृपया उपदेश कीजिये।'

महात्माजीने कहा—'वत्स ! यह कलियुग है। आजकलके लोग अल्पायु, अल्पशक्ति और अल्पमति हैं। ज्ञान, ध्यान, योग और भक्ति यह सब इनसे सधनेके नहीं। इसीसे भगवान्‌ने इसको नामयुग कहा है। तुम भगवान्‌के नामजपमें लग जाओ। नामका जप, नामका कीर्तन, नामका पाठ, नामका ही अर्थानु-सन्धान और नामका ध्यान करो। वेद, उपनिषद्, महाभारत, भागवत, रामायण आदि ये सब नामके ही भाष्य हैं। तुम सबके मूलका ही आश्रय लो।

●●●

'परन्तु सम्भव है कि निरन्तर नाम रटनेमें ही पहले-पहले तुम्हारा मन न लगे। इसलिए तुम्हें एक कार्यक्रम बता देता हूँ। तीन महीनेतक इसके अनुसार काम करना, आगेकी आज्ञा फिर प्राप्त होगी।'

कार्यक्रम बताकर महात्माजी अन्तर्धान हो गये तब सुरेन्द्रकी आँखें खुलीं। उसने देखा कि प्रार्थना करते-ही-करते एक झपकी आ गयी और यह सब हो गया। बस, उसी दिनसे वह महात्माजीकी बतायी साधनामें जुट गया। रात-दिन एक ही धुन, एक ही लगन, राम-राम-राम-राम-राम! दूसरा शब्द मुँहसे निकलता ही न था। लोग कहते सुरेन्द्र तो पागल हो गया। सचमुच वह पागल था। अवश्य पागल था परन्तु उस अर्थमें नहीं जिसमें लोग कहते थे।

बात-की-बातमें तीन महीने बीत गये। चिन्तितके लिए एक दिन भी युग-सा हो जाता है। परन्तु जो काममें लगा है उसके लिए कई वर्ष भी कलकी बात-सरीखे हैं। आज उसे स्वप्नमें आज्ञा हुई—'सुरेन्द्र! तुम्हारी लगन सच्ची है! तुम्हारा अधिकार ऊँचा है। तुम्हें आध्यात्मिक विचारकी आवश्यकता है। तुम आदर्श चाहते हो न? चलो हिमालयमें, गङ्गातटपर। तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसी आज्ञाके अनुसार सुरेन्द्र आज गङ्गातटपर आया हुआ है और माँ गङ्गासे न जाने क्या-क्या कहता हुआ तल्लीन हो रहा है, जान पड़ता है आज उसकी जिज्ञासा जग पड़ी है।

(३)

सिंहकी भयानक गर्जनासे सुरेन्द्रकी तल्लीनता भंग हुई। आँखें खोलकर देखा तो सामनेसे एक सिंह मन्थर गतिसे इधर ही चला आ रहा है। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो स्वयं मृत्यु

ही मूर्तिमान होकर आ रही है। उसके सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी। वह सोचने लगा, क्या जीवनका यही अन्तिम क्षण है? क्या अगले क्षणमें यह शरीर सिंहके मुँहमें होगा? परन्तु यहाँ आनेमें तो स्वप्नवाणीने मेरा कल्याण बताया था न! तो क्या मृत्यु ही कल्याण है? क्या मरनेके लिए ही यह जीवन प्राप्त हुआ है? अभी तो भावी सुखकी आशासे मैं यहाँ बैठा हुआ था, बीचमें ही मृत्युकी बात कैसी? क्या प्रत्येक क्षणमें मृत्यु सम्भव है? अरे, क्षणका तो अर्थ ही है मृत्यु। अच्छा, यह जीवन है क्षणमात्र। और क्षण मृत्युमय है। तब मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु जीवनमय है? यह कैसे सम्भव है? यदि जीवन और मृत्युमें कोई भेद न होता तो लोग मृत्युसे इतना डरते क्यों? परन्तु विचारसे कोई भेद मालूम नहीं पड़ता। बुद्धि तो यही कहती है कि जीवन ही मृत्यु और मृत्यु ही जीवन है।

सिंह कुछ ठिठका हुआ-सा दूर खड़ा था। सुरेन्द्र जीवन मृत्युकी मीमांसा कर रहा था। इस समय न उसे भूतकी चिन्ता थी और न तो भविष्यकी कल्पना। बचनेका न मौका था, न उपाय था और न चेष्टा थी। वह जीवन और मृत्युकी सन्धिमें स्थित होकर दोनोंका ही अन्तस्तल देख रहा था। उसने देखा—परिवर्तनका एक महान् चक्र, गतिका एक अनादि अपार भँवर। उसी चक्रपर उसी भँवरमें सब नाच रहे हैं। अणु, परमाणु, प्रकृति, वन, समुद्र, पर्वत, पृथिवी, ज्ञात, अज्ञात, सिंह और स्वयं उसका जीवन, सब कुछ प्रतिपल बदल रहे हैं, डूब-उतरा रहे हैं। डूबना प्रलय है, उतराना सृष्टि है। डूबना मृत्यु है, उतराना ही जीवन है। यह क्रम न जाने कबसे है। एक हो दूसरा नहीं, यह सम्भव नहीं।

●●●

अच्छा, तो इसमें कौन अच्छा है, कौन बुरा है ? एक-से ही हैं। अच्छे हैं तो दोनों, बुरे हैं तो दोनों। तब ? तब दोनोंको समान रूपसे ग्रहण किया जाय या दोनोंका समान रूपसे त्याग किया जाय ? परन्तु एक बात बड़े आश्चर्यकी है। इन दोनोंको समान रूपसे ग्रहण या त्याग करनेवाला मैं कौन हूँ ? मैं स्पष्ट इनसे पृथक् अपनेको अनुभव कर रहा हूँ। तब क्या मैं जीवन-मृत्युसे परे हूँ? परन्तु परे होनेपर भी तो लोग जीवनसे सुखी और मृत्युसे दुखी होते हैं। इसका कोई कारण तो नहीं दीखता।

सिंहके पैरकी आवाज पास जान पड़ी। एक बार शरीर काँप उठा। पर अब उसका मानसिक बल बढ़ गया था। सुरेन्द्रको एक भक्तकी बात याद आ गयी, जो काले नागसे डसे जानेपर उसे अपने प्रियतमका दूत कहकर प्यार करने लगा था। एक ज्ञानीकी स्मृति हो आयी जो बाघके मुँहमें भी उल्लासके साथ 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्' की गर्जना कर रहा था। उसने अपनी आँखें खोल दीं। देखकर आश्चर्यचकित हो गया। अरे यह क्या ? यह तो एक महात्मा थे ?

सिंहके वेषमें सुरेन्द्रकी गतिविधिका निरीक्षण कर लेनेपर उन्होंने अपनेको उसके सामने मानव वेशमें प्रकट किया। बोले—'सुरेन्द्र! देखो प्रातःकाल होनेपर आया है। चन्द्रदेव पश्चिम समुद्रके पास पहुँच गये। तुम मेरे साथ चलो—मैं तुम्हें 'बोधाश्रम' पर ले चलूँगा।'

सुरेन्द्र पीछे-पीछे चलने लगा।

(४)

उस स्थानसे बोधाश्रम दूर न था। पर्वतके ऊँचे-नीचे रास्तोंसे बात-की-बातमें दोनों वहाँ पहुँच गये। भगवती भागी-

रथीकी प्रखर धारासे टूटकर एक बड़ा-सा शिलाखण्ड पड़ा था। कुछ तो उसकी बनावटके कारण और कुछ उसके पड़नेके ढंगके कारण उसके नीचे एक बहुत ही सुन्दर स्थान निकल आया था। उसीमें महात्माजी रहते थे। बड़ा ही कोमल बालू उसमें बिछा हुआ था। आसपास ऐसे पत्थर पड़े हुए थे जिन्हें देखते ही उनपर बैठकर ध्यान करनेकी इच्छा हो जाती थी। सामने ही अपनी गम्भीर ध्वनिसे ज्ञान-वैराग्य और भक्तिकी शिक्षा देती हुई देवनदी गङ्गा बह रही थीं। वह नाममात्रका आश्रम था। वास्तवमें तो प्रकृतिकी बनायी हुई एक गुफा थी।

यद्यपि पहाड़ोंकी ऊँचाईके कारण चन्द्रमा पश्चिम समुद्रकी गोदमें जाते-से दिखते थे तथापि महात्माजी और सुरेन्द्रके वहाँ पहुँचनेपर कुछ रात बाकी थी। महात्माजीने सुरेन्द्रको सम्बोधित करके कहा—'यह ब्रह्मबेला है। इसमें प्रकृति अत्यन्त शान्त रहती है। प्रकृतिके शान्त रहनेके कारण मन भी शान्त रहता है और वह तीव्र गतिसे अन्तर्देशमें प्रवेश करता है। भगवान्‌की प्रार्थना और चिन्तनका यह मुख्य समय है। तुम किसी शिलाखण्डपर बैठकर भगवान्‌का चिन्तन करो। यह आश्रम अत्यन्त पवित्र है। यहाँके वायुमण्डलमें एकाग्रता भरी है।'

महात्माजी सुरेन्द्रको भेज ही रहे थे कि एक तीसरे व्यक्तिने उस गुफाके द्वारपर आकर महात्माजीको साष्टांग नमस्कार किया। उसके अतर्कित आगमनसे सुरेन्द्र भी रुक गया। महात्माजीने उठकर आशीर्वाद दिया। उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई मानो उनके आश्रममें स्वयं भगवान् ही पधारे हों। उन्होंने प्रेमसे पूछा—'भैया, तुम कबसे यहाँ आये हो? मेरी अनुपस्थिति-से तुम्हें कष्ट हुआ होगा? इस अनजाने पहाड़ी प्रदेशमें इतनी

रातको कैसे आ गये ? तुम संक्षेपसे अपनी सारी बात कह सुनाओ !'

पूछते-पूछते महात्माजीने उस नवयुवकको—उस आगन्तुकको अपने पास ही बैठा लिया। सुरेन्द्र भी एक ओर बैठ गया। आगन्तुकने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—'महात्मन्! आज आपके दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। आपको ढूँढते-ढूँढते ही मैं यहाँ आया हूँ। यहाँ आनेका कारण क्या बताऊँ ? एक प्रकारसे भगवान्‌की आज्ञा ही समझ लीजिये। अब मेरा जीवन सफल हो गया।' उसके चेहरेपर प्रसन्नताका विलक्षण प्रकाश छा गया।

सुरेन्द्र बहुत ही उत्सुक हो रहा था। महात्माजी भी उसका हाल जाननेके लिये पर्याप्त उत्कण्ठित हो रहे थे। उन्होंने कहा—'भैया! तुम अपनी सब बात कहो, तुम्हें यहाँ आनेके लिए भगवान्‌की आज्ञा कैसे प्राप्त हुई ? परन्तु भगवान्‌की लीला बड़ी अद्भुत, बड़ी मधुर होती है। वे न जाने कब कैसे क्या कर डालते हैं, उसके कहने-सुनने और स्मरण करनेमें बड़ा रस है, बड़ा आनन्द है। तुम उनकी लीला सुनाओ। आजकी ब्रह्मवेला इसी प्रकार व्यतीत हो।' कहते-कहते वे गद्‌गद हो गये। उनकी आँखोंसे आँसूकी कई बूँदें ढुलक पड़ीं।

आगन्तुकने कहा—'भगवन्! मैं यहाँसे सुदूरपूर्व बंगालका रहनेवाला एक ब्राह्मण हूँ। भगवान्‌ने कृपा करके मुझे सांसारिक सम्पत्तिसे बचा रक्खा है। मुझे धनके अभावका दुःख कभी हुआ भी नहीं। मैं अपने युगलसरकारकी पूजा करता था, प्रसन्न रहता था। गत जन्माष्टमीको एक ऐसी घटना घट गयी कि मुझे यहाँ आना पड़ा। मुझपर भगवान्‌की अपार कृपा है। उन्होंने ही मुझे यहाँ भेजा है। आप सब बातें सुनना

चाहते हैं तो सुनिये। मुझे भी उनके स्मरणमें बडा आनन्द आता है।

'हाँ, तो उस दिन भादोंकी कृष्णाष्टमी थी। मैं व्रत किये हुए था। मन अन्तर्मुख था। संसारमें कुछ सोचनेको था ही नहीं। रह-रहकर मनमें यह बात आती थी कि आज यदि भगवान् आ जाते। वे अँधेरी रातमें आते हैं। ठीक है, परन्तु मेरा यह जीवन भी तो अँधेरी रात ही है। ठीक-ठीक! वे दुष्ट दैत्योंके विनाशके लिए आते हैं। परन्तु मेरे हृदयमें क्या कम दैत्य हैं? तब वे क्यों नहीं आते? शायद इसलिये कि मेरे हृदयमें गोपियों-जैसा प्रेमका भाव नहीं है। फिर भी उनके आनेपर तो वैसा भाव हो सकता है। अवश्य, यदि वे आ जायँ तो उनके लिए आवश्यक सभी बातें हो सकती हैं। परन्तु वे कहाँ आते हैं? ऐसा भाव मनमें आते ही बड़ी निराशा हुई। हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उस मर्मान्तक पीड़ासे मैं छटपटाने लगा। परन्तु वह घटी नहीं। सारा दिन आशा-निराशाके द्वन्द्वमें बीत गया।

'सन्ध्या हुई। सब अपने-अपने ठाकुरजीको सजाने लगे। परन्तु मैं क्या सजाता? मेरे पास कुछ था ही नहीं। भगवान्के चरणोंपर कुछ फूल चढ़ाये। मिट्टीका एक दिया जलाया। अञ्जलि बाँधकर चुपचाप बैठ गया। फिर वही बात मनमें आयी—यदि भगवान् आ जाते? मैं अशान्त हो गया। परन्तु उस अशान्तिमें भी एक शान्ति विद्यमान थी। मेरी आँखोंसे आँसू गिरे, मैं छटपटाया और बेसुध हो गया। मानों मैं एक दूसरे ही लोकमें चला गया।

उस समय मेरी अन्तरात्मा स्वयं मुझसे कह रही थी—'नरेन्द्र! (इस आगन्तुकका नाम नरेन्द्र था) तुम पागल हो।

देखो, तुम जिस संसारमें रहते हो, उसमें भी भगवान् रहते हैं। उसमें भी पद-पदपर भगवान्को स्मरण करके आनन्द-विभोर होनेका प्रतिक्षण अवसर है। लोगोंने भगवान्को भुला दिया है, जगत्को भगवान्से रहित मान लिया है, इसीसे इतने दुःख, अशान्ति और उद्वेगकी सृष्टि हो गयी है। जिस पृथिवीपर तुम रहते हो उसे किसने धारण कर रक्खा है? उसकी धूलिमें खेलनेके लिए कौन अवतार लेता है? इन हरे-भरे वृक्षोंकी सुहावनी छायामें, लताओंके ललित कुञ्जमें कौन क्रीड़ा करता है? क्या इन्हें देखकर भगवान्की स्मृतिमें मग्न नहीं हो जाना चाहिए। जलको देखते ही क्या उस जलका स्मरण नहीं हो जाता जिस यमुना-जलमें भगवान् विहार करते हैं अथवा जिस सागर-जलमें भगवान् सोते हैं? ये चन्द्र, सूर्य, तारा, और नक्षत्र चमक-चमककर किसकी आभा प्रकट करते हैं? इस वायुके स्पर्शमें किसके प्राणोंका प्रेममय स्पर्श प्राप्त होता है? यह नीला आकाश किसकी नीलिमाका दर्शन कराता है? ये सब भगवान्के प्रतीक हैं। इन सबके साथ भगवान्की स्मृति है। दुःख नहीं, उद्वेग नहीं, चिन्ता नहीं। प्रेमसे सर्वत्र भगवान्का स्मरण करो, मस्त रहो।'

'अन्तरात्माकी यह ध्वनि सुनते ही मानो मेरी आँखोंपरसे एक परदा हट गया। मेरे सामने चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दीखने लगा। इस लोकसे अत्यन्त विलक्षण दृश्य मेरे सामने आ गया। मैं उड़ सकता था। मैं जड़ वस्तुओंसे बातें कर सकता था और किसी बातका रहस्य शीघ्र-से-शीघ्र समझ सकता था। मैंने देखा—

बड़ा सुहावना समय था। न धूप थी, न अँधेरा। अनेक सूर्योंका-सा प्रकाश था, परन्तु शीतलता भी प्रचुर मात्रामें थी।

चारों ओर आनन्दकी धारा-सी बह रही थी। मेरे मनमें अचानक एक शंका हुई। काल तो बड़ा भयङ्कर है। यह सबको खा जाता है। फिर आज इतना कोमल क्यों बना हुआ है? सबको मृत्युके मुखमें ढकेलनेवाला आज जीवन-दाता कैसे हो गया? शङ्का उठते ही मैंने पूछ दिया—'क्यों काल! आज तुम ऐसे परिवर्तित कैसे हो गये? मेरा दृष्टि-भ्रम है अथवा और कोई बात है?' कालने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'सचमुच आज मैं परिवर्तित हो गया हूँ। तुम इसका रहस्य जानना चाहते हो? अच्छी बात है। सुनो, मैं तभीतक काल रहता हूँ, मैं तभी-तक मृत्यु रहता हूँ, जबतक भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। आज भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध होनेवाला है। कालके परे रहनेवाले भगवान् कालकी गोदीमें अर्थात् मेरी गोदीमें खेलनेको आ रहे हैं। अब मैं काल न रहूँगा, मृत्यु न रहूँगा। भगवान्‌से मिलकर, उनसे एक होकर सबके जीवनका कारण बन जाऊँगा। मेरा स्वरूप आनन्दमय, प्रेममय, मधुमय हो जायगा।'

'मैं कालके संसर्ग और आलापसे स्वयं चकित-स्तम्भित था। मैं उसके आनन्द और भगवत्सम्बन्धको सुनकर सोचने लगा था। जब आँखें खोलीं तब काल मेरे सामने न था। वह कहीं चला गया था। मैंने देखा—दिशाएँ हँस रही हैं, वे प्रसन्नतासे भर गयी हैं। मैं देखते ही सब रहस्य समझ गया! फिर भी मैंने एकसे पूछ ही लिया—'क्यों भाई! आज इतनी सजावट क्यों? यह साज-शृङ्गार किसलिए?' एकने कहा—'आज हमारे सौभाग्यका दिन है। हमारे पति दिक्पाल दैत्योंके अत्याचारसे बहुत पीड़ित थे। वे उनके बन्दी हो गये थे। अब भगवान् आ रहे हैं। दस-बारह दिनोंमें (देवताओंका एक

दिन-रात मनुष्योंका एक वर्ष होता है) हमारे पति स्वतन्त्र होकर हमारे पास आ जायँगे। इससे बढ़कर हमारे हर्षका और क्या कारण हो सकता है ? उन्हीं भगवान्‌के आगमनके उपलक्ष्यमें हम आनन्द मना रही हैं।'

'मेरी दृष्टि ऊपर चली गयी। मैंने कहा—'धन्य हो प्रभो! तुम्हारे आगमनसे सब प्रसन्न हैं, शीघ्र आओ। क्या तुम आकाश-मार्गसे आओगे ?' मैंने देखा नीला आकाश ताराओंसे जगमगा रहा है। ताराएँ बड़ी चंचलतासे अपने भाव बदल रही हैं। मैं शीघ्र ही उनके लोकमें पहुँच गया। ताराओंने मेरा बड़ा स्वागत किया। उन्होंने कहा—'यद्यपि हमारे पति द्विजराज चन्द्रमा हैं तथापि आज तुम हमारी प्रजा, वंशज नहीं हो। आज तो तुम हमारे अतिथि ब्राह्मण हो, तुम्हारी पूजा किये बिना हम नहीं रह सकतीं।' उन्होंने कहा—'आज हमारे चन्द्रवंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आनेवाले हैं—आज त्रिलोकीमें हमारे जैसा सौभाग्यवान् और कौन होगा ? ऐसे उत्सवके अवसरपर हम तुम्हारी पूजा किये बिना नहीं जाने दे सकतीं।' मैं चुप था। अन्दर-ही-अन्दर प्रसन्न हो रहा था। पूजा कर लेनेपर एक ताराने कहा—'ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो।' मैं तो यही चाहता था। मैंने निःसंकोच भावसे कहा—'हाँ, मैं एक बात माँगना चाहता हूँ। जिन श्रीकृष्ण भगवान्‌के आगमनके कारण इतना उत्सव मनाया जा रहा है, मैं उनका ही दर्शन चाहता हूँ। जिन श्रीकृष्ण भगवान्‌के दर्शनको सब इतने उत्सुक हैं, उनके दर्शनको मेरा मन लालायित हो रहा है।' वह तारा कुछ ठिठक गयी। उसने कहा—'तुम बड़े चालाक हो। इससे बढ़कर और कोई वस्तु संसारमें है ही नहीं। परन्तु मेरा इतना अधिकार नहीं है कि मैं तुम्हें दर्शन करा सकूँ। और आज

तो जेलखानेमें जन्म होगा, इसलिए वहाँ तुम्हारा प्रवेश नहीं हो सकता; परन्तु मैं एक उपाय बताती हूँ। तुम जाकर वहाँ फाटकपर रहना। वसुदेवजी जब श्रीकृष्णको गोदमें लेकर गोकुलकी यात्रा करेंगे तब तुम उनके पीछे-पीछे गोकुल चले जाना।' मैं उनका आशीर्वाद लेकर वहाँसे चल पड़ा।

'नीचे उतरते ही मुझे शीतल मन्द सुगन्ध वायुका स्पर्श हुआ। मैंने कहा—अच्छा है, वहाँतक चलनेवाला एक साथी तो मिल गया। बातचीतका सिलसिला छेड़ते हुए मैंने कहा—'वायुदेव! तुम तो आज बहुत प्रसन्न हो ऐसा मालूम पड़ता है। कुछ कहते चलो क्या बात है? वायुने कहा—'भाई! पहले जब भगवान्ने रामावतार ग्रहण किया था, तब मैं एक प्रकारसे सेवासे वञ्चित ही रहा। मेरे पुत्र हनुमान् ही उनकी सेवामें थे। तभीसे मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि भगवान्का जब अवतार हो तो मैं स्वयं सेवा करूँ! मैं जगत्का प्राण हूँ। मुझसे सेवामें त्रुटि नहीं होनी चाहिए। इसीसे सेवाका अभ्यास कर रहा हूँ। एक बात और है, इस बार भगवान् मेरा विशेष उपयोग करेंगे। वे मेरे ही द्वारा बाँसुरी बजायेंगे। जब ग्वालबालोंसे खेलते-खेलते, गोपियोंके साथ नाचते-नाचते थक जायँगे, उनके कपोलोंपर श्रमबिन्दु आ जायेंगे तो मैं उन्हें धीरेसे पोंछ दूँगा, उन्हें सुखा दूँगा। वह काम कितनी कोमलतासे होना चाहिए! बस, इसलिए अभीसे अभ्यास कर रहा हूँ।'

'मैं वायुकी सराहना करने लगा। मेरे मनमें भाव उठा कि अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना भगवान्के दर्शनका सुअवसर नहीं मिलता। इसीसे वायु पहले विश्वकी सेवा करके अपना अन्तःकरण शुद्ध कर रहा है। इसे अवश्य भगवान्की सेवा प्राप्ति होगी।

'कुछ ही क्षणोंमें हम तारामण्डलसे चलकर मेघमण्डलमें आ

गये। बहुत थोड़े-से बादल थे। समुद्रके पास मन्द-मन्द गर्जना कर रहे थे। वे समुद्रसे कह रहे थे—'समुद्र ! तुम्हारे अन्दर भगवान् रहते हैं, यह सोचकर हम तुम्हारे पास बार-बार आते थे कि तुम हमें भगवान्का दर्शन करा दोगे; परन्तु कभी तुमने हमारी प्रार्थना पूरी नहीं की। अब देखो, भगवान् स्वयं हमारे-जैसे (मेघश्याम) बनकर आ रहे हैं। हमारा कितना सौभाग्य है ! हम अपनी बूँदोंसे उन्हें नहलायेंगे, अपनी छायासे उनकी सेवा करेंगे। हम धन्य हैं, हम धन्य हैं !' मैंने सोचा—'आखिर बादल ही तो ठहरे ! इन्हें समुद्रका कृतज्ञ होना चाहिए। अबतक समुद्र इन्हें जल देता रहा है, जिससे विश्वकी सेवा करके ये अपना अन्तःकरण शुद्ध कर सके हैं। भला समुद्रको उलाहना देनेसे क्या लाभ ?' अबतक मैं पृथिवीपर पहुँच चुका था।

'पृथिवी मंगलमयी हो रही थी। वह सोलहो शृङ्गार करके अपने शिशु (मंगल)को गोदमें लिये आरती सजाये खड़ी थी। मैंने पूछा—'क्या है माँ ?' उसका चेहरा प्रसन्नतासे खिल उठा। उसने कहा—'बेटा ! वही मेरे एकमात्र स्वामी हैं। आज वे आ रहे हैं। उनके इस शिशुको उनके चरणोंमें समर्पित करूँगी ! उनके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य होऊँगी। संसारके लोग जो कि मेरे ही धूलिकणोंसे, मेरे सामने पैदा होते हैं, और फिर चार दिन बाद मेरे देखते-देखते मेरे ही धूलिकणोंमें मिल जाते हैं, जब मुझे अपनी कहकर मेरा उपभोग करना चाहते हैं तो मुझे बड़ा कष्ट होता है, उन्हें मैं अपना बच्चा समझती हूँ यह दूसरी बात है, परन्तु उनकी धृष्टता तो देखो ! उनका अज्ञान देखकर मैं दुःखी हो जाती हूँ। परन्तु जाने दो इन बातोंको। आज मेरे स्वामी आ रहे हैं। मैं उनकी आरती करूँगी।'

'मैं बढ़ते-बढ़ते मथुरामें आ गया था। देखा, वहाँ असमय ही अग्निहोत्रकी बुझी हुई आग जल रही है। अग्निदेवकी लाल-लाल लपटें उठ-उठकर अपने स्वर्णमय अक्षरोंसे सूचित कर रही हैं कि हम भगवान्के मुखसे प्रकट हुई हैं। हमारा काम है देवताओंको भोजन देना। हम दैत्योंको भोजन नहीं दे सकतीं। इन दैत्योंने हमें बड़ा कष्ट दिया है। अब हमारे प्रभु आ रहे हैं! हमें इनके कष्टसे बचावेंगे। हमें अपने मुखमें स्थान देंगे। हम कृतकृत्य हो जायँगी। आज हमारा जीवन सफल हो जायगा। मैंने सोचा, तभी तो इनका वर्ण स्वर्णमय है। भगवान्-पर निष्ठा रखनेवाला ऐसा ही होता है। वह जगत्को प्रकाश देता है, शक्ति देता है और सुख देता है। उसके पास आते ही लोगोंके मल धुल जाते हैं।

'मेरे मनमें अग्निके अनेक गुण आये। मैं जेलखानेके फाटकपर पहुँच गया। अभी आधीरात होनेमें कुछ विलम्ब था। पहरेदार सजग थे। मैं एक कोनेमें खड़ा हो गया। मैं सोचने लगा—भगवान् जेलमें क्यों अवतार लेते हैं? वे एक कैदी कोखसे क्यों प्रकट होते हैं? जिनके नामके उच्चारण-मात्रसे सारे बन्धन दूर जाते हैं, उन भगवान्को पुत्ररूपमें पानेवाले बन्धनमें क्यों? मैं इन प्रश्नोंको हल करते-करते विचारमग्न हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि भगवान् अपनेको बन्धनमें अनुभव करनेवालेके पास ही प्रकट होते हैं। नियमोंका बन्धन ही मुक्तिका जनक है। सर्वथा निराश, उदास, पराधीन ही भगवान्के चिन्तनमें अधिक सफल होते हैं। जो अपनेको किसी बन्धनमें नहीं मानते, जो अपने बलपर नाचते हैं, और जो विषय-भोगोंकी मस्तीमें झूमते हैं, उनमें पूर्ण निर्भरताका होना कठिन है। जिनके लिए संसारका द्वार बन्द है, उनके

लिए भगवान्का दरवाजा खुला है। कितने दयालु हैं प्रभु ! मैं सोचते-सोचते तन्मय हो गया।'

'मुझे ऐसा अनुभव होने लगा मानो मेरी दृष्टि पारदर्शिनी हो गयी है। मैंने देखा—देवकी-वसुदेव हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े हुए एक कमरेमें बन्द हैं। वे हाथ जोड़े खड़े हैं और सामने ही शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् पीताम्बर धारण किये हुए बालकवेशमें मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं। उनकी वह अलौकिक छवि देखकर मैं मुग्ध हो गया। मैं उनकी मधुर शब्दावली भी सुन रहा था। जब उन्होंने वसुदेवको गोकुल ले चलनेके लिए आज्ञा दी तब कहीं जाकर मेरी आँखें खुलीं। मैंने देखा, सचमुच उस समय सभी पहरा देनेवाले गहरी नींदमें थे।'

'एकाएक फाटक खुला। मैं पहलेसे ही टकटकी लगाये प्रतीक्षा कर रहा था। भगवान्को गोदमें लिये वसुदेव निकले। उनकी हथकड़ी-बेड़ी खुल चुकी थीं। क्यों न हो ? भगवान् ही जो उनकी गोदमें आगये थे ! अब भला, बन्धन कैसे ? एक सीमाके अन्दर एक चहारदीवारीके भीतर वे कैसे रहते ? वे गोकुलकी ओर चले। मैं भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा।'

उस समय आकाशमें कुछ बादल घिर आये थे। वे नन्हें-नन्हें जलबिन्दुओंके बहाने भगवान्को अपना जीवन समर्पित कर रहे थे। कभी-कभी बिजली चमक जाती थी जिससे मैं गोदके उस विचित्र बालकके लाल-लाल तलवों और मुस्कुराते हुए मुखके लाल-लाल होठोंके दर्शन कर लेता था। शेषनाग ऊपरसे ही जलबिन्दुओंका निवारण कर रहे थे। मैं संकल्पहीन होकर उनका पदानुसरण कर रहा था। आँखें उन नाखूनोंकी ओर लगी थीं, जो उस अँधेरेमें भी कई बार चमक जाते थे। मेरी टकटकी तो तब टूटी जब यमुना-तट आ गया और उसकी

उत्ताल तरङ्गोंने अपनी वज्र-कर्कश ध्वनिसे मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। मुझे पहले तो बड़ा क्रोध आया। मैंने सोचा, वह भगवान्के मार्गमें विघ्न बन रही है। परन्तु दूसरे ही क्षण मैं सम्हल गया। मैंने सोचा, जिसके अन्तर्देशमें भगवान् आते हैं वह हर्षके कारण फूल ही उठता है, तो भला यमुना क्यों न फूलें? यह भगवान्की प्रेयसी हैं, मानिनी हैं; सम्भवतः रूठ गयी हों; परन्तु मुझे पीछेसे सच्ची बात मालूम हुई। वह शेष-नागको देखकर डर गयी थीं कि कहीं कालियनागकी भाँति कोई दूसरा नाग न आ जाय! इसीसे बढ़कर वे उसके आनेका विरोध कर रही थीं।'

'जब भगवान्ने अपने चरणोंसे स्पर्श करके उन्हें निर्भर कर दिया तब उन्होंने अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख दिया। वे सूख गयीं। भगवान्के विरहमें उनकी क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार साँपोंने उन्हें अपना घर बना लिया था, यह सब बातें उन्होंने भगवान्पर प्रकट कर दीं। दयालु जो ठहरे! एक-न-एक दिन अपनायेंगे ही।'

'नन्दका द्वार खुला हुआ था। यशोदा पलङ्गपर सोयी हुई थीं। अबतक उनके पास 'माया' थी। वसुदेव भगवान्को यशोदाके पलङ्गपर सुलाकर, मायाको लेकर चले गये। मैं वहीं एक कोनेमें खड़े होकर देखने लगा। भगवान् हँस रहे थे। क्यों हँस रहे थे? शायद इसलिए कि मैं जिसके पास सटकर हँस रहा हूँ, खेल रहा हूँ, वही सो रहा है। कितनी विडम्बना है! शायद इसलिए कि सब लोग माया छूटनेपर भगवान्को अपना लेते हैं, पर यशोदा सो रही हैं। क्षणभर बाद ही वे रोने लगे। मानो जीवकी इस दयनीय दशापर उनमें करुणाका भाव-सञ्चार हो गया हो। सोचा—यह यशोदाको

जगानेका उपक्रम है मैं वहाँसे हट गया। बाहर निकल आया।'

'बाहर निकलते ही मेरे सामने एक बूढ़े देवता आ गये। वे देखनेसे ब्राह्मण मालूम पड़ते थे। अब मैं समझता हूँ कि वे साक्षात् शिव थे। उन्होंने मुझसे कहा—'अब तुम जाओ। आज भगवान्‌की बहुत-सा लीलाएँ देखीं। अब गंगा-तटपर स्थित बोधाश्रमके महात्माके पास जाओ। उनकी कृपासे भगवान्‌की और लीलाएँ देख सकोगे।'

'इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। मैं व्याकुल होकर उन्हें पुकारने लगा। पुकारते ही मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा, आधी रात बीत गयी है। जन्माष्टमीका प्रसाद ले-लेकर लोग घर जा रहे हैं और मैं अपने ठाकुरजीके सामने पड़ा हुआ हूँ। वही मिट्टीका दीया टिमटिमा रहा है। मैं दूसरे ही दिन वहाँसे चल पड़ा। आज शरद्‌की पूर्णिमा थी लगभग दो महीनोंमें यहाँ पहुँचा। भगवन्! अब आपकी जो इच्छा हो कीजिए, मैं आपके शरणागत हूँ।'

भगवान्‌की लीला सुन-सुनकर महात्माजी और सुरेन्द्र दोनों ही मुग्ध हो रहे थे। सुरेन्द्र तो जड़वत् हो गया था। महात्माजोने कहा भैया! भगवान्‌की लीला ऐसी ही होती है। वे न जाने किस मिससे किसे बड़ाई दे देते हैं। मैं तो उनकी सृष्टिका एक तुच्छ जीव हूँ। मुझमें क्या शक्ति है? फिर भी उन्होंने तुम्हें भेजा है। वही तुम्हारा कल्याण करेगा। देखो, हम सब भगवान्‌की लीला सुननेमें इतने तन्मय हो गये कि समयका ध्यान ही न रहा। सूर्योदय होनेवाला है। शीघ्र ही शौच-स्नानादिसे निबृत्त होकर संध्या करो, फिर हम सब मिलेंगे।'

(५)

भगवती भागीरथीका पावन पुलिन, मानो कपूरका विस्तृत चबूतरा हो। एक चौकोर शिलाखण्ड। उसपर बैठे हुए महात्माजी। स्वाभाविक ही स्वस्तिकासन लगा हुआ। सुरेन्द्र और नरेन्द्र पास ही बैठकर उनकी ओर एकटक देख रहे रहे हैं। महात्माजीके शरीरसे शान्ति, आनन्द और पवित्रताकी प्रेम-मय धारा बह रही है। और वे दोनों उसमें डूब-उतरा रहे हैं—सराबोर हो रहे हैं। मौनका साम्राज्य है। हिमालयका उत्तुङ्ग शिखर अपना सिर उठाकर चुपचाप देख रहा है। अनाहत नादके साथ अपनी स्वरलहरी मिलाकर गंगा अनवरत उन्मुक्त गायन कर रही है।

एक साधकने आकर महात्माजीको नमस्कार किया। उसके ऊँचे ललाटपर भस्मकी तीन रेखाएँ थीं, गलेमें रुद्राक्षकी माला और मुद्रा गम्भीर थी। उसके आते ही महात्माजीने आँखें खोल दीं। उन्होंने उसे मन्द-मन्द मुस्कुराहटकी किरणोंसे नहला दिया। आनन्दकी एक बाढ़-सी आ गयी। सुरेन्द्र और नरेन्द्रने भी इस साधकको प्रातःकाल एकान्तचिन्तन करते देखा था। उनके मनमें भी इसके सम्बन्धमें जिज्ञासा और उत्सुकता थी। अब उसके पास आ जानेके कारण वे बहुत प्रसन्न हुए।

महात्माजीने इस साधकको सम्बोधित करते हुए कहा—'ज्ञानेन्द्र! आज तो तुम ब्राह्मबेलासे ही चिन्तन कर रहे थे। इन दोनों (सुरेन्द्र, नरेन्द्र) के आनेका भी तुम्हें पता नहीं। बताओ, क्या सोचते रहे? ज्ञानेन्द्र! चिन्तनके द्वारा किस परिणामपर पहुँचे? क्या कलवाली बात तुमने सोची? क्या दुःख-सुखकी समस्या हल हुई?' ज्ञानेन्द्रने बड़ी नम्रतासे अञ्जलि बाँधकर कहा—'भगवन्! कल आपने कहा था कि

सुख-दुःखके द्वन्द्व आत्मामें नहीं हैं। आत्मा तो इनसे परे इनका साक्षी है। यदि उसे दुःखी या सुखी माना जाय तो उसकी साक्षिता और तटस्थता ही नहीं बनती। यह सुनकर कल मैं गया। बस, उसी समयसे इस बातका मनन होने लगा है। मेरे सामने बार-बार यह प्रश्न आने लगा कि दुःख आत्माको नहीं होता तो किसे होता है ? ये सुख-दुःख हैं क्या वस्तु ? इनका मूल क्या है ? कल इनका ठीक-ठीक चिन्तन नहीं हुआ।'

'आज मैं प्रातःकाल बैठकर ध्यान करने लगा कि मेरा वास्तविक स्वरूप दुःख-सुखसे परे है। इनका सम्बन्ध शरीर और मनसे है। शरीर और मनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यह चिन्तन करते-करते मैं तन्मय हो गया। और किसी वस्तुका भाव न रहा। मैं-ही-मैं अकेला रह गया। सुख, दुःख, ज्ञान और अज्ञानकी कुछ स्मृति न रही। एकाएक मेरा वह एकाकीपन मिट गया और मेरे सामने अनेकों प्रकारके दृश्य आने लगे। मैंने उन्हें अपने चिन्तनमें अन्तराय समझा; हटानेकी चेष्टा की परन्तु मैं सफल न हो सका। चिन्तन छोड़कर टहलने लगा। फिर भी मेरी मानसिक दशा ठीक नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता था कि मुझे कोई ऊपर खींच रहा है। आखिर मैं खिंच ही गया। बड़ी अद्भुत-अद्भुत वस्तुएँ देखीं। अब मेरा मन शान्त है। ऐसा मालूम होता है कि मेरा प्रश्न हल हो गया। यह सब आपकी ही लीला है। आपसे क्या कहूँ ?'

महात्माजीने कहा—'ज्ञानेन्द्र ! मेरी कोई लीला नहीं है। सब लीला भगवान्‌की है। तुम अपनी सभी बातें स्पष्ट रूपसे कहो। मुझे भी सुनकर आनन्द होगा और इन दोनोंको तो साधन-मार्गकी बहुत-सी बातें मालूम होंगी ही। तुम निःसंकोच कहो। यह सब अपने ही हैं।' ज्ञानेन्द्रने महात्माजीकी आज्ञा शिरोधार्य

की। कुछ क्षणोंतक गम्भीर भावसे चुप रहनेके पश्चात् वह बोलने लगा।

ज्ञानेन्द्रने कहा—'मैं ध्यान करते-करते तन्मय हो गया। मुझे मेरे अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं था। केवल मैं था और पूर्ण निश्चिन्त तथा आनन्दित था। अचानक मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सामनेसे एक छाया नाच जाती है। यह कुछ थी या नहीं, सो तो मैं नहीं जानता। परन्तु मुझे कुछ छाया-सी ही जान पड़ी थी अवश्य। मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैंने इसे ध्यानसे देखा। उसमें कुछ-कुछ स्थिरता मुझे प्रतीत हुई; परन्तु अब भी उसमें पर्याप्त चंचलता थी। मैंने सोचा—पास चलकर क्यों न देख लूँ। मैं जितना उसकी ओर चलता, उतना ही वह मुझसे दूर भागती। उसके पास पहुँचनेकी इतनी उत्सुकता मेरे मनमें हो गयी कि मैं अपनेको भूलकर उसकी ओर दौड़ पड़ा। अब वह स्थिर-सी हो गयी थी। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। उसे देखने लगा।'

'क्षणभरमें ही मेरे सामने उसके दो रूप दीखने लगे। मुझे मालूम होने लगा कि एक बड़ा सुन्दर मधुर और रमणीय है, दूसरा काला-कलूटा तथा किसी कामका नहीं है। मैं चाहता था कि पहला ही मेरी आँखोंके सामने आये, दूसरा न आये। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। मैं एकपर आँखें डालता तो दूसरा भी अवश्य दीख जाता। धीरे-धीरे पहलेसे मेरी आसक्ति हो गयी और दूसरेसे घृणा। मैंने चाहा कि पहलेको पकड़कर अपने हृदयसे लगा लूँ और दूसरेको छोड़ दूँ। बस, हम दो ही रहेंगे। रँगरेलियाँ मनायेंगे। परन्तु यह बात हो न सकी। मैं पहलेको पकड़ता तो दूसरा भी आकर सट जाता। मैं उसे झिड़क देता। डाँटता-डपटता भी। परन्तु वह मेरी एक न मानता। मुझे

क्रोध आया। मैंने उसे मारना भी चाहा। परन्तु दूसरेको मारता तो पहलेको चोट लगती। मैं उसके स्पर्श, दर्शन और स्मरणसे भी घबड़ा उठता। मैं फँस गया. इतना फँस गया कि अपनेको छुड़ाना भी कठिन हो गया।'

'कहींसे आवाज आयी। मैंने स्पष्ट सुना—'तुम पहलेका लोभ, आसक्ति और कामना छोड़ दो तो दूसरेसे भी बच जाओगे।' शायद वह मेरी ही अन्तरात्माकी ध्वनि थी। कई बार मैंने छोड़नेकी चेष्टा की, परन्तु बार-बार उसकी ओर झुक गया। न जाने कहाँसे और कैसे वहीं आपके दर्शन हुए और आपने ज्यों ही कहा कि—'तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, तुमने झूठमूठ यह आपत्ति अपने सिर मोल ले ली है त्यों ही मैंने अपनी आँखें खोल दीं। न वे दोनों थे, न आप थे और न तो वह छाया ही थी। मैं जैसे ध्यान करने बैठा था वैसे ही ध्यान करता बैठा था। मैंने अपने मनकी यह स्थिति देखकर सोचा यह विक्षिप्त हो गया है। अब इस समय चिन्तन नहीं होगा। मैं गंगाके किनारे-किनारे टहलने लगा। इन घटनाओंका मेरी समझमें कोई अर्थ नहीं था, यह एक मनका पागलपन था।'

'मैंने गंगा-किनारे देखा। वह एक गुलाबका पौधा था। उसमें एक बड़ा सुन्दर फूल खिला हुआ था। आँखें उसपर लग गयीं। उसे देखनेमें बड़ा आनन्द आने लगा। मैंने सोचा इसे तोड़ लूँ और देखा करूँ। इसे सूँघूँ और इसके स्पर्शका आनन्द लूँ। ज्यों ही उसे तोड़नेको हाथ बढ़ाया त्यों ही मेरे हाथमें कई काँटे गड़ गये। हाथसे खून बहने लगा। परन्तु वह फूल पानेकी लालसासे मैंने काँटोंकी परवाह नहीं की। फूल मुझे मिल गया। बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु कुछ ही क्षणोंके बाद वह कुम्हलाता-सा जान पड़ा। मैंने धूपसे, हवासे

बचाकर उसे वैसा ही रखना चाहा परन्तु वैसा न रहा, न रहा। बड़ा दुःख हुआ।

'अब मैं विचार करने लगा, क्या दुःख-सुखका यही स्वरूप है? क्या प्रत्येक सुखके साथ दुःख लगा हुआ है? क्या अपने वास्तविक स्वरूप नित्यत्वके अतिरिक्त और किसीकी ओर देखना ही दुःखका कारण है? मैंने क्या देखा था? अपनी ही छाया। वे अच्छे और बुरे उसी एकके दो पहलू थे। परन्तु मैं एकको चाहने क्यों लगा? दूसरेसे द्वेष क्यों हो गया? एकसे सुख और दूसरेसे दुःख क्यों माना? और माना ही नहीं फँस गया, बँध गया। और बँध गया सो ऐसा कि दोनोंको छोड़ने पर ही छूट सका। तब क्या जो हमें दीखता है, उसमें दो विभाग हैं ही, अथवा हम बना लेते हैं? अवश्य बनाते तो हम ही हैं, परन्तु जबतक दोनोंमें एकरस रहनेवाला तत्त्व पहचान न लिया जाय तबतक उसमें रमणीय और अरमणीय सुख-दुःखका-भेद हो ही जायगा। ऐसी स्थितिमें अपनेसे अतिरिक्तको न देखना ही श्रेयस्कर है। इतनी बात समझमें आ गयी कि अपनेसे अतिरिक्त कोई सत्ता मानकर उसे पानेकी इच्छा-कामना करना और उसके लिए चेष्टा करना ही दुःखका कारण है, दुःखका मूल है और इस मूलका मिट जाना ही दुःखोंका अन्त हो जाना है। इस दुःखमें सांसारिक सुख भी सम्मिलित हैं। मानो मेरे सामनेसे एक परदा हट गया। मेरे सामने सुख-दुःखका नग्न रूप आ गया, और मैं अपनेको, आत्माको उनसे परे अनुभव करने लगा।'

'मेरे मनमें एक दूसरी बात आयी। मैं सोचने लगा कि इतना सत्संग करता हूँ, चिन्तन करता हूँ, फिर भी एक सुन्दर-सा फूल या रूप देखकर उसके सौन्दर्यसे विचलित हो गया।

यह सर्वथा भौतिक है। इसकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिए थी। परन्तु उसे देखते ही मन खिच गया। हम श्रवण करते हैं, मनन करते हैं, स्वर्गकी तो क्या वात ब्रह्मलोकके विषय भी हमारे लिए तुच्छ हैं। परन्तु इस तनिक-से रूप-रसपर फिसल जानेवाला स्वर्ग और ब्रह्मलोकका त्याग कैसे करेगा ? मेरे मनमें यह प्रश्न इतने प्रबल वेगसे उठा कि मैं छटपटाने लगा। इतना दुर्बल मन लेकर मैं आत्मराज्यमें कैसे प्रवेश पा सकूँगा ? इन तुच्छ विषयोंके क्षणिक प्रकाशमें ही अपनेको खो देनेवाला भगवान्‌के अनन्त स्वयंप्रकाश धाममें कैसे जा सकेगा ? मैं चिन्तत हो गया शायद कुछ-कुछ निराश भी। परन्तु उसी समय मुझे एक विलक्षण अनुभव हुआ।'

मैं शरीरसे पृथक् होकर ऊपर उठने लगा। उस समय मैंने स्थूल जगत्‌को देखा। मेरा शरीर काठके समान पड़ा था। पृथिवीके सभी जीव जड़से दीख रहे थे। मैंने सोचा इसी जड़ शरीरके लिए—इन्हीं जड़ वस्तुओंके लिए मैं सुखी-दुःखी होता था। तो क्या आज इनसे मेरा सम्बन्ध टूट रहा है ? मैं इनसे अलग हो रहा हूँ ? परन्तु शरीरके साथ मेरा सम्बन्ध अब भी था। एक पतला-सा ज्योतिर्मय सूत्र शरीरके साथ मुझे सम्बद्ध किये हुए था। मैं बराबर ऊपर उठता जा रहा था। अनेकों योनियाँ देखीं। अनेकों प्रकारके दृश्य देखे। भूत, प्रेत, पिशाच, पितर, गन्धर्व सभीको अपने-अपने कर्मोंका फल भोगते देखा। कहीं अन्धकार, कहीं प्रकाश, कहीं कुहरा, कहीं धूप। परन्तु मैं केवल देखता जारहा था।'

'मैं एकाएक सूर्यलोकमें पहुँच गया। वहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश था। रात नहीं थी। अन्धकार भी नहीं था। वहाँ बहुत-से दिव्य पुरुष निवास करते थे। उनके राजा थे—भगवान्

सविता। उस समय उनके दोनों पुत्र शनैश्चर और यमराज भी उपस्थित थे। यही दोनों मनुष्योंको लौकिक और पारलौकिक दण्ड देते हैं। वहाँ मैंने भोगकी अनेकों वस्तुएँ देखीं। वहाँ रूपका साम्राज्य था। वहाँकी राजरानी संज्ञा थी, जिनकी इच्छासे ही सूर्यके राज्यमें सबका नाम रक्खा जाता है। संज्ञाको देखकर मुझे पृथिवीकी संज्ञा याद आ गयी। मैंने सोचा—मेरी पृथिवी कहाँ है, जिसपर मैं रहता था? वहाँसे देखा तो कुछ अणुओंके अतिरिक्त मुझे कुछ और नहीं सूझा। मुझे बड़ी उत्सुकता हुई कि मैं जानूँ कि मेरी पृथिवी कहाँ है? भारतवर्ष कौन-सा है! मेरे शरीर और मेरी ममतास्पद वस्तुओंका क्या हाल है? परन्तु मुझे पता न चला।

'भगवान् सूर्यने मुझे अपने पास बुला लिया। उन्होंने कहा—'भैया! तुम यहाँ आकर पृथिवीकी स्थिति जानना चाहते हो? जिसे तुम बहुत बड़ी पृथिवी समझते हो, वह यहाँकी दृष्टिसे सरसों-बराबर भी नहीं है। मेरे सामने ही न जाने कितनी ही पृथिवियाँ पैदा होती हैं, घूमती रहती हैं और मेरे लोकमें समा जाती हैं? तब तुम पृथिवीपरकी किसी वस्तु अथवा शरीरकी स्थिति कैसे जान सकते हो? जैसे वहाँके वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रोंद्वारा एक कणके परमाणुओंका पता लगाते हैं वैसे ही यहाँसे पृथिवीरूपी कणके परमाणुओंका पता चलता है।' मेरे प्रश्नका उत्तर मिल गया। मैं विचार करने लगा कि जब मनुष्य इतनी छोटी-सी वस्तु है तब वह अपने शरीर, सम्पत्ति आदिपर अभिमान, मद क्यों करता है? मैं पृथिवीकी तुलना सूर्यलोकसे करने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो यही परम धाम है, यही परम सुख है और सूर्य ही त्रिलोकीके स्वामी

हैं। मेरे मनमें आया कि अब यहीं रहना चाहिए। पृथिवीमें जाकर क्या होगा ?'

'परन्तु मेरे मनमें जिज्ञासा बनी हुई थी। सूर्य मुझे देखकर हँस रहे थे। उन्होंने कहा—'भूलोकमें तो तुम रहते ही हो। वहाँसे मेरे लोकमें आनेके समय जो कुछ तुमने देखा है, वह अन्तरिक्ष अथवा भुवर्लोक है। मेरा लोक प्रकाशका लोक है, रूपका लोक है। परन्तु यहाँ परम सुख नहीं है। हमसे अच्छे तो हमारे राजा इन्द्र हैं। जाओ, मैं तुम्हें शक्ति देता हूँ कि तुम इन्द्रलोकमें जा सको। तुम यहीं रह जाते; परन्तु तुम्हारे मनमें परम सुखकी जिज्ञासा बनी है, इसलिए तुम यहाँ नहीं रुक सकते। मैं उनसे शक्ति पाकर आगे बढ़ा।'

'विषयोंकी दृष्टिसे यदि कहना हो तो मैं कह सकता हूँ कि उतने अच्छे और सुन्दर विषयोंकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी जितने अच्छे विषय मैंने सूर्यलोकसे चलनेपर देखे। सूर्यलोकमें केवल रूप था; परन्तु आगे चलनेपर तो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श सब-के-सब बहुत ही सुन्दर—बहुत ही मधुर थे। मैं उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गया। वहाँ कुछ करना नहीं पड़ता। इच्छा करते ही मनचाही चीज सामने आ जाती। भोगकी इतनी प्रचुरता कभी मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। संसारके जिन भोगोंसे मेरी आसक्ति थी उनकी असारता तो यहाँ आकर समझमें आयी। नन्दनवन देखा, अमरावती देखी, अप्सराएँ देखीं—देवताओंके दिव्य देश देखे। तब क्या यही परम सुख है ? क्या यही सुखोंकी पूर्णता है ? मेरे मनमें एकाएक यह प्रश्न जाग उठा।'

'मेरे सामने देवता उपस्थित हुए। उन्हें मैंने श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम किया। उन्होंने प्रेमसे कहा—'भैया, तुम्हारी जिज्ञासा

पूर्ण हो उसीके कारण इन भोगोंसे तुम्हारी रक्षा हुई। नहीं तो इनसे बचकर जाना कठिन है। जिन भोगोंकी सामग्रियोंको तुम यहाँ देखते हो, ये यों तो कल्पभरतक रहती हैं; परन्तु इन्हें पूरा-पूरा कोई भोग नहीं सकता। अपने-अपने पुण्यके अनुसार सब न्यूनाधिक भोग करते हैं। कम भोगनेवाले अधिक भोगनेवालोंसे ईर्ष्या करते हैं, अधिक भोगनेवाले कम भोगनेवालोंसे घृणा। दैत्योंके आक्रमण हुआ ही करते हैं। पुण्य क्षीण होनेपर गिरना ही पड़ता है; उस समय उन्हें कितनी पीड़ा होती है। और यह है ही कितने दिनोंका ? यहाँका कल्प ब्रह्माका एक दिन है। जिसे तुम एक कल्प कहकर बहुत बड़ा समझते हो, वह यहाँ चुटकी बजाते-बजाते बीत जाता है। इसमें रक्खा ही क्या है ? आगे बढ़ो और भोगोंकी क्षणिक चकाचौंधमें मत भूलो। देखो, यहाँसे आगे ही ध्रुवलोक है। वह भगवद्भक्तिका एक छोटा-सा फल है।'

'मैं ध्रुवलोकमें पहुँचा। ध्रुव बड़े सरल, बड़े ही मिलनसार। उन्होंने बड़े प्रेम, बड़ी प्रसन्नतासे मेरा स्वागत किया। उन्हें इतना आनन्द हुआ, मानो स्वयं भगवान् ही उनके घर आ गये हों। उन्होंने मुझसे कहा—'भाई ! मैं बड़ा ही नीच हूँ; मैंने भगवान्‌को प्राप्त करके भो सम्मानका वरण किया। सूर्य देवता और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मेरी प्रदक्षिणा करते हैं, मैं वहुँत ऊँचे स्थानपर हूँ। परन्तु मुझे कभी-कभी अब भी पश्चात्ताप हो आता है। मेरे मनमें वासना न होती तो भगवान् यह सब क्यों करते ? परन्तु इसमें भी उनकी दया होगी। वे जैसे रक्खें, वैसे ही रहना है। सर्वत्र उनका दर्शन, उनका स्पर्श प्राप्त होता रहे, यह वाञ्छनीय है।'

'मैंने देखा—यहाँ भोगोंकी छाया भी नहीं है। है सब कुछ,

परन्तु भोग-बुद्धि नहीं है। स्वर्गमें जहाँ सभी भोगोंकी ओर बह रहे थे वहाँ ध्रुवलोकमें सभी सन्तुष्ट, निष्काम और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलनेवाले थे। यहाँकी शान्ति, आनन्द देखकर मेरी इच्छा हुई कि यहीं रहूँ,। यहीं परम सुख है। ध्रुवने कहा—'यहीं परम सुख नहीं है, आगे बढ़ो—महर्लोक, जनलोक, और तपलोकमें बड़े-बड़े योगी, ज्ञानी तथा भगवत्परायण सन्त रहते हैं। इन्हींमें ब्रह्माके पुत्र सनक, सनन्दन आदिके भी दर्शन होंगे ? यहाँ क्या है ? यह तो उनके चरण धूलिकी महिमा है। जाओ, तुम्हें उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलेगी। मैं ऊपर उठने लगा।'

'मैंने कितने सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखे, कह नहीं सकता। बड़ी-बड़ी अमृतकी नदियाँ, रत्नोंके पर्वत, कल्पवृक्षोंके वन, अनुरागके रंगमें रँगी हुई शान्त एवं दिव्य भूमि। मनोहर पक्षियोंका मधुर कलरव, भौंरोंकी गुञ्जार और कहीं-कहीं वीणा, वेणु और मृदंगके अनाहत नाद ? मैं इन सबको देख-सुनकर मुग्ध हो रहा था। सबसे बढ़कर आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब मैंने देखा और जाना कि वे समाधि लगाये हुए लोग हजारों वर्षसे यहाँ बैठे हैं, इन वस्तुओंकी ओर अनासक्त भावसे भी नहीं देखते। इन्द्रलोकमें लोग भोगोंमें आसक्त थे। ध्रुव लोकमें अनासक्त भावसे विषयोंका उपभोग कर रहे थे। यहाँ सब अपने आपमें ही मस्त थे, भगवद्भावमें ही मग्न थे, बाहर आँख खोलकर कोई देखतातक नहीं था। मैं बराबर ऊपर खिचा जा रहा था। इन सिद्ध सन्तोंको देख-देखकर मेरे मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उठ रहे थे।'

'कुछ ही क्षणोंमें मैं एक ऐसे स्थानपर पहुँच गया, जहाँ केवल शान्ति-ही-शान्ति थी, आनन्द-ही-आनन्द था। मैंने

सोचा—अबतक मैंने जितने लोक देखे हैं, उनसे जान पड़ता है कि यही सर्वोत्तम लोक है और यहीं परम सुख है। मेरे सामने पाँच-पांच वर्षके चार बालक खेलते-कूदते प्रकट हुए। उनके शरीरपर वस्त्र नहीं थे, और मुखसे 'श्रीहरिः शरणम्'-का बराबर उच्चारण हो रहा था। ध्रुवकी बात मुझे याद आयी। मैंने समझ लिया कि ये सनक-सनन्दन आदि हैं। उनके चरणोंपर गिरने ही जा रहा था कि उन्होंने हँसते हुए मुझे उठा लिया।'

उन्होंने कहा—'भैया! यही परम धाम अथवा परम-सुख नहीं है। इसके ऊपर ब्रह्मलोक है। उनकी सभा देखोगे, वहाँका साज-शृङ्गार देखोगे तो तुम्हें वे सब लोक तुच्छ जँचेंगे। वहाँ शान्तनु, भीष्म, पृथु, गय आदि राजर्षि, वसिष्ठ आदि महर्षि सभासद्के रूपमें रहते हैं। सारे ब्रह्माण्डकी रचना, व्यवस्था और प्रबन्ध वहींसे होता है। जैसे इन्द्रके एक जीवनमें ही मनुष्योंके हजारों जीवन हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माके एक जीवनमें हजारों इन्द्र हो जाते हैं। जिन्हें एक कल्पके अधिपति कहकर तुमलोग बड़ाई देते हो, उन इन्द्रका जीवन ब्रह्माके दिनसे केवल एक दिन है। ऐसे दिनोंके हिसाबसे ब्रह्माकी आयु सौ वर्ष है। वे प्रतिदिन जब रात्रिमें सोते हैं तब इस ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है, जब वे प्रातःकाल जागते हैं तब पुनः सृष्टि होती है। इस प्रकार अबतक तुम जो कुछ देख-सुन और अनुभव कर सके हो, ब्रह्माके एक दिनकी विभूति है।

'ऐसे-ऐसे ब्रह्मा और उनके ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें कितने हैं? इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी नहीं दे सकते। फिर उनकी बनायी सृष्टिमें तो ऐसा कोई गणितज्ञ हो ही कैसे सकता है? सब ब्रह्माण्डोंके अधिपति हिरण्यगर्भ हैं। वे प्रकृतिके अधीश्वर

हैं। जो उनके लोकमें पहुँच जाता है, वह पुनः लौटता नहीं। महाप्रलयके समय उनके साथ ही मुक्त हो जाता है। हिरण्यगर्भके अधीन, उनके समकक्ष अथवा उन्हींके रूपान्तर और बहुत-से लोक हैं। परन्तु वे भी परम सुख नहीं है। जहाँतक तुम चलकर पाओगे, जिसे तुम करके पाओगे वह परम सुख नहीं है! अच्छा, तुम आँख बन्द कर लो, देखो, सब लोकों, लोकान्तरोंका चंक्रमण।

'मैंने आँखें बन्द कर लीं। मेरा व्यक्तित्व लुप्त हो गया। अब मैं व्यष्टि नहीं, समष्टि था। मानो मैं एक महान् एवं अपार समुद्र होऊँ, मेरी एक लहर प्रकृति हो और उसके छोटे-छोटे सीकर ही असंख्य ब्रह्माण्ड हों। सारे-के-सारे ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार होनेमें पलभर भी नहीं लगता था। प्रकृति-लहरीके उठने और शान्त होनेका समय इतना कम था कि गणितके द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता। मैंने बड़े ध्यानसे देखनेकी चेष्टा की; परन्तु ब्रह्माण्डोंके अवान्तर भेदोंका पता न चला। सब छोटे-छोटे चिदणुओंके रूपमें दीख रहे थे। मैंने सोचा—'मैं सब हूँ। मेरे सब हैं। सुख-दुःख मेरे स्वरूप हैं। मैं परम सुखी हूँ।' अबतक वे चिदणु भी अन्तर्धान हो चुके थे। केवल एक था, केवल मैं था।

उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर मेरा ध्यान भंग किया और कहा—'भैया, यही परम सुख नहीं है। अभी तो तुममें अहंकृति है। तुम अपने अस्तित्वका अनुभव कर रहे थे। यह भले ही व्यष्टिकी अहंकृति न हो, समष्टिकी हो। यहाँ भी तुम एक प्रकारसे चलकर ही पहुँचे हो। गतिका कहीं अन्त नहीं है। यह गोलाकार चक्कर है। तुम्हें नयी-नयी बातें मालूम होंगी परन्तु होंगी सब पुरानी ही। नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे।

सुखसे दुःख, दुःखसे सुख। यह एक चक्र है—संसारचक्र। यह अनादिकालसे चल रहा है। प्रवाह रूपसे नित्य है।'

संस्कारसे सुन्दर-असुन्दरकी कल्पना। सुन्दरसे राग, असुन्दरसे द्वेष। सुन्दरको चाहना, असुन्दरसे परहेज। पानेकी चेष्टा। हटानेकी चेष्टा। उन-उन चेष्टाओंके संस्कार—और फिर सृष्टि। इस प्रकारका यह चक्र चल रहा है। इससे छूटनेकी चेष्टा भी इसीमें है। जैसे कुम्हारके घूमते हुए चाकपर चलती हुई चींटी चलकर भी उसी चक्करमें रहती है वैसे ही अविद्यामें पड़े हुए जीवोंकी दशा है। परन्तु जैसे बादलोंके, वायुके और चाकके आवागमनमें आकाश एक-सा ही निर्लेप रहता है वैसे ही आत्मा है। वह एकरस है। वह चलकर नहीं प्राप्त की जाती। वह चलकर भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु तुम्हें चलनेके समय भी स्मरण रहना चाहिए कि जहाँसे तुम चले हो, जहाँ चल रहे हो, और जहाँ होकर चलोगे वहाँ भी वैसी ही आत्मा है जैसी कि तुम्हें गन्तव्य स्थानपर जानेके बाद मिलेगी। तुम केवल अविद्याका बन्धन काट डालो, उस बन्धनकी प्रतीति निकाल डालो। यही साधना है। तुम्हें परम सुख प्राप्त होगा।'

मैंने जितनी बातें कही हैं, वे केवल साधनावस्थाकी हैं। इसको अपने गुरुके पास जाकर समझो। वे तुम्हें अविद्यासे पार पहुँचा देंगे।

'उनकी बात समाप्त होते ही मैं पुनः अपने शरीरमें आ गया। आँखें खोलीं। गंगा हर-हर करती हुई बह रही थीं। हरिणियोंके नन्हें-नन्हें शिशु पास ही पानी पी रहे थे। रंग-बिरंगे पक्षी कलरव करते हुए किलोलें कर रहे थे। मैं आपके पास चला आया। गुरुदेव! यह सब मैंने क्या देखा है? इसका क्या रहस्य है? क्या सांसारिक दुःख-सुखका मूल हमारी

कामना और अविद्या है ? आपकी अमृतमयी वाणी सुननेको उत्सुक हूँ, कृपा कीजिये।' इतना कहकर ज्ञानेन्द्र चुप रह गये।

महात्माजी बड़े जोरसे हँसने लगे। उन्होंने कहा—'आज बड़ा अच्छा संयोग है। सुरेन्द्र आदर्श कर्म चाहता है, नरेन्द्र भगवान्‌की लीलाओंकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्र सुख-दुःखसे परे आत्माका बोध। साधारण लोग समझते हैं अलग-अलग। परन्तु वास्तवमें ये एक ही हैं। क्या इनके सम्बन्धमें मैं अपने अनुभव सुनाऊँ ? अपना अनुभव तो गुप्त रखना चाहिए; परन्तु तुम लोग तो अपने ही हो ! हाँ, तो इस विषयमें मैं अब अपना अनुभव सुनाऊँगा।'

सुरेन्द्र और नरेन्द्र तो ज्ञानेन्द्रकी बात सुनकर चकित थे ही। अब महात्माजीके अनुभव सुननेके लिए और उत्सुक हो गये। ज्ञानेन्द्र भी सावधान हो गया।

(६)

महात्माजीने कहा—'उन दिनों मैं बहुत विचार करता था। कोई भी वस्तु सामने आती, बस, मैं सोचने लगता—यह क्या है ? मेरी मान्यता भी यही थी कि किसी वस्तुपर विचार किये बिना उसकी ओर झुक जाना भगवान्‌की कृपा-रूपी बुद्धिका तिरस्कार करना है। ऐसा तो पशु भी नहीं करते। हाँ, तो मैं बहुत विचार करता था।

'माघका महीना था। आकाश बादलोंसे घिरा था। अँधेरी रात थी। मैं एक वृक्षके नीचे सोच रहा था। मेरी दृष्टि उस फैले हुए अन्धकारपर गयी। मेरे मनमें प्रश्न उठा—यह अन्धकार क्या वस्तु है ? क्या प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है ? तब क्या इस समय प्रकाश सर्वथा है ही नहीं ? बादलोंमें-से दो-चार तारिकाएँ चमक गयीं। उनकी ज्योति मेरी आँखोंका

स्पर्श कर गयी। मैंने अनुभव किया कि प्रकाश इस समय भी है। अच्छा, मान लो तारिकाएँ न चमकतीं, बड़ा घना बादल होता, तब क्या प्रकाश नहीं होता? अवश्य होता। हमारी आखें देख नहीं पातीं। हमारी आँखोंमें भी प्रकाश है! हमारा मन भी प्रकाशसे शून्य नहीं है। तब यह प्रकाश है, रहता है—और यही अन्धकारका अनुभव करता है। दीपकका अभाव अन्धकार है। सौ दीपकोंकी उपस्थितिमें एक दीपक भी अन्धकार है। लाखोंमें सौ। और सब दीपकमय ही हो, तब लाखों दीपक भी अन्धकार हैं। महासूर्य या ज्योतिर्नीहारिकापिण्डके सामने यह सूर्य भी अन्धकार है। आत्मज्योतिके सम्मुख वे भी। अधिक प्रकाशमें कम प्रकाशकी वस्तुएँ दीखती हैं। सबमें कुछ-न-कुछ प्रकाश है। प्रकाश-शून्य कोई भी नहीं। तब क्या प्रकाश और अन्धकार दो वस्तुएँ हैं? एक दूसरेकी अपेक्षासे हैं? अर्थात् एकके साथ दूसरी वस्तु लगी हुई है? मैं विचारमग्न हो गया।

'मैंने सोचा—नित्य कौन-सी है? अनित्य कौन-सी है? किसका बाध किया जा सकता है और कौन-सी अबाध है? कल्पना करें कि प्रकाश नहीं है। परन्तु इस प्रकाशके अभावको कौन प्रकाशित कर रहा है? वह भी तो एक प्रकाश है। अच्छा, प्रकाश है, अन्धकार नहीं है। तब प्रकाशको प्रकाश ही कैसे कहा जा सकता है? ठीक है, प्रकाशको प्रकाश नहीं कहा जा सकता। बिना अपेक्षाके शब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु केवल इसीसे प्रकाश वस्तुका अभाव तो सिद्ध नहीं होता। 'है, या नहीं' इन शब्दोंसे अनिर्वचनीयता होनेपर भी वस्तुकी सत्ताका निषेध नहीं हुआ। निषेध करनेवालेका निषेध भला कौन करे?

'प्रतीति अथवा भान प्रकाशको ही हो सकता है। अन्धकारको वह नहीं हो सकता। मैं हूँ अथवा नहीं, यह है अथवा नहीं

अर्थात् 'अहम्' वृत्ति और 'इदम्' वृत्ति दोनों ही प्रकाशको होती हैं, प्रकाशमें होती हैं। वह अन्धकारको 'इदम्' समझता है और प्रकाशको 'अहम्'। 'अहम्'के विना 'इदम्' वृत्ति नहीं रह सकती। वह 'अहम्'के आधारपर ही टिकी हुई है। परन्तु 'इदम्' वृत्तिके विना भी 'अहम्' वृत्ति रह सकती है, रहती है। 'अहम्' अबाध है, और 'इदम्' बाधित। 'अहम्' नित्य है और 'इदम्' अनित्य। 'अहम्' सत्य है, और 'इदम्' असत्य। परन्तु 'अहम्' सत्य है यह बात कहे कौन? सोचे कौन? अपने आपका अपने आपपर विज्ञापन ही कौन करे?

'बादल गरज उठे। बिजली चमक गयी। मेरी आँखें भी उधर गयीं। कान कनमना उठे। परन्तु अब न बिजलीकी वह चमक थी और न बादलोंकी गरज। मैंने सोचा—उनका गरजना, उनका चमकना क्या हुआ? आँखोंने अभी देखा था, कानोंने अभी सुना था। अब न आँखें देख रही हैं, न कान सुन रहे हैं! उनका भाव और अभाव दोनों ही आँखोंके सामनेसे गुजर गये। मेरी आँखें जैसी-की-तैसी बनी हैं। रूप, शब्द आदिके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाली ये आँखें और कान हैं। सारी स्थूल सृष्टि इन इन्द्रियोंकी प्रामाणिकतापर निर्भर है। इनमें तारतम्य तो होता ही है। किसीकी तेज, किसीकी मन्दी। इस सृष्टिको सभी विभिन्न रूपोंमें ग्रहण करते हैं। तब क्या यह विभिन्न रूपोंमें है? परन्तु सबको किसने ग्रहण किया? इन्हीं मेरी इन्द्रियोंने। विभिन्न व्यक्तियोंके अस्तित्वमें मेरी इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं। उनके भावोंकी परीक्षा और निश्चय इन्होंने ही किया है। तब इनकी बात माननेके पहले इन्हींकी परीक्षा और इन्हींके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिए।

अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है। मुझे सब पीला-पीला

दीखता था। ऊँची आवाज भी कम सुनायी पड़ती थी। क्षितिज चक्कर काटता-सा मालूम पड़ता था। उन दिनों मैं रुग्ण था। अब तो स्वस्थ हूँ। क्या मन इतना स्थिर है कि इसकी कोई बात मान ली जाय ? मन कहता है कि मैं स्वस्थ हूँ; परन्तु इसका क्या प्रमाण ? सम्भव है—कुछ दिनों बाद वह कहे कि तुम उन दिनों अस्वस्थ थे। तब आजकी बात झूठी हो जायगी। फिर क्या किया जाय ? बुद्धिकी बात मान ली जाय। परीक्षा करें कि मन स्वस्थ है या अस्वस्थ ? वह चञ्चल है या स्थिर ? काम-क्रोधादिसे प्रभावित होकर कुछ कर रहा है अथवा स्वतन्त्रतासे ?

'बहुरूपिये मनकी बातपर तो विश्वास नहीं होता; परन्तु बुद्धिका निर्णय तो स्वीकार ही करना चाहिए। मनकी भाँति ही बुद्धि भी तो दूषित हो गयी है। यह मनकी चेरी हो गयी है। जबतक यह विषयाभिमुख है, तबतक इसका निर्णय पक्षपातपूर्ण होगा। अब बुद्धिका ही परीक्षण-निरीक्षण होना चाहिए। बुद्धिसे अहम्‌का, आत्माका, प्रकाशका विचार किया जाय। अहम्‌की दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे बुद्धिको परखा जाय। बुद्धिको कभी कुछ सूझता है, कभी कुछ नहीं सूझता। कभी वह जागती है, कभी सोती है। अहम्, आत्मा उसकी सभी अवस्थाओंको देखा करता है। वह कभी देखा नहीं जाता। वह प्रकाश्य नहीं, प्रकाशक है। बुद्धि और उसके सूक्ष्म पदार्थ अहम्‌के द्वारा ही प्रकाशित हैं। और सब अन्धकार है। 'अहम्' प्रकाशक है। तब क्या ये 'अहम्'से भिन्न हैं ? क्या बुद्धिसे मन, इन्द्रियों और विषयोंकी सत्ता पृथक् है अथवा सब बुद्धिके ही परिणाम हैं ? रूप दीखता है, आँखें देखती हैं। आँखें क्या हैं ? रूपकी ही सूक्ष्म तन्मात्रा हैं। रूपका सूक्ष्म अंश

स्थूल रूपको देखता है। सूक्ष्म शब्द कर्णगोलकमें स्थित होकर स्थूल शब्दको सुनता है। इन इन्द्रियोंको देखता है। मन क्या है? उन्हीं विषयोंकी सात्त्विक तन्मात्रा। सब अपनेको ही देखते हैं। तब 'अहम्' भी अपनेको ही देखता है। सब 'अहम्'का ही विस्तार है। 'अहम्' वस्तु ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके रूपमें फैली हुई है। तब क्या 'अहम्' परिणामी है?

'पहले यह देखना चाहिए कि 'अहम्'का स्वरूप क्या है? क्या वह एकदेशी है? परन्तु यह कैसे हो सकता है? वह देश, उसके अवान्तर भेद और उसके अभावको देखता है। 'अहम्'ने ही बुद्धिवृत्तिके द्वारा देशकी सृष्टि की है। एक देश और सर्व देश उसीकी उद्भावनाएँ हैं, वृत्तियोंके ही अन्तर्भूत हैं। तब भला देश 'अहम्'को सीमित कर सकता है; क्या विभिन्न वस्तुएँ 'अहम्'को सीमित कर सकती हैं? परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं दीखता। सभी वस्तुएँ उसीमें हैं। वह सब वस्तुओंमें 'अहम्-अहम्' के रूपमें स्फुरित हो रहा है। अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें; उनके भेदकोंमें, व्यष्टि-समष्टि प्रकृतिमें और उसके परे भी 'अहं' का साम्राज्य है। सब एक घन 'अहम्' है, और उसमें 'अहं' शब्द लक्षणाके द्वारा तभीतक प्रवृत्त होता है जबतक 'इदं'की सत्ता दीखती रहती है। 'इदं' शब्दकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जानेपर 'अहं' शब्दकी भी प्रवृत्ति नहीं होती और एकरस अनिर्वचनीय वस्तुतत्त्व ही रह जाता है। और वह है ही। कालके द्वारा भी उसके परिच्छेदकी सम्भावना नहीं है। स्वयं काल भी बुद्धिकी सृष्टि है। अहं अनन्त चित्में आरोपित है। जैसे अनन्तका एक अंश असम्भव है वैसे ही कालके और निर्वचन भी असम्भव हैं। काल, देश और वस्तु सब उसीमें हैं, वही है। 'अहं' ही सब है। 'अहं' की

दृष्टिसे यह सब प्रपञ्च कुछ नहीं, 'अहं' ही सब है। यदि सबकी भी कुछ सीमा हो तो उसके परे भी 'अहं' है। उसमें परिणाम होनेके लिए न अवकाश है, न पोल है और न तो उसमें बाहर कोई स्थान ही है। उसका परिणाम कब, कहाँ, कैसे और किस रूपमें हो सकता है ? सब उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा व्यक्तित्व भी उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा 'अहं' भी उसीका आभास है ! मेरा वास्तव 'अहं' तो वही है। अहं ब्रह्मास्मि।' व्यष्टि और समष्टि दोनों कल्पित हैं, उपाधि हैं, दोनोंमें स्फुटित होनेवाला शुद्ध चैतन्य एक है।'

महात्माजीने आगे कहा—'इस प्रकार सोचते-सोचते मैं अन्धकार और प्रकाशकी तहमें पहुँच गया। मैंने देखा, अनुभव किया कि एक ही सत्य है। उसे प्रथमपुरुषके द्वारा कहा जाय या उत्तमपुरुषके द्वारा बात एक ही है। मध्यमपुरुषके द्वारा भी उसका वर्णन कर सकते हैं। वास्तवमें वह अनिर्वचनीय है। उसमें सजातीय-विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। और भेदका निषेध भी नहीं है। 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्, सत्यं-शिवं-सुन्दरम्।' मैं मस्त हो गया। मस्ती-बेमस्तीसे परे हो गया। मैं वैसा था ही. जान गया। नहीं-नहीं. कुछ नहीं जाना। जो जान लिया गया वह—नहीं—दूरमथो विदितादविदितादधि।

'मैंने और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया। तीनों शरीर, तीनों अवस्थाएँ और तीनों अभिमानियोंका विश्लेषण किया। पञ्चकोश और पञ्चभूतोंका अन्त कर डाला। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आकर्षण-विकर्षण, स्थिति-गति, जड़-चेतन, ये सब-के-सब दो भावोंसे ही ही कसौटीपर कसे जा सकते हैं। एक बाध्य और दूसरा अबाध्य। अबाध्यका निर्वचन तो बाध्यकी अपेक्षासे ही होता है। परन्तु निर्वचन न होनेपर भी अबाध्यकी वस्तु-

सत्ता अबाध ही रहती है। वही स्वरूप है। वही सर्वथा अबाध है।

'स्वरूपका निश्चय हो जानेपर जगत् और जगत्के मिथ्यात्व दोनों ही बाधित हो जाते हैं। तब वस्तुतत्त्वको पुरुष-दृष्टिसे भगवान्, स्त्री-दृष्टिसे माता, नपुंसक-दृष्टिसे ब्रह्म कहते हैं। जगत्के अतिरिक्त वस्तुतत्त्वको जान लेनेपर जगत् उससे भिन्न नहीं रहता। जगत् उससे समन्वित हो जाता है। तब जहाँ कहीं जिस रूपमें उसीके—अपने ही दर्शन होते हैं। नहीं भी होते हैं। होना-न-होना दोनों ही स्वरूप हैं।

'सर्वं यदयमात्मा।' 'अयमात्मा ब्रह्म।' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत्'—'सद्धीदं सर्वम्; चिद्धीदं सर्वम्।'

महात्माजी कहते-कहते तन्मय हो गये। वे मानो मस्त होकर गायन करने लगे। कुछ देरतक उनकी वाणी रुक जाती। कुछ समय बोलते रहते। सुरेन्द्र, नरेन्द्र और ज्ञानेन्द्र तीनों ही उनकी बात सुन रहे थे।

'आत्मा ही सब है। भगवान् ही सब हैं। माया क्या है? मिथ्या क्या है? सब स्वरूप है। सब सत्य है! सत्यको पाना नहीं है, वह प्राप्त है। उसको धारण करना नहीं है, वह धृत है। पाना भी उसे ही है, धरना भी उसे ही है। क्या लीला है! क्या माधुरी है! अनन्त भगवान्! सब भगवान्, सब अपना आपा!

'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य।

'कितना रस है! कितनी मिठास है! आनन्द और

शान्तिका अनन्त समुद्र उमड़ रहा है। उसमें सारा विश्व आत्म-विस्मृत होकर डूब-उतरा रहा है। उसमें इतनी मादकता है कि अपने आपको भूलकर, उसको भूलकर सब उसीमें उसको ढूँढ़ रहे हैं। भगवान्‌को पूछ रहे हैं। आत्मा ही आत्माका अनुसन्धान कर रही है। ज्ञान ही ज्ञानके लिए आतुर हो रहा है। कैसी लीला है! कितना सुन्दर खेल है! जो खिलाड़ी है, वही खिलौना है और वही खेल है। देख भी वही रहा है। अपने खेलमें स्वयं ही रीझ गया है। यही खेलकी पूर्णता है। सम्पूर्ण रसमय, सम्पूर्ण मधुमय और सम्पूर्ण आनन्दमय।

'पवित्रता, शान्ति और आनन्द। सम्पूर्ण साधनोंका सूक्ष्म रूप यही है। जहाँ 'पापोऽहं' की भावना है, वहाँ भी अन्तस्तलमें पवित्रताका स्रोत है। वह आज नहीं तो कल फूट निकलेगा और सारी प्रकृतिको एवं अणु-परमाणुओंको पवित्रतामय कर देगा। केवल पवित्रताकी चेष्टा हो। आत्मामें, परमात्मामें, हृदयमें छिपी हुई मूर्च्छित, सुप्त पवित्रताको ढूँढ़ निकाला जाय, जगा लिया जाय। चाहे जैसे हो—जपसे, तपसे, प्रार्थनासे, ध्यानसे, ज्ञानसे, कर्मसे, भक्तिसे, पापोऽहंसे। राग और विराग दोनों ही पवित्रताके साधन हैं। पवित्रता ही शान्तिकी जननी है। शान्तिमें ही आनन्द है। अपवित्र शान्त नहीं हो सकता। अशान्त सुखी नहीं हो सकता। पवित्रता, शान्ति और आनन्द ये परमार्थके मूल स्वरूप हैं।

'तब फिर कूद क्यों न पड़ें पवित्रताकी उस अनन्त धारामें? कब और कहाँ? अभी और यहीं। प्रतीक्षा दुर्बलताकी द्योतक है। एक पगली छलाँगमें ही क्यों न कूद पड़ें? तब क्या हम कूदे हुए नहीं हैं? कूदे हुए हैं। परन्तु हम हैं कहाँ? हमारा मन, हमारा हृदय, हमारी आँखें हमसे दूर हैं। जहाँ हम हैं वहाँ

वे नहीं। यही तो वैषम्य है। जहाँ हम हैं, वहीं सब रहें। हम हैं अमृतमें। वास्तवमें हम अमृतमें हैं। परन्तु हमारा मन विषमें है। हम वर्तमानमें हैं, वह भूत या भविष्यमें है। हममें दो-चार हाथ दूर रहना उसका स्वभाव है।

'अपवित्रता, अशान्ति और दुःखका यही कारण है। इसे समेट लें, अपने पास बुला लें। जहाँ हम रहें, वहीं मन रहे। हमारा सेवक, हमारा यन्त्र हमारे अधीन, हमारे आस-पास हमारे वशमें रहे। बस, हमारी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे। यही पवित्रताकी साधना है। इसे अभी पूर्ण कर लें। हाँ, अभी। शायद विलम्ब और विलम्बकी सृष्टि कर दे। शायद क्या निश्चय ही। तब फिर अभी।

'मन दूर क्यों जाता है? किस वस्तुकी अपेक्षा है? उपेक्षा क्यों नहीं कर देता? अपेक्षा (अप+ईक्षा) अर्थात् अन्धता। उपेक्षा (उप+ईक्षा) अर्थात् तटस्थ दृष्टि। वह किसी वस्तुको तटस्थ रहकर नहीं देखता। उसके साथ घुलमिल जाता है, अभिनिविष्ट हो जाता है। यह अपेक्षा, अन्धता अर्थात् अज्ञान ही उसे अन्यत्र ले जाता है। अपेक्षा अन्धी है। उपेक्षा सद्दृष्टि है। यह दृष्टि ज्ञानका स्वरूप है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें, दोनोंसे तटस्थता रहे तो अपेक्षा हो ही नहीं। फिर मन अपनेसे दूर ही न जाय, अपने पास रहे, अपने सामने रहे। अपना ही रस, अपना ही आनन्द लेने लगे।

'संकल्प ही सारे प्रपञ्चका मूल है। संकल्प ही न किया जाय। संकल्प न करनेका भी संकल्प न किया जाय। तटस्थ दृष्टिकी भी अपेक्षा न रहे। जो हो रहा है—होने दो। जो कुछ किसीके सम्बन्धमें कहा-सुना जा रहा है—कहा-सुना जाने दो। तुम निःसंकल्प रहो। अपने आपमें रहो। भगवान्में रहो।

संकल्पका त्याग होते ही निष्काम कर्म होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही भगवान् और उनकी लीलाके दर्शन होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही आत्मसाक्षात्कार हो जायगा। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अपेक्षाका जनक है। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अज्ञान है। अपना संकल्प तो करना ही क्या है? केवल आत्मा है, भगवान् है, ज्ञान है, आनन्द है। संकल्परहित अद्वैत है। बिना दोका एक है। शान्ति है, आनन्द है। सर्व-असर्व एक है।

'सुरेन्द्र! तुम संकल्पहीनताका अभ्यास करो। भगवान्की इच्छासे सामने जो कर्तव्य आ पड़े, उसे बिना आसक्तिके कर डालो। पूर्वसंकल्प मत करो। भूलो मत। अपेक्षा मत करो। फल मत सोचो। भविष्यकी ओर दृष्टि मत करो। अपना काम करते चलो। कर्मकी पूर्णता फलमें नहीं है। उसकी पूर्णता उसकी ही पूर्णतामें है। प्रत्येक क्रिया पूर्ण है। केवल आँखें उसपर जमी रहें। दृष्टिकी चञ्चलता ही चञ्चलताकी जननी है। स्थिर हो जाओ। अभी स्थिर हो जाओ। तुम स्थिर ही हो। तुममें गति है ही नहीं। अब यहाँसे जाकर अपने वर्णाश्रमधर्मका सेवन करो। आदर्शको ढूँढ़ो मत। तुम स्वयं आदर्श बनो। तुम स्वयं आदर्श बनो।

'नरेन्द्र! तुम भगवान्को देखो। भगवान्की लीलाको देखो। बाह्य वस्तुओंके संकल्प त्याग दो! तुम्हारे सामने इसी क्षण भगवान् और उनकी लीला दोनों ही प्रकट हो जायँगे। उनके अतिरिक्त और है ही क्या? केवल संकल्पने ही बाह्य वस्तुओंकी सृष्टि कर रखी है। इन्हें रोकते ही, इनका त्याग करते ही भगवान्की लीलाके दर्शन होते हैं। अभी छोड़ दो। अन्तर्लीलाकी अनुभूति हो जानेपर बाह्य जगत् भी भगवान्की लीला ही हो

जाती है। वास्तवमें सब भगवान्‌की लीला ही है। अपने अपेक्षापूर्ण संकल्पोंका त्याग कर दो। वासनावासित मनोराज्यकी उपेक्षा कर दो। एकबार उपेक्षा कर देनेपर ही उपेक्षित वस्तु उस रूपमें न रहेगी। भगवान् तुम्हारा कल्याण कर रहे हैं। तुम अन्तर्जगत्‌में प्रवेश कर रहे हो। मैं तुम्हारी अन्तर्मुखता देख रहा हूँ। शान्ति, शान्ति, शान्ति। तुम्हें भगवान्‌की लीला दीख रही है।

'ज्ञानेन्द्र ! तुम संकल्प और उनके अभावके साक्षी हो। वही, साक्षी और साक्ष्यका भेदभाव तुममें नहीं बनता। तुम हो, तुम्हीं हो, 'तत्त्वमसि' यह कहना भी नहीं बनता। न तुम्हें परम सुखकी अपेक्षा है और न तो ज्ञानकी। तुम्हीं सब हो। तुम स्वयं पूर्ण हो। पूर्ण रहो। पूर्ण रहोगे। पूर्ण-ही-पूर्ण है। परमार्थ-ही-परमार्थ है। पथ भी परमार्थ ही है। जहाँसे पथ प्रारम्भ होता है वह भी परमार्थ ही है।

'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

सुरेन्द्र निष्काम भावसे शान्त बैठा था। नरेन्द्रको सर्वत्र भगवान्‌की लीलाके दर्शन हो रहे थे। ज्ञानेन्द्र स्वरूपसमाधिमें मग्न था! गंगाजी बह रही थीं। महात्माजी हँस रहे थे!

अभक्त कोई नहीं

पहली बात—सभी जीव सहज स्वभावसे बिना किसी विकार-संस्कारके सुख चाहते हैं—वह भी ऐसा, जो हमेशा रहे, हर जगह मिले और वही-वही हो। अर्थात् सुखमें देश, काल और वस्तुका परिच्छेद किसीको सहन नहीं होता। उसकी उपलब्धि किसी दूसरेके अधीन न हो—न व्यक्तिके, न साधनके। उसका स्फुरण भी होता रहे; क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यही सम्पूर्ण जीवोंका इष्ट है। चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कीट-पतंग हो, देवता हो—उसकी इच्छाका विषय यही सुख है। इसी सुखको कोई सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं, कोई ईश्वर, राम, कृष्ण। कोई नाम भी क्यों न हो, उससे लक्ष्यमें भेद नहीं होता। इस दृष्टिसे देखें तो संसारके सभी प्राणी ईश्वरकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, इसलिए किसीको नवीन रूपसे इष्टका निश्चय करनेकी आवश्यकता नहीं है। इष्ट तो स्वतःसिद्ध ही है। अतः सब भक्त-ही-भक्त हैं।

दूसरी बात—कोई भी परमाणु वह आज भले ही जड़रूपसे भास रहा हो, अपनी सूक्ष्मदशामें चिदणु ही है और कभी-न-कभी उसको अपने चित्स्वरूपका अनुभव करना है। इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् जीवमय ही है। क्या चर, क्या अचर, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी, सब अपने प्रतीयमान परिच्छिन्न रूपमें जीव ही हैं। बिना उपाधिके व्यवहार सम्भव नहीं है। उपाधियाँ सब-की-सब व्यक्त हैं। और वे एक अव्यक्त सत्तामें अव्यक्त ज्ञानके द्वारा

प्रकाशित और संचालित हो रही हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि सब-के-सब उपाधिसे तादात्म्यापन्न जीव एक ही ईश्वरकी गोदमें स्थित हैं। उसीके ज्ञानसे आभासित हैं और उसीसे नियन्त्रित भी। उसीमें सबका सोना और जागना होता है। चलना एवं बैठना भी। उसीकी आँखसे सब देखते हैं। उसीके कानसे सुनते हैं और उसीकी बुद्धिसे विचार करते हैं। उसके बिना जान नहीं सकते। उस परमप्रेमास्पद रसके बिना रह नहीं सकते। इसमें भी आस्तिक-नास्तिक, ज्ञानी-अज्ञानीका कोई भेद नहीं है। स्थितिकी दृष्टिसे सब ईश्वरमें, ईश्वरके लिए और ईश्वररूप ही हैं। जिनके द्वारा भक्त प्रेरित, पालित, चालित एवं निरुद्ध होते हैं, उसीके द्वारा अभक्त भी। जो स्मृति देता है, वही विस्मृति भी। जो सुख देता है, वही दुःख भी। क्या किसी व्यक्तिकी स्थिति-गति इस वस्तुस्थितिका अतिक्रमण कर सकती है ?

पचीस वर्ष पूर्वकी बात है—मैं गङ्गातटवर्ती एक प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुषके पास गया। उनसे प्रार्थना की—'गुरुदेव, आप मुझे भगवान्‌का शरणागत बना दीजिये।' महात्माजीने कहा—'शान्तनु, तुम कल आना और पूर्णरूपसे विचार कर आना। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और सूर्य-चन्द्रमा क्या भगवान्‌की शरणमें नहीं हैं ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या उसीके जिलाये नहीं जी रहे हैं ? क्या ऐसी कोई कणिका है, जो उसीसे सत्ता, स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर रही है ? जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है; मैं उसीको शरणागत कर दूँगा। ईश्वर और जीवकी चाल अलग-अलग नहीं हो सकती। ईश्वरका स्वरूप, उसकी शक्ति और प्रकृति, महत्तत्त्व और बुद्धि—यह क्या भिन्न-भिन्न होने सम्भव हैं ? जिसके पञ्चभूत हैं, उसीके शरीर हैं। यह शरीर, प्राण, मन,

बुद्धि, अहंकार—हम जो कुछ अपनेको मानते-जानते हैं वह सब, तथा जीव जो कुछ पहले था, अब है, और आगे होगा, ईश्वरका है और उसीकी शरणमें है। क्या कोई भी अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दसे पृथक् अपनेको स्थापित कर सकता है? अशरणपना एक भ्रमजन्य भाव है। स्थितिकी दृष्टिसे भी समाधि और व्यवहार, सुषुप्ति और जाग्रत्, ज्ञान और अज्ञान सब-के-सब एक ही कक्षामें निक्षिप्त हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई अभक्त नहीं है।

तीसरी बात—वर्तमानमें ही हमारा इष्ट उपस्थित है और उसीमें हमारी स्थिति है। गम्भीरतासे विचार करके देखें तो हम जिस इष्टको चाहते हैं और जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस इष्ट और स्थिति दोनोंको ही हम अप्राप्त मानकर चाहते हैं; परन्तु अनजानमें ही अपनी गहरी अन्तश्चेतनामें उन्हें अविनाशी, पूर्ण और सर्वात्मक भी मानते हैं। यह एक विचित्र बात है। किसी भी वस्तुको सदाके लिए चाहना और उसे वर्तमान कालमें न मानना, सर्वत्र मिले यह चाहना और विद्यमान देशमें न मानना, सर्वरूपमें पानेकी इच्छा करना और प्रतीयमान विषयमें न मानना एक बौद्धिक असङ्गति है। वर्तमानसे पृथक् कर देनेपर तो हमारा इष्ट ही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न न रहेगा। न वह पूर्ण होगा और न तो सम्पूर्ण जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण ही। फिर तो उसे एक अतीतकी वस्तु समझकर रोयें या भविष्यकी कोई मनःकल्पित वस्तु मानकर बार-बार उसके बारेमें मानसिक कल्पना करते रहें। केवल अतीतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना करना वस्तुस्थितिसे आँख मूँदना है। हमारा प्यारा-प्यारा इष्ट अभी है, यहीं है और यही है। पहले भी यही और भविष्यमें भी यही। जन्म और

मृत्युकी परम्पराने, जाति और भावके परिवर्तनोंने उसमें कोई अन्तर नहीं डाला है। वह अविनाशी है और ज्यों-का-त्यों है। साथ ही हम अभी, यहीं और उसीमें स्थित हैं। देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण कहते हुए 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमें 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग करके यही अभिप्राय व्यक्त किया है। इस शब्दके द्वारा सामने विद्यमान वर्तमान भगवान्‌की ओर ही संकेत है। अन्यथा बादके सूत्रमें—'यज्ज्ञात्वा स्तब्धो भवति मत्तो भवति आत्मारामो भवति' जिसके ज्ञानसे ही जीव स्तब्ध, मत्त और आत्माराम हो जाता है—यह न कहते।

अबतककी बातोंका निष्कर्ष यह निकला कि इष्ट दूर नहीं है और उसमें स्थिति भी अप्राप्त नहीं है। भक्तिके आचार्योंने यह नहीं माना है कि भक्ति किसी नवीन भावका उन्मेष है और इष्ट कोई सर्वथा अप्राप्त वस्तु। वे अपने इष्टको 'जन्माद्यस्य यतः' आदिके द्वारा जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ही मानते हैं और भक्तिको भी स्वतःसिद्ध भावका प्रादुर्भावमात्र। जीव-मात्रको भगवान्‌का नित्य दास अथवा नित्य कान्ता ही वे स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थितिमें वह कौन-सी वस्तु है, जिससे रहित मानकर हम जीवको अभक्त मानें? भक्ति-सिद्धान्तमें भी नित्य प्राप्तकी प्राप्ति और वस्तुसे परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थ अप्राप्त होते हैं। भगवान् और भक्ति वैसे अप्राप्त नहीं हैं। क्या भगवान् और भक्तिकी प्रतीयमान अप्राप्ति भगवान्, उनकी कृपा और भक्तिका ही कोई विशेष भाव और आकार नहीं है? अवश्य है, क्योंकि वही तो भगवत्प्राप्ति, प्रेम और कृपाकी प्यास अथवा लालसाकी जननी है।

चौथी बात—यह प्रत्यक्ष है कि मृत्तिका, स्वर्ण, लोह आदि धातुएँ एक होनेपर भी अनेक नाम-रूपोंसे व्यवहारका विषय

बनती हैं; भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी उन नाम-रूपोंमें अपनी प्रियता और रुचिकी पृथक्ता भी देखनेमें आती है, परन्तु केवल इसी कारणसे धातुभेद कोई स्वीकार नहीं करता। यदि रुचि और प्रियताके भेदसे अपने ही अन्तःकरणमें संघर्षकी सृष्टि कर ली जाय तो वही धातु दुःखका कारण बन जाती है। एक ही भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आकारोंमें प्रकट होते हैं। ऐसी स्थितिमें एक आकारसे प्रेम करके क्या उनके दूसरे आकारोंसे द्वेष किया जाय ? नहीं-नहीं, वे सभी परस्पर विलक्षण होनेपर भी अपने इष्टके ही आकार हैं। इसीप्रकार हमारे हृदयमें स्थित प्रीति भी समय-समयपर परस्पर विलक्षण आकारोंमें प्रकट होती है। बच्चेको दुलारना-चूमना और चपत लगाना क्या दोनों ही माँके वात्सल्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं ? पति-पत्नीका परस्पर मान करना भी तो प्रेम ही है। इसी प्रकार भक्तिके भी अनन्त रूप और अनन्त नाम हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुसे अधिक भगवान्का विरोधी और कौन होगा ? परन्तु वे दोनों भी जय-विजयके ही, जो कि भगवान्के नित्य पार्षद हैं, मूर्त रूप थे। कथा है कि एक बार भगवान्के मनमें किसीसे द्वन्द्व-युद्ध करनेकी इच्छा हुई; परन्तु उनसे युद्ध कर सकें ऐसा संसारमें कोई नहीं था। जय-विजयने अपने स्वामीका संकल्प देखा और अनुभव किया कि हमारे सर्वशक्तिमान् प्रभुमें अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेका सामर्थ्य नहीं है। अपने प्रभुकी शक्ति-न्यूनतासे उन्हें दुःख हुआ। इसीलिए वे भगवान्का संकल्प पूर्ण करनेके लिए और उनकी प्रतीयमान अपूर्णताका कलङ्क-मार्जन करनेके लिए तथा इस रूपमें एक विशेष प्रकारकी सेवा करनेके लिए प्रेमसे ही असुरके रूपमें प्रकट हुए। भक्तिका यह उत्कृष्ट रूपी अपनी प्रियता और रुचिका त्याग

करके प्रभुकी प्रियता और रुचिके प्रति आत्मबलिके बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात भी तो प्रसिद्ध है कि कैकयीने रामकी प्रसन्नता और सुखके लिए ही दशरथसे उनके वनवासका वरदान माँगा था। श्रीमद्भागवतमें ही भवगवद्विषयक काम, क्रोध, भय आदिको भी तन्मयता और कल्याणका हेतु बताया गया है। किसी जीवके हृदयमें भगवान्ने अपना कौन-सा आकार प्रकट कर रक्खा है और स्वयंप्रकाश, स्वच्छन्द प्रकृति भक्ति-महारानी कौन-सी वेष-भूषा धारण करके किस भाव, आकार और क्रियाके रूपमें अपनी उच्छृङ्खल लीला कर रही हैं, इसको पहचाननेका कौन दावा कर सकता है?

पाँचवीं बात—सत्ययुग आदि कालभेद, पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदि देशभेद और भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय-भेद भी भक्तिको छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। क्योंकि भक्ति सर्वकालमें, सर्वदेशमें और सर्व सम्प्रदायोंमें केवल मनुष्योंके ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंके हृदयमें उनके अभीष्ट परमानन्दकी प्रकट अभिव्यक्ति है। वह महाविश्वास, परम प्रेममय दिव्य रसके रूपमें अव्यावृत्त अमृत-स्वरूपसे प्रवाहित रहती है। कभी-कभी किन्हीं लोगोंमें श्रमके रूपमें तो कहीं बहिरङ्ग-अन्तरंग पूजा-उपासनाके रूपमें तो दूसरी जगह योगाभ्यास एवं गौरवमयी सम्बन्धमयी भावधाराके रूपमें, अन्यत्र व्याकुलता, तत्त्वजिज्ञासा और तत्त्वानुभूतिके रूपमें भी वही अपना मधुर-मधुर नृत्य, संगीतमय पादविन्यास कर रही है। समाधि और विक्षेपका भेद होनेपर भी वह दोनोंमें ही एकरस अनुस्यूत रहती है। उसे ज्ञानी और अज्ञानीकी भी पहचान नहीं है। सृष्टि और प्रलय दोनों ही उसके विलास हैं। जो बालक अपने पिताकी गोदमें वैठकर स्वीकार करता है कि तुम मेरे पिता हो, वह तो पुत्र

है ही; जो उसकी दाढ़ी-मूँछ पकड़कर खींचता है, नाकमें उँगली डालता है, अपने पिताको पिता न मानकर उसके मित्रको पिता बताता है या भोलेपनसे किसीको पिता स्वीकार ही नहीं करता, वह भी पुत्र ही है। इसमें देश-विदेश, जाति, कुल, परम्परा आदिके भेद क्या बिगाड़ सकते हैं ?

जैसे भिन्न-भिन्न बीज अथवा शरीर पञ्चभूतोंसे अन्न, रस, उष्णता, प्रकाश, प्राण और अवकाश लेकर जीवन धारण करते हैं, बिना समष्टिकी सत्ता और शक्तिके कोई व्यष्टि जीवित रह ही नहीं सकती, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके रूपमें व्यवहार करनेवाले जीव भी अनन्त सत्ता, शक्ति, चेतन और आनन्दसे सम्बद्ध हुए बिना उससे जीवन, प्रेम और प्रकाश प्राप्त किये बिना रह ही नहीं सकते। यह जो उपजीव्य-उपजीवक अथवा आश्रय-आश्रित भाव है, इतना प्रत्यक्ष है कि खुली आँखसे और बिना आँखके भी देखा जा सकता है। इसलिए भगवान्‌से कोई विभक्त है अथवा वस्तुतः उनका कोई अभक्त है यह कल्पना भूलसे ही है और यही अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि करके दुःख देती रहती है। अवश्य ही यह दुःख भी, यह दोष-दर्शन भी एक दिन वैराग्यका हेतु बनकर ऐसा अनुभव कराये बिना नहीं रहेगा कि मैं भी भक्तिकी एक अनिर्वचनीय लीला हूँ।

छठी बात—जीवके मनमें विषयभोग, कर्म और अभिमानकी वृद्धिके लिए अनेक इच्छाएँ होती रहती हैं। कभी-कभी उनसे बचनेकी भी इच्छा होती है; परन्तु संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अपनी सब इच्छाओंको युगपत् या क्रमसे पूर्ण कर सके। उसमें उचित-अनुचित आवश्यक-अनावश्यक, पहले-पीछे आदिका भेद करके काट-छाँट करनी पड़ती है। विवेकपूर्वक की

हुई इच्छा-पूर्तिमें त्याग उपस्थित रहता है, इसलिए सुख भी। अविवेकपूर्वक की हुई इच्छा-पूर्तिमें नियन्त्रणका अभाव उपस्थित रहता है अतएव दुःख भी। जीवको कभी आत्मतुष्टि होती है और कभी आत्मग्लानि। भूल सहज रूपसे जीवके मनको अभिभूत कर देती है। वह दुःखी होता है अपनी वर्तमान रहनीको देखकर। यह ठीक भी है; परन्तु ईश्वर उसकी भूल नहीं, उसके इष्ट और भावको देखता है। ईश्वर जानता है कि यह सच्चे सुखकी अर्थात् मेरी प्राप्तिके लिए ही व्याकुल हो रहा है और पथभ्रष्ट हो गया है। यदि प्रेमसे अपने पास आनेवाला कोई व्यक्ति मार्ग भूल जाता है, उद्देश्य और अभिप्राय पवित्र होनेपर भी कोई गलत कदम उठा लेता है तो क्या केवल इसी अपराधसे ईश्वर रुष्ट हो जायगा? जीवोंके अपराधसे यदि इस प्रकार ईश्वर रुष्ट होने लगे तो ईश्वर केवल रोषमय ही रोषमय रहेगा। अनन्त जीव, एक-एक जीवके अनन्त-अनन्त अपराध! प्रेममय ईश्वर अपनेको उनकी स्मृतियोंमें उलझाकर कौन-सी सुख-समाधि उपलब्ध करेगा? एक सज्जनने किसी महात्मासे पूछा—'ईश्वर मुझपर रुष्ट है या तुष्ट?' महात्माने कहा—'तुम स्वयं अपने ऊपर रुष्ट हो या तुष्ट?' वस्तुतः ईश्वर कहीं अलग बैठकर रोष-तोष नहीं करता। वह तो जीवकी आत्मानुभूतिके साथ ही एक हो रहा है। जब मयूर अपने रूप-सौन्दर्यसे आह्लादित न होकर सारिकाकी वाङ्माधुरीके लिए लालायित होता है और सारिका अपनी कोमल वाणीसे आह्लादित न होकर मयूरके रूप-सौन्दर्यके लिए अभिलाषा करती है तब ईश्वर दोनोंके ही मनोभावको देखता और समझता है कि ये दोनों ही अपने-अपनेमें अपूर्णता अनुभव करके मेरी पूर्णता प्राप्त करनेके इच्छुक हैं और मेरे भक्त हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी दृष्टिसे सभी जीव उसीके स्वरूप तथा उसीके प्रेमी भक्त हैं। वे किसी भी अवस्थामें उसके वात्सल्य-भरे उत्सङ्ग और प्रेममयी कृपासे वञ्चित नहीं हैं। वह अपने ही प्राणोंसे उन्हें प्राण देता है और अपनी ही आँखोंकी रोशनी। अपने ही रससे तृप्त करता है और अपनी ही आत्माके रूपमें अनुभव करता है। कहीं किसीको अपने ही अंगोंमें पक्षपात या निर्दयताका भाव होता है? आज तक ईश्वरने किसीको अभक्त समझकर अपनी दी हुई सुख-सुविधाओंसे वञ्चित किया है?

सातवीं बात—यह देखनेमें आता है कि भक्तोंके साधन, अभ्यास, मन्त्र, नाम, रूप, भाव आदि अलग-अलग होते हैं; परन्तु इस भेदसे भक्ति-भावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। किसी एक महाराजाके अनेक सेवक हों तो यह आग्रह करना कि सब एक ही पद्धतिसे एक ही प्रकारकी सेवा करें यह व्यर्थ ही नहीं अनुचित भी है; क्योंकि समय, स्थान, रुचि, वस्तु, शक्ति, व्यक्ति, अवस्था आदिके भेदसे सेवाके अनेक रूप अपेक्षित होते हैं। भोजनकी सेवा अलग और चरणकी सेवा अलग। यदि सभी सेवक यह आग्रह करने लग जायँ कि जिस भावकी जैसी सेवा मैं करता हूँ, वैसी ही सेवा सब करें तो केवल सेवकोंको ही नहीं, सेव्यको भी उद्वेग होगा। कर्त्ता, करण, उपकरण, सम्बन्ध, भावना, बुद्धि और स्थिति यह सब-के-सब एक-से हों, सब प्रभु-प्रभु या प्यारे-प्यारे ही पुकारते रहें, सब राम-राम या श्याम-श्याम, अथवा शिवोऽहम्-शिवोऽहम् रटा करें—इन सब छोटे-मोटे आग्रहोंसे भक्ति-भाव बद्ध नहीं है। वह तो विदूषक या उद्धत केशकी, जटी या मुण्डीकी स्तुति, जनकपुर-बरसानेवालोंकी अटपटी गालीकी, चरणोंमें पड़ने या

श्रीदामाजीकी भाँति अपना वाहन बनानेकी विलक्षण क्रियाओंकी परवाह किये बिना, सर्वत्र अपने अखण्ड साम्राज्य पदपर ही आरूढ़ रहता है। हम किसीको अभक्त तो तब मान बैठते हैं जब हमारा चित्त पूर्वाग्रहके भारसे जर्जर, कुछ सीमित संस्कारोंसे आक्रान्त अथवा सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धिसे परित्यक्त होता है; परन्तु इस दशामें भी अपनी निष्ठामें अनन्यताका रूप ग्रहण करके भक्ति विद्यमान रहती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सिद्धान्त रूपसे भगवान्‌को सर्वात्मा स्वीकार करनेके बाद भी कोई भगवान्‌का विरोधी या अभक्त कैसे मालूम पड़ता है।

आठवीं बात—मूर्च्छा-सुषुप्ति, मृत्यु-प्रलय, निःसंकोचता, समाधि—इनमें-से कोई भी अवस्था भक्तिरहित नहीं होगी। एक तो इनमें जाग्रत् और स्वप्नके प्रपंचका भान न होनेपर भी अनजानमें ही चित्तवृत्ति अपने आश्रयभूत स्वस्वरूप परमात्माका आलिङ्गन करके उसीमें स्थित रहती है, दूसरे इन स्थितियोंसे किसी भी बीजका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जैसे वटके नन्हें-से बीजमें विशाल वृक्षकी छोटी-मोटी शाखाएँ, पल्लव, पुष्प फल आदि सभी विशेषताएँ समायी रहती हैं, इसी प्रकार इन अवस्थाओंमें भी सभी पदार्थ बीजके रूपमें विद्यमान रहते हैं। न केवल इसी जन्मके सस्कार प्रत्युत अनादि कालसे अबतक सभी अतीत जन्मोंके संस्कार और आगामी असंख्य जन्मोंके बीज-संस्कार भी उनमें ही सिमटे रहते हैं; क्योंकि वे सभी अवस्थाएँ कारणरूप ही हैं। न ऐसा कह सकते हैं कि किसी जीवके अन्तःकरणमें अनादि कालसे अनुवृत्त जन्म-मृत्यु-परम्परामें कभी भक्तिभावका आविर्भाव नहीं हुआ और न तो ऐसा ही कह सकते हैं कि आगे भी नहीं होगा। इसलिए वर्तमानमें किसीको भी भक्ति-संस्कारसे शून्य

कहना या समझना कैसे उचित हो सकता है? यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्तिके वर्तमान जीवनमें अपनी निष्ठा, मान्यता, रुचि एवं ग्रन्थ-विशेषके अनुसार भक्तिकी वेष-भूषा और रंग-रूप प्रकट करनेके लिए वैसा कह रहे हों। अपनेमें भक्तिके अभावका अनुभव करना उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार भक्तिसे युक्त देखनेका संकल्प है। इस दृष्टिसे भी संसारका कोई भी जीव वस्तुतः अभक्त नहीं है।

नवीं बात—ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे भी भक्तिकी कोई हानि नहीं है; क्योंकि ज्ञानसे केवल अविद्याकी ही निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहारकी नहीं। जिस उपाधिके कारण भेदकी प्रतीति अथवा व्यवहार हो रहे हैं वह उपाधि जबतक प्रतीत होती रहेगी तबतक उसके गुणधर्म भी रहेंगे ही। उपाधि जब निःसंकल्प होकर अपने आश्रयमें स्थित रहती है, तब शान्तरस है। जब यह कर्म-परायण है तब दास्यरस है। जब वह सम्पूर्ण जीवोंके प्रति सद्भावसे युक्त है, तब सख्यरस है। जब वह ध्येयरूपसे अपने उत्सङ्गमें ही केवल चेतनको विषय करती है, तब वह वत्सलरस होता है। और जब वह आश्रय और विषयके रूपमें स्थित अद्वितीय चेतनका आलिङ्गन करती और उससे आलिङ्गित होती है, तब मधुररस होता है। उपाधि चाहे ज्ञानीकी हो या अज्ञानीकी, उसके सारे खेल हो परब्रह्म परमात्मामें हो रहे हैं। वह जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है और जिस स्वयंप्रकाश सर्वावभासक चेतनके द्वारा प्रकाशित हो रहो है, वे दोनों अधिष्ठान और प्रकाशक वस्तुतः दो नहीं हैं। अद्वितीयता भी विलक्षण है। एक-एकका योग दो हो जाता है परन्तु अद्वितीय-अद्वितीय मिलकर दो नहीं होते। भाव-अभाव आदिके द्वन्द्वमें प्रतियोगी रहता

हैं; परन्तु ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसी वस्तुस्थितिमें द्रष्टा और अधिष्ठानमें भेदबुद्धिके रहनेतक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेदबुद्धिके निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्मरूप हो हैं; क्योंकि अधिष्ठानसे अध्यस्त और प्रकाशकसे प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।

अद्वैत-वेदान्तमें साधनका विचार करते समय यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया गया है कि ईश्वरकृपासे ही अद्वैतमें रुचि होती है। ईश्वरमें रागात्मिका भक्तिका उदय होनेसे संसारके राग-द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। राग होनेसे वस्तुके दोषका पता नहीं चलता, द्वेष होनेसे गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिए अन्तःकरणको राग-द्वेष-शून्य करनेके लिए भगवद्भक्तिकी आवश्यकता सर्वमान्य है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब पदार्थका तात्त्विक अनुसन्धान प्रारम्भ होता है, तब 'तत्' पदार्थके शोधनमें जो विशेष रुचि है, उसे आत्मरति कहते हैं। प्रधानतया उपाधिके विवेकमें न्यायमीमांसा, 'तत्' पदार्थके विवेकमें भक्तिशास्त्र और 'त्वम्' पदार्थके विवेकमें सांख्य-योग अत्यन्त उपयोगी हैं। किसी-न-किसी कक्षामें सभी सम्प्रदाय और शास्त्रोंका उपयोग है। जिनके विचारसे 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्'पदार्थ अलग-अलग रहते हैं, उनके लिए भगवद्भक्ति और आत्मरतिमें भेद रहता है। जब दोनों पदार्थोंके ऐक्यका बोध होता है, तब आत्मा और परमात्माके एक होनेके कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति भी एक ही स्थितिकी वाचक हो जाती है। उसे ही ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं। इस प्रकार बहिरङ्ग साधनसे लेकर ब्राह्मी-स्थिति पर्यन्त एक ही भक्तिदेवी अपनी साज-सज्जा, आकार-प्रकार अदल-बदलकर अनेक नाम-रूपोंमें

प्रकट होती रहती हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंके रूपमें विवर्त-मान होती रहती हैं। चित्तवृत्तिका सत्य, ज्ञायमान सुखरूप तत्त्वमें जो सहज पक्षपात है उसीका नाम भक्ति है और वह किसी भी जीवको किसी भी अवस्थामें कभी प्रकट और कभी गुप्त रहकर अपनी उपस्थितिसे वञ्चित नहीं करती। और तत्त्व-दृष्टिसे तो सब ब्रह्म ही है। इसलिए भक्ति भी असन्दिग्ध और अविपर्यस्त-रूपसे ब्रह्म ही है।

● ● ●

मोहनकी मोहनी

अच्छा तो यह वृन्दावन है। फूसकी झोपड़ियाँ लगी हुई हैं। स्थान-स्थानपर सूखे कंडे पड़े हैं। बड़ी स्वच्छ भूमि है। कहीं-कहीं इस तरह दूब लगी हुई है मानो हरे-हरे गलीचे बिछे हों। अभी गौएँ दुही गयी हैं। बछड़े तन्मय होकर दूध पीनेमें मस्त हो रहे हैं, गौएँ उन्हें चाट रही हैं। ग्वालिनें अपनी-अपनी झोपड़ियोंके दरवाजोंपर बैठकर कुछ गुनगुनाती हुई दही मथ रही हैं।

यह लड़का तो बड़ा हठीला मालूम पड़ता है। माताकी इच्छाके विपरीत कहाँ जानेकी जिद्द कर रहा है? शरीरमें तेल नहीं लगाने देता, मक्खन-मिश्री खानेके प्रलोभनपर भी ध्यान नहीं देता, मानो इसे कहीं ऐसी जगह जाना है जहाँ इसे कोई अत्यन्य प्रिय वस्तु मिलनेवाली है। कुछ बातें हो रही हैं। अब तो स्पष्ट सुनायी पड़ने लगा। माता कह रही है—'बेटा! अभी इतनी जल्दी क्यों कर रहा है? गाँवके ग्वाल-बाल तो अभी सोकर उठे हैं। स्नान कर ले, अञ्जन लगवा ले, तेरे बाल सुधार दूँ। कुछ खा-पी ले। अच्छे-अच्छे कपड़े पहन-कर तब गौओंको चरानेके लिए जंगलमें जा। अभी तो तेरा वह दुलारा कन्हैया भी तैयार नहीं हुआ होगा। तू उसीके पास जानेके लिए छटपटा रहा है न? मैले कपड़े पहने उसके पास कैसे जायगा?'

'नहीं माँ, मैं तो अभी जाऊँगा। वह चला गया होगा।

आज उसके साथ आँख-मिचौनी खेलूँगा। गोवर्धनके पास उससे लड़ूँगा, यमुनामें तैरनेकी होड़ लगाऊँगा और उसीकी मक्खन-मिश्री छीनकर खाऊँगा। मुझे मत रोक। जाने दे, उसके पास गये बिना मुझे चैन नहीं पड़ती।'

'तू बड़ा पगला है। देखता नहीं, मैं दही मथती हूँ, पर मेरे भी कान उधर ही लग रहे हैं। अभी बाँसुरी कहाँ बजी? भला, कन्हैया गौ चरानेके लिए चल देता तो ये गौएँ इतनी शान्तिके साथ अपने बछड़ोंको दूध कैसे पिलाती रहतीं? जो खड़ी होतीं वे भाग जातीं। जो बँधी होतीं वे रँभाने लगतीं, छटपटाने लगतीं। गाँवके सब ग्वाल-बाल उधर ही दौड़ पड़ते। इधर एक भी पक्षी न रहता, सब उधर ही उड़ गये होते। तू तो रोज देखता ही है पर इस तरह मचलनेकी तेरी बान पड़ गयी है।'

'नहीं माँ! मैं तो अभी जाऊँगा। जब मेरा कन्हैया गौ चरानेके लिए चलता है तब नन्दरानी उसे बार-बार चूमती हैं, सहलाती हैं, बार-बार छातीसे लगा लेती हैं। उनकी आँखोंसे बरबस आँसूकी बूँदें टपक पड़ती हैं। नन्दबाबा उनकी गोदीसे लेकर उसे अपनी छातीसे चिपका लेते हैं और कहते हैं—'बेटा, तू गौ चराने मत जाया कर, मेरी आँखोंके सामने ही रहा कर। तुझे देखे बिना एक क्षण भी मुझको भार-सा मालूम पड़ता है।' उस समय जब कन्हैया हठ करने लगता है कि 'नहीं, मैं तो जाऊँगा ही, मुझे कदम्बपर चढ़कर बाँसुरी बजानेमें बड़ा मजा आता है। ग्वाल-बालोंके साथ खेलनेमें, गोवर्धनपर चढ़नेमें बड़ा सुख मिलता है। मैं यहाँ नहीं रहूँगा।' तब नन्दरानी हम लोगोंसे कहती हैं कि—'देखो भैया! अभी यह नन्हा-सा बच्चा है, इसकी सँभाल रखना, इससे लड़ना मत, इसका शरीर अभी

बहुत सुकुमार है, कहीं चोट न लग जाय। इसे यमुनाके किनारे मत जाने देना, पेड़पर मत चढ़ने देना।' नन्दरानीकी यह सब बातें सुनकर हमें बड़ा आनन्द आता है। मैं यही देखनेके लिए रोज पहले ही भाग जाता हूँ। माँ! मुझे मत रोक, तू भी चलकर वही आनन्द लूट।'

लड़का चल पड़ा, दहीकी मथानी ज्यों-की-त्यों छोड़कर माँ भी दौड़ी! ये दोनों जा रहे हैं। मैं भी कुछ घूम-फिरकर वहीं पहुँचूँगा।

ऐ! यहाँ कई छोटी-छोटी लड़कियाँ अपनी-अपनी माँसे कुछ जिद्द कर रही हैं। क्या बात है? अच्छा, जाकर देखूँ। अब तो बातें स्पष्ट सुनायी पड़ रही हैं। माता कह रही है—'बेटी! अभी तो तू सात-आठ वर्षकी हुई है, अभीसे तुझे दही बेचनेकी क्या पड़ी है? सबेरे सोकर उठते-ही-उठते प्रतिदिन तेरे सिर यह कौन-सी सनक सवार हो जाती है? यहाँके लड़के बड़े चञ्चल हैं। वे तेरा दही छीन लेंगे, तुझे परेशान करेंगे। इसमें तुझे क्या सुख मिलता है! अभी खा-पी, फिर समय आनेपर दही बेचनेकी लालसा भी पूरी कर लेना।'

'नहीं माँ! मैं तो अभी जाऊँगी। इस समय नन्दबाबाके दरवाजेपर बड़ी भीड़ रहती है। वहाँ हमें कोई सताता नहीं। कोई जरा भी परेशान नहीं करता। गौओंको चरानेके लिए जाते समय कन्हैया बाँसुरी बजाता है तो हम उसे सुनती हैं, उसे देखती हैं और बहुत दूरतक उसके पीछे-पीछे चली जाती हैं। पता नहीं उसमें क्या आकर्षण है, जो हमें बरबस खींच लेता है। माँ! दही बेचनेका तो बहाना भर है। हम उसे देखे बिना रह नहीं सकतीं। पता नहीं, हम उधर क्यों खिंची जा रही हैं?'

'बेटी ! बात तो सच्ची है। अभी तुम बच्ची हो, तुम्हारा हृदय पवित्र है, सात-आठ वर्षकी उम्रमें कोई दूसरा आकर्षण तो हो ही नहीं सकता। यह उसके गुणोंका ही जादू है कि उसे देखनेमें सभीको आनन्द आता है। संसार-त्यागी बड़-बड़े ऋषि-मुनि भी, सुना है उसके गुणोंपर लट्टू बने रहते हैं। वह है भी ऐसा ही मोहन ! चलो, मैं भी चलूँ, उसे देखकर अपना हृदय शान्त करूँ, आँखें तृप्त करूँ।'

ये सब भी चल पड़ीं। क्या अब मैं भी उधर ही चलूँ ?

वास्तवमें वृन्दावन बड़ा सुन्दर है। यहाँके झोपड़े परस्पर सटे हुए नहीं हैं। बीच-बीचमें बड़े सुन्दर-सुन्दर हरे-भरे वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं, उनपर बड़े मनोहर रङ्ग-विरंगे फूल खिले हुए हैं। अनेक प्रकारकी लताएँ वृक्षोंसे लिपटी हुई हैं। कहीं-कहीं उनकी बड़ी ही सुन्दर कुञ्जें बन गयी हैं। कितनी कोमल, कितनी पवित्र और कितनी सुहावनी भूमि है ! हाँ, तो मैं कहाँ आ गया ? दरवाजेके सामने भीड़ लगी है, मालूम होता है यही नन्दबाबाका घर है। छोटे-छोटे बच्चे इतनी उत्सुकताके साथ टकटकी लगाकर एक ही ओर देख रहे हैं, मानो कोई परम प्रिय वस्तु लूट लेनेकी घातमें हों। उनका शरीर स्थिर है, परन्तु रोम-रोमसे ऐसी चञ्चलता, स्फूर्ति और व्याकुलता निकल रही है मानो वे किसीसे गले लगनेके लिए छटपटा रहे हों।

हाँ तो, अभी ऐसा जान पड़ता है कि कन्हैया घरसे बाहर नहीं निकला है। सबकी आँखें दरवाजेकी ओर लगी हुई हैं। अब निकलने ही वाला है। कितना सुन्दर सजा हुआ द्वार है ! अनेक प्रकारके हरे-हरे पत्तोंके तोरण बँधे हुए हैं। रंग-बिरंगे फूल लगाये हुए हैं। यथास्थान कलश रक्खे हैं। जमीन लिपी-

पुती स्वच्छ और पवित्र है। दीवारोंके आसपास लताएँ लगी हुई हैं, जो घरके ऊपर चढ़कर अनेक रंगके फूलोंसे छाजनकी शोभा बढ़ा रही हैं। सभी लड़के-लड़कियाँ, जवान-बूढ़े तथा गौ-बछड़े निर्निमेष नयनोंसे उसी ओर देख रहे हैं। सबके प्राण उसीको देखनेके लिए तड़फड़ा रहे हैं। सबके हृदयमें एक ही हूक है कि कब कन्हैया निकले और कब उसे अपनी आँखोंसे हृदयसे सटाकर अपनी प्यास बुझायें !

ये दो आदमी परस्पर कुछ बात करते हुए-से जान पड़ते है। रंग-ढंगसे ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं। अभी यमुना-स्नान करके आये होंगे। अभी ही सन्ध्या की होगी; क्योंकि ललाटपर ताजा चन्दन लगा हुआ है। हाथोंमें भींगी हुई धोतियाँ और जलसे भरे लोटे मौजूद हैं। जब इतनी भीड़में ये लोग निस्संकोच बातचीत कर रहे हैं तो सुननेमें क्या आपत्ति है ? अच्छा, तो सुनूँ कि ये क्या कह रहे हैं ? एकने कहा—'कहिए पण्डितजी ! आप सबेरे-सबेरे यहाँ कैसे ? आप तो यमुना-स्नान और सन्ध्या करनेके पश्चात् जङ्गलमें ही एकान्तवास करते थे, फल-फूलसे जीवन-निर्वाह कर लेते थे, लोगोंसे मिलनेमें हिचकते थे, निर्गुण छोड़कर कभी सगुणकी चर्चा ही नहीं करते थे। आज यहाँ कैसे ?' दूसरेने छलछलाती आँखोंसे लड़खड़ाती बोलीमें कहा—'भैया ! कुछ न पूछो, मेरी अहंग्रह-उपासना, अद्वैत-वेदान्तकी सारी साधना खाकमें मिल गयी। बहुत प्रयत्न करता हूँ, मनमें कोई दूसरी बात न आये, परन्तु जब चिन्तन करने बैठता हूँ—निदिध्यासनकी चेष्टा करता हूँ, तब एक साँवरी-सलोनी मूर्ति आँखोंके सामने नाचने लगती है। हृदय विवश हो जाता है, बुद्धि शिथिल पड़ जाती है, ब्रह्मज्ञानकी बातें भूल जाती हैं। आसनपर बैठा-ही-बैठा मैं

उसके साथ खेलने लगता हूँ। कभी उसके पीताम्बरकी फर-फराहट मालूम होने लगती है, आँखें खुल जाती हैं और मैं वृक्षोंकी ओर देखने लगता हूँ कि कहीं वह इनकी कुञ्जोंमें या पत्तोंमें छिपा तो नहीं है। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि वह मेरे सामने खड़ा होकर मन्द-मन्द मुस्करा रहा है। उसकी घुँघराली काली-काली अलकें कपोलोंको चूम रही हैं। वह प्रेम-भरी आँखोंके इशारेसे मुझे अपनी ओर बुला रहा है। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि उसकी बाँसुरीकी मधुर ध्वनि बलात् समस्त इन्द्रियोंको अपनी ओर खींच रही है। मुझसे आसनपर बैठा नहीं रहा जाता। मैं घूम-घूमकर पागलकी भाँति वृक्षों, लताओं और पशु-पक्षियोंसे पूछने लगता हूँ कि वह कहाँ है? उसकी यह वंशीध्वनि कहाँसे आ रही है! भैया! तभीसे मैं प्रतिदिन प्रातःकाल नन्दबाबाके दरवाजेपर आता हूँ और जब कन्हैया-गौओंको चरानेके लिए जंगलकी ओर जाता है तो मैं भी मन्त्रमुग्धकी भाँति उसीके पीछे-पीछे घूमता रहता हूँ और फिर शामको यहाँतक पहुँचाकर किसी तरह लौट जाता हूँ। मेरी रात किस तरह बीतती है यह तो कहनेकी बात ही नहीं है।'—

'पण्डितजी! आखिर आपकी ऐसी दशा कबसे हुई? पहले-पहल आप इसके आकर्षणमें कैसे आये?'

'भाई! क्या कहूँ! एक दिनकी बात है—मैं यमुना-किनारे एक वृक्षके नीचे बड़ी शान्तिके साथ संकल्परहित हो रहा था। समाधि निकट थी। ऐसा विश्वास है कि यदि उस समय मेरे शरीरमें कोई सुई चुभा देता तो मुझे पता नहीं चलता। बड़ी मस्ती थी, बड़ा आनन्द था। एक अनन्त ज्ञानके समुद्रमें मैं डूब-उतरा रहा था। इतनेमें ही एक बड़ी सुरीली आवाज

आयी। मैंने पहले तो उपेक्षा करनेकी सोची, पर कर नहीं सका। मन कानोंके रास्ते बाहर निकल ही गया। पर आवाज कहाँसे आ रही है इसका पता न चला। मैं वहीं छटपटाता रहा। थोड़ी देर बाद वह दिव्य ध्वनि अधिक स्पष्ट होने लगी। मैं उसे अपने पास ही अनुभव करने लगा। जब गौरसे देखा तो बड़ी विचित्रता मालूम हुई। पासके पत्थर पिघल रहे थे, वृक्षोंको रोमाञ्च हो रहा था, यमुनाकी वह तीव्र धारा जो अभी-अभी बड़े वेगसे बह रही थी, शान्त हो गयी थी। मेरी समाधि तो टूट गयी, परन्तु वृक्षोंपर बैठे पक्षियों और बन्दरोंको समाधि लग गयी। वे आँखें बन्द किये उस अनन्त स्वर-लहरीके साथ अपने जीवनको एक करके न जाने किस अनिर्वचनीय आनन्दमें मग्न हो रहे थे? अब मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मैं बेहोश हो रहा हूँ, अपनी चेतना खो रहा हूँ। सचमुच थोड़ी देर बाद मेरी चेतना लुप्त हो गयी और मैं न जाने किस लोकमें पहुँच गया। कुछ ही क्षण बाद मुझे 'कन्हैया' 'कन्हैया'की ध्वनि सुन पड़ी। मानो मेरे लिए यह अमृतसञ्जीवनी थी। मैं उठ बैठा। सोचने लगा, यह कन्हैया क्या चीज है? यह नाम मुझे इतना प्यारा क्यों जान पड़ता है? इसमें ऐसी कौन-सी मिठास है जिसने मेरे मृत शरीरमें जीवनका सञ्चार कर दिया? हा! वह मीठी ध्वनि क्या हो गयी, जिसे सुनते-सुनते मैं बेहोश-सा हो गया था? इस उधेड़-बुनमें पड़ा हुआ था कि किसकी आवाज सुन पड़ी—'ओ कन्हैया! देखो, यहाँ एक आदमी बेहोश पड़ा हुआ है, जल्दी आकर इसे उठाओ।' मैं समझ गया, इसीकी आवाज पहले मेरे कानोंमें पड़ी, जिसे सुनकर मैं होशमें आया था। अब सोचने लगा, ओह! 'कन्हैया' कितना मधुर नाम है? जिसका नाम इतना मधुर है वह कैसा होगा? क्या मैं

उसे देख सकूँगा ? वह क्षण कितना सौभाग्यशाली होगा जब मेरी आँखें उसे देख-देखकर अपना जीवन सफल करेंगी। पर इस लड़केने बुलाया है न! क्या वे मेरे पास आयेंगे? क्या मैं अभी उन्हें देख सकूँगा ? वे कैसे होंगे, उनके साथ मुझे कैसा व्यवहार करना होगा ? क्या मैं उनके चरणोंमें लोट जाऊँगा! उनके चरणोंकी धूलि अपने सिर-आँखोंमें लगा सकूँगा! क्या वे मेरे सिरपर अपने करकमल रक्खेंगे! यही सब सोचते-सोचते मैं ध्यानमग्न-सा हो गया। पर ध्यान कहाँसे होता! पत्तोंकी खड़खड़ाहट सुनकर जान पड़ता वे आ रहे हैं और मैं छटपटाकर इधर-उधर देखने लगता। आखिर आ ही गये। नीले-उजले-साँवले रंगके शरीरसे नीलोज्ज्वल ज्योति निकल रही थी। बड़ी चञ्चलताके साथ चल रहे थे। कन्धोंपर पीताम्बर फहरा रहा था। गलेमें वनमाला थी। कमरमें कछोटी कसी हुई थी। हाथमें बाँसुरी थी। एक हाथसे वे दूसरे सखाका हाथ पकड़े हुए थे। घुँघराले बाल कपोलोंपर लटक रहे थे। लाल-लाल ओठोंपर मन्द मुसकानके साथ-साथ दाँतोंकी धवलिमा अनोखी ही छटा ला रही थी। भौंहोंसे अनुग्रह फूटा पड़ता था। लम्बे ललाटपर गोरोचनका तिलक बरबस अपनी ओर खींच रहा था। मैंने देखा, पर उठ न सका। मेरा शरीर जड़ हो गया। मन कहता था—सिर, तू पैरों पड़ जा, पर वह टस-से-मस नहीं होता था! हृदय कहता था—हाथों! झपटकर लिपट जाओ, पर हाथ उठते नहीं थे। विवशता थी। मैं चरण-धूलितक न छू सका। वह सामने खड़े मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे। मैंने कुछ कहना चाहा, पर जबानने जवाब न दिया। आँख खुली थीं। मैं एकटक उन्हींकी ओर देख रहा था। देखते-देखते कितना समय बीत गया, पता नहीं। आँखें एकटक लगी हुई

थीं। हृदय निःसङ्कल्प होकर आनन्दके समुद्रमें डूब गया था। तृप्ति-अतृप्ति दोनों ही लापता थीं। आखिर उन्होंने अपनी मेघ-गम्भीर ध्वनिसे शान्ति भङ्ग की। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा—'पण्डितजी! इतने शिथिल क्यों हो रहे हो? आपकी क्या दशा है? मुझसे बोलते क्यों नहीं?' उनकी वाणीके सुरीले स्वरने तो मेरे हृदयको सदाके लिए ही अपना गुलाम बना लिया। मैं विवश था। सब कुछ चाहनेपर भी कुछ कर नहीं सकता था। वे मुसकराये। उनकी मुसकानमें जादू था। मैं शक्तिमान् हो गया। उनके चरणोंपर लोट गया। पर एक क्षण भी नहीं हुआ होगा कि उन नन्हेंसे बालकरूपने अपने हाथों उठाकर मुझे छातीसे लगा लिया। कितना सुखद स्पर्श था! कितने सुकुमार, कितने कोमल उनके अङ्ग थे! मुझे भय होने लगा कि कहीं मेरे कठोर शरीरके स्पर्शसे इनके शरीरपर चोट न लग जाय। उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रक्खा। मैं निहाल हो गया और अञ्जलि बाँधकर सामने खड़ा हो गया। मेरा सिर झुका हुआ था। आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी। सारा शरीर रोमाञ्चित था। गला रुँधा हुआ था। अब भी बोलनेमें असमर्थ था। मैं बोल न सका। उन्होंने स्वयं कहा—'तुम मेरे साथ खेला करो। मैं तुमपर कभी नाराज नहीं होऊँगा। अपने लोगोंमें सर्वदा समानताका ही व्यवहार चलेगा'—कहकर वह चल पड़ा। मेरा सारा संकोच उसी क्षण दूर हो गया। और मैं चुम्बकके साथ लोहेकी तरह उसके पीछे-पीछे चलने लगा। थोड़ी दूरपर बहुत-से ग्वालबाल मिल गये। अनेक प्रकारके खेल होने लगे। तबसे प्रतिदिन प्रातःकाल ही यहाँ आ जाता हूँ। साथ-साथ जङ्गलमें खेलता हूँ। मुझे उसको देखे बिना कल नहीं पड़ती। हाँ, बात करते-करते बहुत देर हो गयी। देखो,

अब वह मेरा प्राणधन आता ही होगा। तुम भी अब शान्तिसे दरवाजेकी ओर देखते रहो। मेरा हृदय उछल रहा है। देखो! देखो!! अब वह आने ही वाला है!

मैं निस्तब्धभावसे उनकी बातें सुन रहा था। उनकी बातोंमें बड़ा आनन्द था। मैं तो इतना मस्त हो गया कि यह याद ही न रहा कि मैं नन्दबाबाके दरवाजेपर कन्हैयाकी मिलनेकी राह देख रहा हूँ। अब याद आया। यह दरवाजेसे नन्दबाबा आ रहे हैं क्या? लम्बा शरीर है, खूब हृष्ट-पुष्ट हैं, बाल सफेद पड़ रहे हैं, फिर भी मुखसे एक प्रकारका दिव्य ओज निकल रहा है, कुछ बोलते-से-मालूम पड़ते हैं। क्या कहते हैं, कान लगा कर सुनूँ तो—'भाई! मेरा लल्ला बड़ा सुकुमार है। बड़ा मनोहर है। उसे सब देखना चाहते हैं। वह सबके हृदयका धन है। सभी उसे अपनी आँखोंका तारा समझते हैं। आप लोग भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। उसे ऐसा आशीर्वाद दें कि जिससे वह सर्वदा सुखी रहे।

सब लोग कान लगाकर नन्दबाबाकी बातें सुन रहे हैं। हाँ, दरवाजेसे कन्हैयाका हाथ पकड़े माँ यशोदा आ रही हैं। कितना सुन्दर वेष है वर्षाकालीन मेघके समान नीलवर्ण है। बिजलीके समान पीला वस्त्र कन्धेपर फहरा रहा है। घुँघचीकी माला गलेमें पड़ी हुई है। सिरपर मयूर-मुकुट है। काली-काली अलकें कपोलोंपर लटक रही हैं। बालोंमें फूल गुँथे हुए हैं। हाथमें बाँसुरी और छड़ी ले रखी है। मन्द-मन्द मुसकरा रहा है। लाल-लाल ओठोंके अन्दरसे दाँतोंकी उज्ज्वल ज्योति बाहर निकल रही है। आँखोंसे, भौंहोंसे प्रेमकी धारा बह रही है। यह मूर्तिमान् प्रसन्नता है। अनन्त प्रेमका समुद्र है। घनीभूत आनन्द है। कैसा सौन्दर्य है! कैसा माधुर्य है! उफ! हृदय

कहता है—सदाके लिए इसके चरणोंमें न्यौछावर हो जाओ। अपने आपको इसे दे डालो। वास्तवमें यदि इसके न हो गये, तो यह जीवन ही किस कामका ?

नन्दरानी कुछ कह रही हैं। ग्वाल-बालोंको सम्बोधन करके उन्हें सचेत करती हुई मालूम पड़ती हैं। 'श्रीदामा ! सुबल ! बलराम ! देखना भैया, अभी यह अनजान है। अभी है ही कितने दिनोंका ? हमेशा इसे साथ रखना। एक क्षणके लिए भी आँखोंकी ओट मत करना। यह बड़ा नटखट है, साँपोंसे खेलनेमें, पेड़ोंपर चढ़नेमें, यमुनामें कूद पड़नेमें यह बड़ा तेज है। इसे उनके पास मत जाने देना। इसे भूख बड़ी जल्दी-जल्दी लगती है। खानेकी चीजें लेते जाओ, इसे समय-समय-पर खिलाते रहना। कोई आपत्तिकी सम्भावना हो तो ढिठाई न करना, तुरन्त इसको लेकर भाग आना। यह बड़ा हठीला है। किसी भयानक वस्तुके लिए हठ करे तो इसकी एक भी मत सुनना। गौएँ दूर चली जायँ तो इसे हाँकनेके लिए मत भेजना। तुम लोगोंमें-से कोई जाकर हाँक लाना। गौओंको दूर मत ले जाना, जल्दी ही इधर-उधर घुमाकर लौटा लाना !'

'देख कन्हैया ! इन लोगोंकी बातें मानना ! ये तुझसे बड़े हैं। बड़ोंकी बात माननी चाहिए। भूख लगे तो संकोच मत करना। इन लोगोंसे माँग लेना, खूब खाना और इन्हें भी खिलाना। किसीसे छेड़खानी मत करना।'

'माँ ! तू तो देर कर रही है, देखती नहीं, गौएँ कहाँ निकल गयीं ? यहाँसे यमुना-किनारेतक सफेद-सफेद दीख रहा है। धौरी गौओंकी पंक्ति गङ्गाजी-जैसी लग रही है। ऐसी ही सफेद गङ्गाजी होती हैं न ? तूने एक दिन कहा था कि जब गङ्गाजीकी धवल धारा नीले रंगकी यमुनामें मिलती है

त बड़ी शोभा होती है। देख, यमुनाजीमें मिलनेके लिए गङ्गाजीने ही गौओंकी पंक्तिका रूप बना लिया है। बीच-बीचमें लाल, काली आदि गौएँ ऐसी मालूम होती हैं मानो गङ्गाजीको धारामें कोई दूसरी चीज बही जा रही हो। माँ! मुझे जाने दे। मैं अभी जाकर यह शोभा देख लूँ। देखती नहीं, गौएँ ठिठकी-सी हैं, वे मेरी ओर देख रही हैं। मानो अपने साथ चलनेके लिए मुझसे आग्रह कर रही हैं। अब जाने दे। माँ! तू उदास क्यों हो रही है? तेरी आँखोंसे आँसू क्यों आ रहे हैं? क्या तू मेरा खेलना पसन्द नहीं करती? क्या मैं कदम्बके नीचे खड़ा होकर बाँसुरी न बजाया करूँ?'

'बेटा! मेरे कन्हैया! कैसे कहूँ कि तुम मेरी आँखोंकी ओट जाओ। पर तुम्हें खेलनेसे भी कैसे रोकूँ? अपनी प्रसन्नताके लिए तुम्हारी प्रसन्नतामें बाधक कैसे बनूँ?'

'देवताओ! तुम जङ्गलमें मेरे लालकी रक्षा करना। मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। तुम्हें बहुत-से चढ़ावे चढ़ाऊँगी।'

अच्छा, माँ यशोदा राई-नोनकी न्योछावर कर रही हैं। नन्दबाबा गम्भीर भावसे खड़े-खड़े देख रहे हैं। अरे! अब तो इनका भी धैर्य छूट गया। कन्हैयाको अपनी छातीसे सटाकर चूम रहे हैं। कन्हैया कुछ कह रहा है। 'बापूजी! मुझे जाने दो। मैं वहाँ जाकर खेलूँगा, हँसूँगा, ग्वालबालोंसे होड़ लगाऊँगा।' अच्छा, छुड़ाकर चल दिया। सभी लोग उसीकी ओर देख रहे हैं। अनजानमें सबके पैर उसीकी ओर चल रहे हैं। तो क्या सभी जङ्गलमें चलेंगे? नहीं, नहीं, कन्हैया इधर देख रहा है। सब लोग ठिठके-से हैं। ओहो! अब तो बाँसुरी बजाने लगा। कितनी मधुर ध्वनि है! सचमुच इससे मोहन-मन्त्र निकलता है। सब लोग बेहोश-से हो रहे हैं। अपनी सुध-

बंध खो रहे हैं, पर मैं सचेत हूँ, क्या बात है। मेरा हृदय फौलादका तो नहीं है? क्या करूँ, ये लोग तो यहीं रह गये। मैं साथ-साथ चलूँ या यहीं रहकर इन लोगोंकी दशा देखूँ कि अब इनका दिन कैसे बीतता है! पर चलना ही ठीक मालूम पड़ता है। यह भी हो सकता है कि इन लोगोंकी दशा देखकर फिर जंगलमें जाकर मिल जाऊँ? हाँ, अब एक उपाय याद आया, वे ब्राह्मणदेवता तो जंगलमें जायेंगे ही! अभी तो यहीं पड़े हुए हैं। अब उनके साथ चलूँगा।

धीरे-धीरे सचेत होकर लोग जाने लगे हैं। भीड़ घट गयी है। दो-चार गिने-चुने लोग इकट्ठे होकर आपसमें कुछ कह रहे हैं। क्या बात है, सुननेमें तो कोई आपत्ति नहीं? मालूम पड़ता है, माँ यशोदा किसीसे कह रही हैं—'अभी-अभी मेरा कन्हैया सोकर उठा था। मैं उसे स्नान भी नहीं करा सकी, अच्छी तरह अञ्जन भी नहीं लगाया। आज मोर-मुकुट भी कुछ वैसा ही रहा। बड़ी जल्दी भाग गया। जब मैं खिला रही थी, कितनी शीघ्रता कर रहा था? भरपेट खाया भी नहीं। मक्खन-मिश्री अभी पड़ी हुई है। मैं बार-बार कहती थी—बेटा! थोड़ा और खा ले, अपने हाथसे उसके मुँहमें डाल देती थी, फिर भी जितना खाना चाहिए, जितना औरोंने कलेऊ किया उसका आधा भी इसने नहीं किया। उफ! मेरा कन्हैया कितना सीधा-सादा है, अभी उसे दुनियाकी हवा ही नहीं लगी। जो बुलाता है उसीके पास दौड़ जाता है। किसीने ताली बजायी कि इसने नाचना शुरू कर दिया। रातमें चारपाई पर सो जाता है सो फिर सुबह ही उठता है। दिनभर थकनेके कारण तो ऐसा नहीं होता? अब कलसे उसे गौ चराने जानेसे रोकूँगी। समझाऊँगी कि कन्हैया! अकेले मत जाया कर, तू

डर जायगा। यदि वह मान गया तो कितना सुख रहेगा, दिन भर आँखोंके सामने देखा करूँगी, बार-बार छातीसे सटा लूँगी। कई बार अपने हाथों खिलाऊँगी। उसका शरीर साफ कर दूँगी। उसे छोड़कर किसी दूसरे काममें न लगूँगी। कामकी क्या चिन्ता है, उसके लिए बहुत-से लोग हैं। कितनी मोहनी मूरत है? मेरे जीमें तो यही आता है कि एक क्षणके लिए भी उसे आँखोंसे ओझल न होने दूँ।'

नन्दबाबा भी कुछ कहते हुए-से जान पड़ते हैं—'कन्हैयाकी माँ! रानी!! इतना व्याकुल क्यों होती हो? गोपालन तो अपना कुलधर्म है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन किये बिना वे कैसे सुखी हो सकते हैं? मोहवश कर्त्तव्य-च्युत होना ठीक नहीं। हम अपनेको सँभाल लें, थोड़ा कष्ट सह लें; पर कन्हैयाको कर्त्तव्यसे विचलित न करें। इसीमें उसे प्रसन्नता है। गौओंका चराना उसे बड़ा अच्छा लगता है। उसे कोई परिश्रम थोड़े ही करना पड़ता है। गौएँ चाहे जितनी दूर गयी हों, दूसरे ग्वालबाल उन्हें हाँक लानेके लिए चाहे जितना परेशान हो रहे हों, उसे तो सब गौओंको इकट्ठा कर लेना बायें हाथका खेल है। किसी घनी छायावाले कदम्बके पेड़के नीचे पहुँच एक टीलेपर खड़ा हो गया। कछोटी कस ली। पीताम्बर सँभाल लिया, मयूरपिच्छोंको ठिकाने करके त्रिभंगी बनाकर खड़ा हो गया। बस, अब मुरली ही बजानेकी देर है। सब गौएँ दौड़ पड़ती हैं। उसने तो उन्हें यहाँतक सिखा दिया है कि वे अपना नाम-तक समझ जाती हैं और जहाँ उसने काली, गौरी, धौरी कहकर आवाज लगायी कि सब इकट्ठी हो जाती हैं। रानी! तुम सुनकर आश्चर्य करोगी कि उसकी बाँसुरीमें ऐसा जादू भरा है कि गौएँ उस समय अपने मुखमें जो ग्रास लिये रहती

हैं उसे न उगल पाती हैं और न खाती हैं, वैसे ही मुँहमें लिये कान खड़ा करके मुंह ऊँचा करके उसीकी ओर ताकती रह जाती हैं। बछड़े अभी-अभी जो दूध पीनेमें लगे थे वे दूधका घूंट न घूँटते न उगलते, वैसे ही उसके पास खड़े रहते हैं। गौओं और बछड़ोंकी बात तो जाने दो, हरिणियां अपने पतियों और छोटे-छोटे वच्चोंके साथ अपनी स्वाभाविक चञ्चलता छोड़कर निकट आकर खड़ी हो जाती हैं और अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंको अपलक करके उनका पूरा लाभ लेती हैं। उसके वनमें जानेसे कितने प्राणियोंको प्रसन्नता प्राप्त होती है इसका यहाँसे अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। उसे देखकर वनका पत्ता-पत्ता खिल उठता है। हम अपनी तृप्तिके लिए उसकी प्रसन्नता और अनेक प्राणियोंकी प्रसन्नताकी ओर ध्यान न दें यह ठीक नहीं। इसलिए उसे रोकनेकी बात मुझे नहीं जंचती। अपना कलेजा कड़ा करके दिल मसोसकर हमें यह सब कुछ सहना ही पड़ेगा!'

नन्दरानी कुछ नहीं बोल रही हैं, पतिकी आज्ञा है न! उनकी इच्छाके विपरीत कैसे बोल सकती हैं? इन बातोंके सुननेमें तो मैं भूल ही गया, जान पड़ता है वे पण्डितजी चले गये। अब मैं भी वनकी ओर चलूँ।

दिन अधिक आ गया है। ग्वाल-बालोंकी मण्डली अधिक दूर निकल गयी होगी। गौओंके जानेका निशान देखते हुए चलना ठीक है। अच्छा, इधरसे गौएँ गयी हैं। ये आदमियोंके जानेके चिह्न हैं। छोटे-छोटे बच्चे ही अधिक गये होंगे क्योंकि छोटे-छोटे पैर ही अधिक दीखते हैं। ऐं, यह चिह्न तो बड़ा विलक्षण है। इनमें कमल, वज्र, अङ्कुश और ध्वजाके आकार स्पष्ट दीख रहे हैं। तो क्या ये मेरे कन्हैयाके चरण-चिह्न हैं?

यह धूलि भी आज मुझे सुलभ हो गयी! इसे सिरपर चढ़ा लूँ, आँखोंमें लगा लूँ, कलेजेसे सटा लूँ, इसीमें लोटूँ या क्या करूँ? बुद्धि काम नहीं करती। लोटने लगूँ तो देर हो जायगी, वहाँ पहूँचना है, इस समय न जाने क्या खेल खेलते होंगे? सम्भव है किसी सखाकी पीठपर चढ़ रहे हों या किसीकी आँखें बन्द करके उससे कह रहे हों—नाम बताओ तो छोड़ूँ और वह जान-बूझकर उनके स्पर्शका सुख लूट रहा हो। कब पहुँचूँगा? मैं पक्षी होता तो अभी उड़कर पहुँच जाता। यदि ब्रह्माने मुझे वायुकी गति दी होती तो आज मैं कितना सुखी होता; परन्तु ऐसा नहीं है, अभी पहुँचनेमें न जाने कितनी देर होगी। कुछ आदमियोंकी आवाज आ रही है! देखूँ कौन हैं? बड़ी सुन्दर आकृति मालूम पड़ती है। ये तो दो दिव्य पुरुष हैं। एकके सिरपर पिङ्गल जटा है, गौर वर्ण है, हाथमें वीणा और माला दीख रही है। अभी अवस्था अधिक नहीं जान पड़ती। दूसरा विद्यार्थी-सा मालूम पड़ता है। हाँ, पहचान गया। ये तो देवर्षि नारद हैं। इधर कहाँसे आ गये? अथवा यह आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जहाँ कन्हैया है, वहाँ उसे देखनेके लिए भला ये कैसे नहीं पहुँचेंगे? कुछ बात कर रहे हैं। देवर्षि नारद तो प्रेमके आचार्य हैं; इनकी बात प्रेममयी ही होगी, ये भला दूसरी बात क्यों करने लगे? इनकी बात सुननेमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि ये तो महात्मा हैं, भगवान्के पार्षद हैं। इनकी सभी बातें लोक-कल्याणके लिए ही होती हैं और दूसरी बात यह है ये उधर ही चल रहे हैं। इनकी बात सुनते-सुनते मैं भी चलता रहूँगा। आज अवश्य कोई बहुत सुन्दर लीला होनेवाली होगी। ये बात करते हुए भी बड़ी तेजीसे जा रहे हैं।

भाई! आजकल दिनभर स्वर्ग सूना ही रहता है—सभी

देवता और उनकी पत्नियाँ विमानोंपर चढ़कर यहीं आ जाती हैं। देखते नहीं आकाशमण्डल विमानोंसे भर रहा है ? इन्द्र-इन्द्राणी, ब्रह्मा-ब्रह्माणी, सभी तो इस दुर्लभ, दिव्य लीलाको देखनेके लिए उत्सुक रहते हैं। आजकल भोले बाबाने भी कैलास छोड़कर यहीं डेरा जमा लिया है। वे ग्वालके वेशमें रहते हैं, हमारे कन्हैयाके अन्तरङ्ग सहचरोंमें एक हो गये हैं और पार्वतीजी भी यहीं एक सखीके रूपमें हैं। और तो कहाँ जाऊँ ? कहीं मन भी तो लगे ! जहाँ रहता हूँ, मालूम होता है सारे संसारमें बाँसुरीकी मधुर ध्वनि भर रही है। आजकल सनकादि समाधि नहीं लगाते। ब्रह्माने अपना सृष्टिकर्म छोड़ दिया है। इन्द्रको स्वर्गकी परवा ही नहीं। यमराजकी बही लिखी नहीं जाती। नरकसे पापी स्वच्छन्द होकर निकल रहे हैं। कोई रोकनेवाला नहीं। इस बाँसुरीने गजब ढा दिया है। देखे बिना रहा नहीं जाता, कितना सुन्दर, कितना मनोहर, कितना आकर्षक रूप है। देखो ! अब हम निकट पहुँच गये हैं ? स्पष्ट दीख रहा है। कैसी अनुपम शोभा है। सरकार एक सखाके कन्धेपर एक हाथ रखकर खड़े हैं। मुखमण्डलसे सहस्रों चन्द्रमाके समान शीतल किन्तु करोड़ों सूर्योंके सदृश दिव्य प्रकाश निकल रहा है। प्रकाशकी उज्ज्वलताके अन्दर श्यामताकी छटा अनोखी ही है। गलेमें वनमाला पड़ी है। सिरपर मयूरपिच्छ शोभायमान है। नटोंके समान कछनी कसी है। कन्धोंपर पीताम्बर फहरा रहा है। दूसरे हाथसे कमल लेकर बड़ी ही सुन्दरताके साथ उसे नचा रहे हैं। इस समय बाँसुरी कमरमें खोंस ली है। कमल नाचनेसे सिर हिलनेके कारण घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटककर परमानन्दका आस्वादन कर रही हैं। कैसी प्रेमभरी प्रफुल्लित आँखें हैं। तोतेकी

चोंचके जैसी नुकीली नासिका है। बिम्बाफलके समान लाल-लाल ओठ हैं। लम्बे ललाटपर गोरोचनका तिलक है। कितना सुन्दर मुख है ! आँखें बरबस खिंची जा रही हैं। हृदय उछलकर चूम लेना चाहता है। पर क्या करें, इस समय पास जाना ठीक नहीं जान पड़ता। यदि यहींसे इन मधुर लीलाओंका आस्वादन करते रहें तो बड़ा अच्छा है। उनके खेलमें कोई बाधा न पड़े और हम भी अपने जीवनका लाभ लेते रहें। सुनो तो, श्रीदामासे क्या कह रहे हैं—'श्रीदामा ! तुम मुझे बड़े सुन्दर लगते हो। इच्छा होती है तुम्हारे साथ खेला करूँ। तुम्हारे घर चला करूँ। हमारी मित्रता हमेशाके लिए पक्की रहे। हम दोनों एक ही गोलमें रहें। अब देखो, भैया बलराम और सुबल आदि गोप आ रहे हैं, उनके साथ आज एक खेल खेलना है, तुम मेरे साथ रहना।'

'मेरे कन्हैया ! मैं तो यह चाहता ही था। मेरे हृदयमें न जाने कबसे यही भाव उठ रहे थे। जब मैं घर जाता हूँ तब मेरी बहिन तुम्हारी बात पूछा करती है, वह बहुत भोली है। हम लोगोंकी छोटी-से-छोटी बात जानना चाहती है। एक-एक करके पूछती है। तुम्हारी चर्चा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती है। माताजीने तो एक दिन यह प्रस्ताव किया था कि इनकी शादी कन्हैयाके साथ कर दी जाय; परन्तु पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया। यों तो मैं पहलेसे ही तुम्हारा हूँ, मेरा हृदय तुम्हारे हाथ बिक गया है। पर उस दिन हृदयकी बात सुनकर और दृढ़ हो गया। तुम्हें देखे बिना रहा नहीं जाता। मेरे प्यारे कन्हैया ! मुझे कभी मत छोड़ना, सर्वदा अपने साथ ही रखना। मैं सर्वथा तुम्हारा ही हूँ। अब ये लोग आ गये। इनके साथ कोई खेल खेला जाय।'

● ● ●

नारदजी तो मुग्ध हो रहे हैं। इनकी बातें सुन-सुनकर इनकी रूप-माधुरीका अमृत आँखोंसे, उन्मुक्त हृदयसे पान करते-करते अघाते ही नहीं। और उस स्नातककी क्या दशा हो रही है? आँखोंसे लगातार आँसूकी धारा बह रही है। सारा शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, आँखें निर्निमेष उधर ही लगी हैं। सचमुच इनके ही रूपमें कौन-सा विलक्षण रस है? सभी पागल-सरीखे हो रहे हैं। और मैं! मेरा हृदय बड़ा कठोर है। यह वज्रका बना हुआ है। मैं सब देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ; पर जैसे-का-तैसा बना हूँ। हाँ बलराम, श्रीदामा आदि आ गये, कुछ कह रहे हैं।

'भैया! आज हम गौओंके पीछे-पीछे बहुत दूर चले गये थे, आनेमें देर हो गयी। यहाँ रहते तो अबतक खेलते होते। कितना आनन्द रहता, इतना समय तुमसे अलग रहकर बीता, कितना बुरा हुआ। आओ! अब कोई ऐसा खेल खेलें कि बड़ी मस्तीके साथ दिन बीत जाय।'

'हाँ, हाँ, मैं तो कबसे प्रतीक्षा कर रहा था, सुबलसे मैंने कहा भी था, अब कोई खेल शुरू हो। अच्छा, तुम्हीं बताओ क्या हो? क्या कहते हो—आँखमिचौनी खेलें? उधर देखो, श्रीदामाकी सम्मति नहीं मालूम पड़ती, वह तो कह रहा है दौड़कर छूनेकी होड़ लगायी जाय या कुश्ती हो। बलिष्ठ है न! उसे यही सब रुचता है अपने सामने मानो किसीको गिनता ही नहीं। निर्बल ग्वाल-बालोंकी परवाह ही नहीं करता। हाँ मधुमङ्गल! तुम बताओ तुम्हारी क्या इच्छा है? आज जो तुम कहो वही खेल खेला जाय। अच्छा, तो तुम क्या कह रहे हो?'

'भैया! खेल तो पीछे खेला जायगा, अभी तो पेटमें चूहे कूद रहे हैं, पहले पेटपूजा हो ले तो फिर चाहे जो खेल खेलना।'

'हाँ, बात तो सच्ची है। दोपहरके करीब दिन आ गया। अब तो कलेवा करनेका समय ही है। आखिर तो मधुमङ्गल ब्राह्मण हैं न ! भोजनके बारेमें ये लोग बड़े होशियार हुआ करते हैं। अच्छा आओ, पत्ते तो तोड़ लें। कुछ लोग जाकर जल ले आवें। इसी वृक्षके नीचे बैठकर आनन्दसे भोग लगे।'

यह देखो लड़के दौड़ पड़े। कोई पत्ते तोड़ रहा है, कोई पेड़के नीचे झाड़ू लगा रहा है, कोई पानी लानेके लिए यमुनाकी ओर दौड़ा जा रहा है, कोई पेड़पर टँगे हुए छीकेको उतार कर खोल रहा है, बड़ी चहल-पहल है। सभी हँस रहे हैं। सबके शरीरमें स्फूर्ति हो रही है। इधर कन्हैया भी इकट्ठी की हुई सामाग्रीको सजा रहे हैं। कितना आनन्द है, यदि इसी तरह देखते रहनेका सौभाग्य हो तो फिर क्या कहना है ? इधर नारदजी बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। अपने साथीसे जो कुछ कह रहे हैं वह सुनने ही लायक है।

'आज कितने सौभाग्यका दिन है कि भगवान्का साक्षात् प्रसाद प्राप्त होगा ? जो ब्रह्मा, लक्ष्मी और बड़े-बड़े महापुरुषोंको भी दुर्लभ है वही प्रसाद हम बड़ी प्रसन्नताके साथ पायंगे। यह वृन्दावन, यह गोवर्धन कितने महान् भाग्यवान हैं ! इनके सौभाग्यका क्या कहना है ? ये अपने झरनोंके जल, अपने वृक्षोंके पत्ते, फल-फूल-छायाका दानकर अपना जीवन सफल कर रहे हैं। भगवान् इनकी झुरमुटोंमें, कन्दराओंमें छिपकर खेलते हैं। वर्षासे, घामसे बचनेके लिए इनके अन्दर बैठते हैं और इनके कन्द-मूल-फल खाते हैं। देखते नहीं, घरसे कितने व्यंजन लाये हैं; फिर भी ग्वाल-वालोंसे कह रहे हैं—देखो ! उस टेंटोका फल तोड़ लाओ, वह मुझे बहुत रुचता है। कईके पत्ते मँगा रहे हैं कि उनकी चटनी बनाओ। यही वृक्षोंका सौभाग्य है। वृन्दा-

वनकी महिमा है और उन भक्तवत्सलकी अपार कृपा है। महात्मा लोग अपने हृदयमें जिन्हें ब्रह्म समझकर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि करते हैं, प्रेमी भक्त जिनके चरणोंकी सेवा करके प्रेम-रसमें तल्लीन हो जाते हैं, कर्मियोंकी दृष्टिमें जो सारे कर्मोंके प्रवर्तक और मूल आधार हैं वे ही लीलामय प्रभु आज ग्वाल-बालोंके साथ जङ्गलमें पत्तेपर खाने जा रहे हैं। देखो, कितना प्रेम है! कितना आनन्द है! अब पंक्ति बैठने जा रही है। देखो-देखो, कैसा लोकोत्तर सौन्दर्य है, अवर्णनीय शोभा है!

बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं। चारो तरफ गोलाकार मण्डल बनाकर ग्वाल-बाल बैठे हैं। सबका मुख भगवान् श्रीकृष्णकी ओर है। सब हँस रहे हैं। क्या बात है? भगवान् जो कुछ अपने पत्तेपर रखते हैं उन्हें धीरेसे कोई दूसरा खींच लेता है। वे मुखमें डालनेके बाद ग्रासका कुछ अंश अपने हाथमें रख लेते हैं तो कोई छीननेके लिए झपट पड़ता है। यह देखो! उनके सारे मुखपर ही दही लिपट गया। सब कहकहा लगा रहे हैं। इस छीना-झपटीमें बाँसुरी कमरसे गिर पड़ी। वह देखो कोई छिपा रहा है। ऐं, वनमाला पीठकी तरफ चली गयी!

इस छीना-छपटीमें भगवान् श्रीकृष्णकी बन गयी। वे बड़ी शान्तिसे खा रहे हैं। हाथोंमें दही-भात कितना सुन्दर मालूम हो रहा है! नीले मुखपर, लाल होठोंपर उनकी उज्ज्वलता और भी बढ़ जाती है। दाँतोंसे ऐसी उज्ज्वल ज्योति निकल रही है जिससे उसपर सटे हुए चावलोंका पता नहीं चलता। उनकी आँखें सभीकी पत्तलोंपर पहुँच जाती हैं। किसे क्या चाहिए इसका बराबर ख्याल बना हुआ है। बड़े प्रेमसे, आग्रहसे सभीको और लेनेके लिए बाध्य कर रहे हैं, कैसा सौभाग्य है! इन ग्वालबालोंका क्या पुण्य है? भगवान्ने इन्हें

किस साधनाके बलपर इस प्रकार अपना लिया ? क्या किसी भी साधनामें यह शक्ति है कि वह भगवान्‌को इस तरह अपनानेके लिए विवश करे ? नहीं, कभी नहीं। यह तो इन्हींकी अपार कृपा है, चाहे जिसे अपना ले। पात्रकी योग्यता क्या महत्त्व रखती है ? ये जिसे अपना लें वही पात्र हो जाता है। पर हमारे भाग्य भी कम प्रशंसनीय नहीं हैं। हमें यह देखनेका अवसर मिला यही क्या कम कृपा है ? हाँ, मैं क्या-क्या सोचने लगा ? यह सब तो खा चुके। हाथ धो रहे हैं। श्रीदामा क्या कह रहा है कि अब खेल शुरू हो। सभी उछलते हुए-से मालूम पड़ते हैं। मधुमङ्गलकी बुरी दशा हो रही है, पेट निकल आया है। कुछ कहता है ऐं ! भैया अब तो मैं सोऊँगा। भोजनके बाद आराम करना ही चाहिए। खेल-कूदका भी समय होता है। मुझसे तो अब उठा नहीं जाता। सब एक स्वरमें कह रहे हैं, नहीं हम तो खेलेंगे, अवश्य खेलेंगे। दिनमें आलसी सोते हैं। बच्चे भी कहीं सोते हैं ? हमारा काम तो खेलने-कूदनेका है।

अच्छा, यह सब तो, खेलनेमें जुट गये। ऐसा मालूम होता है कि सब छिपने जा रहे हैं और भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें ढूँढ़ेंगे। जिन्हें वेद ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार जाते हैं वे भगवान् आज इन अहीरोंके छोकरोंको ढूँढ़ने जा रहे हैं। देखो ! अब वहाँसे सब दूर चले गये। चलो, हम सब वहाँ पड़ी हुई जूठनको बीनकर खायँ और अपना जीवन सफल करें।

हाँ, नारदजी तो अपने स्नातकके साथ भगवान्‌का प्रसाद पानेमें मस्त हैं। उनके चेहरेसे कितनी प्रसन्नता, कितना प्रेम और कितना आनन्द निकल रहा है ! उनकी तल्लीनता देखने ही योग्य है। वह कमण्डलुके जलसे हाथ धो रहे हैं और स्नातकसे कुछ कह रहे हैं। भाई ! मैंने तुमसे एक बात अब

तक नहीं कही थी। आज माँ लक्ष्मी राधाका दर्शन करनेके लिए यहाँ आनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था, भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति इस समय ब्रजमें अवतीर्ण हुई हैं। भगवान्‌का वही प्रेममय, आनन्दमय मूर्तरूप है। हमें भी उनके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं आऊँगी, तुम समयपर वहाँ उपस्थित हो जाना, हम सब उनका दर्शनकर कृतार्थ होंगे। सो भैया! अब वहाँ चलना चाहिए। यह देखो! नारदजी अपनी वाणीपर कुछ गुनगुनाते हुए बरसानेकी ओर जा रहे हैं। कैसा सुन्दर स्वर है! कितना मधुर पद है—

चेतश्चिन्तय चिन्मयभासं नूतनजलधररुचिरविकासम्।
पीतवसनधरसुन्दरनटवर- मधुरविकस्वरसुललितहासम्॥

बार-बार उलटकर इधर देखते हैं और फिर वीणाकी मीड़ें छेड़ते हुए धीरे-धीरे गायन करते हुए जा रहे हैं। अब तो उनकी ध्वनि स्पष्ट नहीं सुन पड़ती। मेरे कन्हैया भी उन्हें ढूँढ़नेके लिए कहीं चले गये हैं। अब तो प्रसाद पानेका खूब अच्छा अवसर है। चलो खूब पावें। यहीं तो बैठे हुए थे। ये चावल गिरे हैं, अहा! कितना सुन्दर स्वाद है! इनमें कितनी मधुरता है! यह दही है। ये फल हैं। आज इन्हें पाकर जन्म सफल हुआ। किसीकी पद-ध्वनि मालूम होती है। यहाँ कौन? कोई मुझे देख तो नहीं रहा है? हाँ, अब तो पद-ध्वनि बहुत निकट जान पड़ती है। ये सब मयूर उधर ही देख रहे हैं। ये हरिणियाँ जो अभी बड़ी शान्तिके साथ चर रही थीं, एकटक देखती हुई उधर बढ़ रही हैं। बात क्या है? अच्छा! अब समझा, कन्हैया अकेले ही इधर आ रहे हैं। क्या अब मैं छिप जाऊँ? सामने जानेकी हिम्मत नहीं पड़ती। मेरे-जैसा पापी, नीच, अनधिकारी क्या उनके सामने

जानेका साहस कर सकता है ? मैं अलग आड़में खड़ा हो जाऊँ; वे इधरसे निकल जायँ, तभी ठीक है। पेड़ोंकी ओटसे देखनेका सौभाग्य ही क्या कम है ?

अरे ! वह तो इधर ही आ रहा है। उसने मुझको देख लिया क्या ? मालूम ऐसा ही पड़ता है। तब क्या मुझसे बातें करेगा ? मुझे भी अपना बनायेगा, क्या यह सम्भव है ? पर उसके लिए असम्भव क्या है ? उसका हृदय बड़ा कोमल है। कुछ इशारा कर रहा है। मन्द-मन्द मुसकराता हुआ आँखोंके इशारेसे मुझे बुला रहा है। क्या मैं दौड़कर चरणोंमें पड़ जाऊँ ? नहीं-नहीं, मैं चरणोंके स्पर्शका अधिकारी नहीं हूँ। तब क्या वह मेरी ओर स्वयं आ रहा है। ऐं, मैं जमीनपर गिर रहा हूँ। क्या ये उसके चरण हैं ? मैं सचमुच उनका दिव्य स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ। क्या यह स्वप्न है ? भला यहाँ स्वप्नका क्या काम ? मैं अपने दोनों हाथोंसे उन सुकुमार दिव्य चरणोंका स्पर्श कर रहा हूँ। कन्हैया ! मेरा स्पर्श मत करो। अपने कोमल करकमलोंसे मुझ पापीका स्पर्श मत करो। अरे ! क्या तुम मुझे उठाकर छातीसे लगाना चाहते हो। नहीं-नहीं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ। अच्छा, क्या न मानोगे ? मत मानो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो। यह शरीर तुम्हारा है। यह हृदय-प्राण सब कुछ तुम्हारा है। मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हें अधिकार है चाहे जो कर लो। बस, मैं कुछ नहीं बोलता। बोला ही नहीं जाता।

'कन्हैया ! क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं है कि तुमसे कह दूँ कि अब मुझे मत छोड़ो, एक क्षणके लिए भी अलग मत होओ ?'

'हाँ ! अधिकार क्यों नहीं, सब कुछ कह सकते हो—कर सकते हो; तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ। हम एक साथ खेला

करेंगे। इस समय उन ग्वाल-बालोंके पास जाना जरूरी है जो कहीं आड़में छिपकर मेरे ढूँढ़नेके लिए आनेकी प्रतीक्षा करते होंगे। उनके हृदयमें कितनी उत्कण्ठा होगी! वे उझक-उझककर देखते होंगे। पत्तेकी खड़खड़ाहट, पक्षियोंकी पंख-ध्वनि और पशुओंके पैरोंकी आवाज सुनकर वे चौकन्ने हो जाते होंगे। मुझे जाने दो। मैं तुमसे अलग कब होता हूँ? न दीखनेपर भी तुम्हारे साथ ही हूँ।'

'क्या मैं साथ नहीं चल सकता?'

'मेरे सखा बड़े नटखट हैं। वे कहने लगेंगे कि तुम अकेले नहीं ढूँढ़ सके। इसने देख लिया होगा। बतलाया होगा। और फिर मुझे परेशान करने लगेंगे। अच्छा मैं जाता हूँ।'

'मेरे कन्हैया! आखिर तुम चले ही गये। कलेजा फटता है, क्या करूँ? कैसे करूँ? कैसा सौन्दर्य है! कैसा माधुर्य है! कितना सुखद स्पर्श है! एक-एक बात स्मृति-पटलपर आकर व्याकुल बना रही है, पर उनकी इच्छाके विरुद्ध—उनकी आज्ञाके विपरीत किया ही क्या जा सकता है? जिससे वे सुखी हों, उसीमें मेरा सुख है, मैं उनकी इच्छाका यन्त्र हूँ। यदि उनके सुखके लिए मुझे करोड़ों आपत्तियोंका सामना करना पड़े तो मैं खुशी-खुशी करूँगा। बल्कि उसीमें मुझे अधिक प्रसन्नता होगी। हाँ, किसीकी पद-ध्वनि मालूम पड़ती है। क्या वे ही तो नहीं आ रहे हैं? पर अभी वे कहाँ, ये तो आदमी हैं। पहचान गया! देवर्षि नारद और उनके साथी स्नातक हैं। स्नातककी बात स्पष्ट सुनायी पड़ रही है।

'महाराज! आपके जानेके पश्चात् मेरा मन बड़ा उदास हो गया था। आप तो घरके अन्दर चले गये और मैं इधर-उधर घूमता रहा। हाँ, आपकी यह वीणा धूलसे क्यों भर रही

है ? इसके तार बिखरे हुए-से क्यों मालूम पड़ते हैं ? क्या माता लक्ष्मीके आनेपर वहाँ जो बातें हुईं मैं सुन सकता हूँ ?'

'भैया ! तुम भगवान्‌के प्यारे हो, तुम्हें क्या नहीं सुनाया जा सकता ? माँ लक्ष्मी आयीं पर कुछ बात न हो सकी। राधाके सौन्दर्यको देखकर उन्हें दूर ही से मूर्च्छा आ गयी और जो पार्षद उनके साथ विमानपर आये थे वे उन्हें लेकर वापस लौट गये। अब वीणाकी बात सुनो ! मुझे मालूम हुआ कि कई दिनोंसे वृन्दावनमें एक नया परिवार आया हुआ है। उसमें स्त्री-पुरुष और दो बच्चे हैं। उनके स्वभाव, प्रेम और आचरण-पर सभी व्रजवासी मुग्ध है। सभी उनका दर्शन करने जाते हैं और उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होते हैं। माता लक्ष्मीके जानेके बाद मैं भी उन्हें देखने चला गया। पुरुष कहीं कामसे बाहर गया हुआ था। बालक और बालिका दूर खेल रहे थे। मेरे जाते ही वह स्त्री मुझे पहचान गयी। कितने सुन्दर बच्चे थे, उनकी ओर देखनेकी बार-बार इच्छा हो रही थी; पर मैं बहुत देरतक देख न सका। उस स्त्रीने तुरन्त मेरे लिए आसन लगा दिया, पैर धोये और कुछ खाने-पीनेका आग्रह करने लगी। मैं आश्चर्यचकित था। यह कौन है ? कुछ समझमें नहीं आता था। वह स्वयं कहने लगी—'अबतक हम बड़े कष्टमें थे। एक नियत सीमाके अन्दर रहना पड़ता था, बाहर निकलते ही मृत्युका भय था। हमारे पास भोगकी सामग्री थी, दासियाँ थीं और हमारे परिवारके लिए विस्तृत स्थान था, परन्तु हम पराधीन थे। सबसे बढ़कर दुःखकी बात यह थी कि हमारे पतिदेवका स्वभाव बड़ा कटु था। उसके कारण सैकड़ों प्राणियोंकी हत्या होती थी और न चाहनेपर भी मुझे सब देखना पड़ता था—सहना पड़ता था। क्या करती ? उनकी

इच्छाके अनुसार चलना ही मेरा धर्म है। पर उनका स्वभाव बदल गया, कितनी मधुर कहानी है, मैं आपको सुनाये बिना न रहूँगी।' हाँ, वह कहने लगी और इस तरह कहने लगी कि मैं मुग्ध हो गया, मेरी चेतना जाती रही और उसी समय मेरी वीणा हाथसे छूटकर गिर पड़ी, तभीसे इसके तार बिखरे हुए हैं और धूल लगी हुई है, अब जल्दी ही इसे सुधारनेका विचार है।'

'महाराज! मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है, वह स्त्री कौन थी? उसका पति कौन है और भगवान्‌ने उसपर क्या मोहनी डाली कि उसका कायापलट हो गया।'

'भगवान्‌की लीला बड़ी रसमयी है, उसके स्मरणमात्रसे हृदय भर आता है, शरीर पुलकित हो उठता है, वे कितने दयालु हैं, उनके प्रेमका पार नहीं। अच्छा सुनो, मैं उसीके शब्दोंमें सुनाता हूँ।'

'हम सब यमुनाके एक कुण्डमें रहते थे। उस समय यह रूप नहीं था। हम सब सर्पवेशमें रहते थे। हमारे पति इतने विषैले थे कि उस कुण्डका जल स्पर्श करके कोई जीवित नहीं बचता था। हवा उसके सीकरोंको उठा ले जाती तो जिन वृक्षोंसे, लताओंसे वे छू जाते सब-के-सब जल जाते थे। यदि उड़ता हुआ पक्षी निकट आ जाता तो उनकी फुफकारसे जलकर गिर जाता! बड़ा भीषण कुण्ड था। हम लोग गरुड़के डरसे बाहर नहीं निकलते थे, हमारे पतिकी उनसे दुश्मनी थी।

एक दिनकी बात है, वे सोये हुए थे। मेरे दोनों बच्चे मेरे पास बैठकर खेल रहे थे। उन दोनोंमें परस्पर झगड़ा चल रहा था। दोनों कहते थे कि कुण्डके किनारेपर बहुत-से लोग खेल रहे हैं। हमने उझककर देखा है कि खेलनेवालोंमें

एक लड़का बड़ा सुन्दर है। एकका कहना था कि वे कोई बाजा बजा रहे थे जो इतना मधुर था कि अबतक हमने वैसा बाजा कभी नहीं सुना था। दूसरेका कहना था—नहीं, वह बाजा नहीं था; उनकी बोली ही इतनी सुरीली थी।

वे दोनों मेरे पास आये। लड़का कहता था—'माँ! मुझे वहीं जाने दे, मैं पास जाकर उनका बाजा सुनूँगा। उन्हें देखूँगा। क्या वे मेरे साथ खेलना स्वीकार करेंगे?' लड़की कहती थी—'माँ! उनकी आवाज बड़ी मीठी है। उनका रूप अत्यन्त सुन्दर है। तू चल और मुझे भी अपने साथ ले चल, हम सब चलकर उसका खेल देखें और हम दोनोंका यह झगड़ा भी निबट जाय कि वे बाजा बजाते हैं या उनकी आवाज ही इतनी मीठी है।'

दो ओरसे बच्चे चलनेके लिए मुझे परेशान कर रहे थे। मैंने कहा—'बेटा! वे सचमुच बड़े सुन्दर हैं। वे बाजा भी बजाते हैं और उनकी वाणी भी वैसी मधुर है। पर हम बाहर कैसे जा सकते हैं? हम सबको गरुड़ खा जायगा, वह तुम्हारे पिताका शत्रु है। यहाँ तो वह शापके कारण नहीं आ सकता।' वे दोनों एक स्वरसे कहने लगे—'नहीं माँ! वहीं चलो। एक बार उस मधुर मूर्तिका दर्शन तो कर लें, उसकी मिठासभरी मुरली सुन लें और एक बार उसकी वे मोहनी बातें सुन लें। फिर मर जायँगे तो क्या परवाह है?'

मेरा हृदय भी यही कह रहा था। मैंने देखा नहीं था, पर मेरी सखियाँ मुझसे कहा करती थीं। मैं विवश थी। अपने पतिका आज्ञा बिना कैसे जाती? उन्हें देखनेमें कोई आपत्ति नहीं थी। केवल बात यह थी, मेरे पति उनसे जलते थे। उनका कहना था कि ये वही विष्णु हैं जिनके बलपर गरुड़ मुझे जीत

लेता है, नहीं तो मैं अपने घर होता और अपने देशका राजा होता। मैं बच्चोंको भुलवानेकी चेष्टा करने लगी पर वे मानते नहीं थे।

इसी समय मालूम हुआ कि कोई आ रहा है। बड़ा आश्चर्य हुआ। भला, इस विषैले पानीमें कौन है? किसकी इतनी बड़ी हिम्मत है? अभी नष्ट कर दिया जायगा, कहीं वे जाग न पड़ें। हमारे बच्चे दौड़ पड़े। अरे, यह तो वही हैं, कैसी अनुपम शोभा है! यमुनाके मरकतमणिके समान नीले जलके साथ शरीर एक हो रहा है, कमरमें कछौटी कसी है। गलेकी बन-माला जलमें उतरा रही है। सिरके बाल भींगे हुए हैं। मन्द-मन्द मुस्करा रहा है। कैसी प्रेमभरी आँखें हैं! अब बाँसुरीको मुँहसे लगाने ही वाला है। मेरे रोकनेपर भी बच्चे उसके पास पहुँच गये। उस समय मेरी क्या दशा थी, वह कही नहीं जा सकती। हृदयमें भाव उठता था, यह मेरे बच्चेसे थोड़े ही बड़े हैं। इन्हें गोदमें उठा लूँ, प्यार करूँ, चूमूँ और सदाके लिए इन्हें अपने पास ही रक्खूँ। दूसरी ओर बड़ी आशङ्का हो रही थी, अभी हमारे पतिदेव जगेंगे और पता नहीं कि क्या करेंगे। सम्भव है अपने शरीरसे इस नन्हें-से बालकको बांधकर मसल दें। यह भी सम्भव है कि अपनी विषभरी लपलपाती जीभोंसे डसने लगें। क्या करूँ, कुछ सूझता नहीं।

अबतक हमारे बच्चे वहाँ पहुँचकर खेलने लगे थे। एक कह रहा था, मुझे अपने साथ ले चलना। तुम्हारा शरीर छूनेमें मुझे बड़ा सुख मिलता है। लड़की कहती थी, नन्हीं-नन्हीं, तुम यहीं रहो। अब मत जाना। मैं एक पलके लिए भी तुम्हें न छोड़ूँगी। और वे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए दोनोंका शरीर सहला रहे थे। ये दोनों उनके पैरोंके पास बैठे-बैठे अपना प्रेम

प्रकट कर रहे थे। मैंने बहुत सोच-विचारकर अपना कलेजा कड़ा किया, पर बोला नहीं जाता था। किसी तरह पास जाकर डाँटा, कौन हो तुम ? भाग जाओ। अभी वे आयेंगे तो तुम जल जाओगे। पर वह हँसने लगे, खिलखिलाकर जोरसे हँस पड़े। अब तो मैं अवाक् हो गयी। मेरे बच्चे मुझसे नाराज होने लगे कि अब ये जायँगे तो हम भी इनके साथ चले जायँगे, अब हम तुम्हारे घर नहीं रहेंगे, इन्हींके साथ रहा करेंगे और खूब खेलेंगे।

उनके साथ खेलनेकी किसे इच्छा न होती, मैं भी तो यही चाहती थी कि मेरे प्राणप्रिय बच्चेकी तरह यह भी हमारे पास ही रहें। और वात्सल्यसे ही मैंने डाँटा भी था कि पतिदेवके जागनेके पूर्व ये यहाँसे चले जायँ तो बड़ा अच्छा हो, पर उनकी हँसी और निर्भयता देखकर मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। उधर वे बच्चोंसे कह रहे थे, चलो तुम्हारे घर चलकर खेलें और देखें, तुम्हारे पिता कहाँ सो रहे हैं। वे दोनों बड़े प्रेमसे ले गये।

अरे, यह क्या ? इन्होंने अपने पैरोंसे उन्हें ठोकर मार दी। जब वे फुफकारकर फन खड़ा करके उठ पड़े तब तो मैं भौंचक्की-सी रह गयी। कुछ सूझता ही न था। एक ओर कन्हैयाकी माधुरी और दूसरी ओर उनकी निष्ठुरता दोनों ही मूर्तिमान् होकर आँखोंके सामने नाचने लगी, पर मैं उनके भाव भाँप गयी। वे एकाएक स्तम्भित हो गये। मैं उनके चेहरेको देखकर स्पष्ट जान गयी कि कन्हैयाकी मोहनी काम कर रही है। उन्होंने अपने भावको दबाते हुए कहा—'अभी यहाँसे भाग जाओ, नहीं तो भस्म कर दिये जाओगे। अभी बच्चे हो, तुम्हें मेरा पता नहीं। मैं तुम पर दया करता हूँ।' मैंने अपने जीवनमें

ऐसी दया कभी नहीं देखी थी। वे शिथिल पड़ रहे थे। पर कन्हैया और जोरसे हँसने लगे। उनकी हँसीमें अपमान था और मेरे पतिके घमण्डकी उपेक्षा थी। उनसे सहन नहीं हुआ। आक्रमण करनेके लिए टूट पड़े। अब पैंतरेबाजी होने लगी। उस समय कन्हैया बाँसुरीसे मानो जादू चला रहा था। वे भी अपने बल और विषके घमण्डमें चूर होकर मण्डल बाँधकर घूम रहे थे। एक बार उन्होंने आक्रमण कर ही दिया। वे सारे शरीरमें लिपट गये और ऐसी चेष्टा करने लगे कि अपने शरीरसे कसकर मसल दूँ; उस समय मेरे मनकी क्या दशा थी कह नहीं सकती। एक ओर मोहनकी माधुरी अपनी ओर खींच रही थी, दूसरी ओर पातिव्रत-धर्म विवश कर रहा था, परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने देखा—वे उनके कोमल और स्निग्ध शरीरको कस नहीं सके, फिसल गये और कन्हैया उनके सिरपर सवार होकर नाच रहा है। वे अपना जो सिर उठाते उसीपर कन्हैयाके पैर बड़े वेगसे पड़ते। कन्हैया मुखसे बाँसुरी बजा रहा था, पैर उसीकी गतिमें गति मिलाकर नाच रहे थे और उसके साथ ही यमुना अपनी ध्वनि मिला रही थी। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ—सारा संसार—जड़, चेतन, देव, दैत्य, गन्धर्व, अप्सराएँ सब-के-सब उसीकी तानमें अपनी तान मिलाकर गा रहे हैं और अपने-अपने बाजे और सारे शरीरके कम्पनसे उसके साथ एक हो रहे हैं। अब मैं विचलित हो गयी। उनके मुखोंसे खूनकी धाराएँ बह रही थीं, शरीर शिथिल पड़ गया था, मानो वे अपने रुधिरके लाल-लाल पुष्प-बिन्दुओंको कन्हैयाके चरणोंपर चढ़ाकर शिथिलताके द्वारा दयाकी याचना कर रहे थे, अथवा शरणागत-मन्त्रका मूक जप कर रहे थे। मुझसे न रहा गया, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी। मेरे बच्चे भी आ गये। वे उस

समय अपने पिताको क्रोधित देखकर भयके मारे छिप गये थे। वे कन्हैयाके ऊपर आक्रमण करते हुए अपने पिताको नहीं देख सकते थे। उन्होंने निर्भयताके साथ जाकर कन्हैयाको पकड़ लिया और कहने लगे—'अब दया करो। इन्हें छोड़ दो। आओ, अब हम सब खेलें।' कन्हैयाने मुस्कराकर अपने नृत्यकी गति बन्द कर दी। अब उन्हें भी चेतना आने लगी और उन्होंने मेरे स्वरमें स्वर मिलाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हम आपको पहचान गये, आपने हमपर महान् अनुग्रह किया है। जिन चरणकमलोंके दर्शन बड़े-बड़े महात्माओं और देवताओंके लिए ध्यानमें भी दुर्लभ हैं उन्हींके द्वारा आपने हमें कृतार्थ किया है। अब हमें मृत्यु या गरुड़से कोई भय नहीं। गरुड़ने तो हम पर महान् अनुग्रह किया है। यदि उनकी कृपा न होती तो हम यहाँ आकर कैसे रहते और आपके इन दिव्य चरणोंका स्पर्श हमें कैसे प्राप्त होता? प्रभो! हम आपके गुणोंका अमृतमय संगीत गाया करें, आपके चरणोंका वियोग न हो। हमें अब अपने पास ही रख लीजिये।'

कन्हैयाने कहा—'हाँ, अब तुम लोग यह रूप बदल दो; गोपवेशमें हो जाओ और चलकर नन्दबाबाके व्रजमें ही निवास करो। मेरे यहाँ आ जानेके कारण व्रजवासियोंकी क्या दशा होती होगी, यह सोचकर अब मुझसे एक क्षण भी नहीं रहा जाता। तुम पूजा करनेकी तैयारी मत करो। मैं चलता हूँ, तुम भी शीघ्र ही आओ।'

इतना कहकर वे चले आये। हम उनके पीछे-पीछे ऊपरतक आये थे। उस समय किनारेपर भीड़ लगी हुई थी। कई बेहोश थे, कई यमुनामें कूदने जा रहे थे और बलराम उन्हें बलात् रोके हुए थे। कई रो रहे थे। पशु-पक्षी, गौ और

वृक्षतक भगवान्‌के विरहमें आँसूकी धारा बहा रहे थे। उनके आते ही सबके शरीरमें चेतना आ गयी। सभी परमानन्दमें डूब गये।

तबसे हम सब व्रजमें ही आ गये हैं और प्रातःकाल तथा सायंकाल उनके वनमें जाने-आनेके समय रास्तेमें खड़े होकर प्रतीक्षा किया करते हैं और उनकी उस अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करके कृतकृत्य होते रहते हैं। अब थोड़ी ही देरमें सन्ध्या होनेवाली है, हम भी अब कुछ घरका काम सँभालकर रास्तेमें जाने ही वाले हैं। महाराज! उस समय देखने ही लायक शोभा होती है। आगे-आगे सैकड़ों गौएँ पंक्तिसे निकलती हैं। उनके चलनेसे उठी हुई धूलि सायंकालीन सूर्यकी रक्त किरणोंसे मिलकर सारे आकाशमण्डलको मानो अबीरसे रँग देती है। उनके पीछे छोटे-छोटे बछड़े नाचते-कूदते अपनी स्वाभाविक चञ्चलता प्रकट करते आते हैं और उनके पीछे कन्हैयाकी मण्डली गाती-बजाती मस्तीके साथ आती है। कितना सुन्दर दृश्य होता है! सिरपरका मयूर-मुकुट, कानोंके मकराकृति कुण्डल, कपोलोंपर लटके हुए घुँघराले बाल धूलसे लथपथ रहते हैं। वनमाला धूमिल-सी मालूम पड़ती है। पीताम्बर शिथिल-सा जान पड़ता है। मरकतमणिसे स्वच्छ और चिकने कपोलोंपर परिश्रमके कारण कुछ स्वेद-बिन्दु भी आ जाते हैं। आगे-आगे बाँसुरी बजाते कन्हैया और बलरामकी जोड़ी चलती है और पीछे-पीछे उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर ग्वाल-बालोंकी मण्डली अनेक प्रकारके मधुर गायन करती हुई कुछ तेजीके साथ चलती है। गौएँ आगेसे सिर घुमाकर कभी पीछे देखने लगती हैं तो उनका चलना बन्द हो जाता है और सभी खड़े होकर उन्हींकी तालमें ताल मिलाकर नाचने लगते हैं।

यह हमारा नित्यका आनन्द है। हम व्रजवासी प्रतिदिन यह देखनेके लिए पहलेसे ही उधर देखते रहते हैं। किसी-किसी दिन वनमें वे अपनेको विचित्र ढङ्गसे सजा लेते हैं, गलेमें घुँघुचीकी माला डाल ली। अनेक तरहके पत्ते शरीरमें गूँथ लिये। शरीरपर अनेकों रङ्गकी पहाड़ी धातुएँ लगा लीं। उस दिन और भी मनोहर नट—जैसा वेश बन जाता है और हम देख-देखकर अपने जीवनको सफल करती हैं और हृदय शान्त करती हैं। हम उन्हें रोज देखती हैं पर अतृप्ति अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। हम शान्ति चाहती हैं पर अशान्तिका बीज और भी बढ़ता ही जाता है। देखे बिना एक क्षण कल नहीं पड़ती। घरके काम करते समय उनके ही गीत गाया करती हैं। झाड़ू लगाने, दही मथने, चावल कूटने, घर लीपने, स्नान करने आदि समस्त कामोंके समय ऐसा मालूम पड़ता है कि वही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर हमारी आँखोंके सामने नाच रहे हैं। अभी तो हम थोड़े ही दिनोंसे यहाँ आयी हैं तब भी यह दशा है। जो सदासे उन्हें देखती रही हैं उनकी क्या दशा होगी, यह बात वे स्वयं नहीं बता सकतीं। इस प्रकार हमपर महान् प्रेम और दया प्रकट की गयी है। ऋषिराज! आप तो शीघ्र जा सकते हैं, इसलिए जङ्गलसे ही जाकर साथ-साथ व्रज-मण्डलमें आयें।'

'भाई! मैं तो उसकी बात सुनते-सुनते मुग्ध हो रहा था। वीणा सुधारनेकी याद ही न आयी, अब सुधार लूँ। मालूम पड़ता है, उन्होंने अपने साथियोंको ढूँढ़कर यमुनातटकी ओर प्रस्थान किया है। अब हम भी चलें।'

भगवान्की लीला कितनी सुन्दर है! देवर्षि नारदके मुँहसे ये बातें सुनकर मेरा हृदय न जाने कैसा हो रहा है। भगवान्की

मोहक माधुरीका पान करके सर्पके बालकोंका आकर्षित हो जाना आश्चर्यकी बात नहीं है। सर्पिणीके हृदयमें भगवान्के प्रति वात्सल्य स्वाभाविक ही है। सर्पके ठिठक जाने और उसके फनोंपर कन्हैयाके नृत्यकी बात सुनकर मुझे ऐसा मालूम होने लगा था कि यह सब लीला मैं अपनी आँखोंसे देख रहा हूँ। कितना आनन्द होता था उनकी अपार कृपाका स्मरण करके कि उन्होंने उस विषैले सर्पकी कायापलट करके उसे ब्रज-मण्डलका रहनेवाला बना लिया। मेरा हृदय काबूसे बाहर हो रहा है, अब चलकर उन्हींकी लीला देखनी चाहिए। मालूम पड़ता है, वे यमुनातटपर पहुँच गये हैं।

यमुना तट भी कितना सुन्दर है! किनारे-किनारे कदम्बके वृक्ष लगे हैं। उनपर अनेक रंगकी फूलवाली लताएँ लिपटी हुई हैं। बड़े घने-घने कुञ्ज हैं, उनके पुष्पोंपर भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं। धूपके समय कन्हैया इन्हींमें विश्राम करते होंगे। किसीकी गोदमें सिर रखकर कोमल-कोमल पत्तों और मनोहर पुष्पोंकी शय्यापर लेट जाते होंगे और कोई-कोई ग्वाल-बाल उनके पैर दबाने लगते होंगे। आह! कितने सुन्दर उनके चरण हैं? उनका स्पर्श कितना सुखद है, उनकी सुकुमारताका ध्यान आते ही हृदय गद्गद हो उठता है। हाँ, यमुनाकी कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। यह उसका विस्तृत बालुकामय पुलिन है। अरे, यहाँ तो बड़ी भीड़ लग रही है। सभी गौएँ-बछड़े, ग्वाल-बाल यमुनाके किनारे पानी पीनेमें, हाथ-पैर धोनेमें संलग्न हैं। कितनी अद्भुत शोभा है, दूरसे देखता ही रहूँ या चलकर मैं भी सम्मिलित हो जाऊँ?

कन्हैया तो बाँसुरी सँभाल रहा है। ग्वाल-बाल भी साव-धान हो रहे हैं। गौएँ एकटक उसकी ओर देख रही हैं

तो क्या अब बाँसुरी बजेगी ? आसार तो ऐसे ही मालूम पड़ते हैं !

बज उठी—बज उठी ! अरे, ग्वाल-बाल सब उसीके साथ नाच उठे। कन्हैया बीचमें खड़े होकर बाँसुरी बजा रहे हैं और ये ग्वाल-बाल बड़े क्रमसे स्वर-तालकी गतिके अनुसार उसकी प्रदक्षिणा-सा कर रहे हैं। उनका ताँता टूटता ही नहीं। कन्हैया केन्द्र है और ये सब उसकी परिधि हैं। कंगनकी तरह वृत्ताकार या मण्डलाकार उसके चारों तरफ घूम रहे हैं। उसकी चितवन कितनी चञ्चल है ! सबसे आँखें मिला लेते हैं, सबसे मुस्करा लेते हैं और फिर भी बाँसुरीकी वैसी ही ध्वनि, वैसी ही मूर्च्छना और वैसी ही सुरमुनिजन-मनोमोहिनी तान छिड़ी हुई है। कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है, मैं खिंचा जा रहा हूँ। ओहो ! मैं भी सम्मिलत हो गया। मेरे पैर भी स्वयं उसीकी गतिसे मिलकर चल रहे हैं, मेरी आँखें उन्हींकी ओर लगी हुई हैं। सारा जगत् नाच रहा है, सारे देवता नाच रहे हैं। अरे ! ये फूल कहाँ से ? हाँ हाँ ! आकाशसे देवगण पुष्प-वर्षा कर रहें हैं।

ऐं ! इतना परिवर्तन क्यों ? अब तो न गौएँ दीखती हैं और न ग्वाल-बाल ! सब कहाँ चले गये ? यह कन्हैया मेरी ओर देखकर हँसते क्यों हैं ? अवश्य कुछ रहस्यकी बात होगी। अरे, मैं स्वयं बदल रहा हूँ पर मेरी चेतना जैसी-की-तैसी बनी हुई है। मैं एक मिट्टीका कण हो गया। ऐसा क्यों हुआ ? मेरे ऊपरसे अनेक गौएँ और ग्वाल-बाल गुजर रहे हैं। यह क्या बात है ? गोपियाँ आ गयीं, ये मुझे क्यों उठाये जा रही हैं। अच्छा, मुझसे बाल साफ करेंगी। किनारेपर रखते ही मुझे कोई उठाकर भाग रहा है। अरे ! कितना कोमल स्पर्श है ! पहचान गया, यह तो अपने मोहन ही हैं। अरे, मुझे

यमुना-जलमें बहा दिया। तब क्या मैं बहकर समुद्रमें चला जाऊँगा ? नहीं-नहीं, मैं अब एक यमुना-तटके पुष्पवृक्षका सुन्दर पुष्प हूँ। मुझे कोई तोड़ रहा है। कौन तोड़ रहा है ? क्यों तोड़ रहा है ? हाँ, यह तो गोपी है। क्या मेरी माला बनाकर श्यामसुन्दरके गलेमें पहनायेगी ? मेरा इतना सौभाग्य है ! हो सकता है। मैं उसके गलेमें पड़कर उसका हृदय चूम लूँगा। कितना सुन्दर, कितना आनन्दमय क्षण होगा !

अरे, मुझे तो किसीने छीन लिया। मुझे मसलकर फेंकने जा रहा है। पर इसका मसलना, इन सुकुमार हथेलियोंका स्पर्श मेरे हृदयको गद्‌गद कर रहा है। यह तो वही है ! अन्ततः मुझे फेंक ही दिया। उफ ! कैसा परिवर्तन है ? मैं इस समय एक कदम्ब वृक्षके रूपमें हूँ। उनका होनेपर भी जड़ता ! पर इसमें भी उनका प्रेममय करस्पर्श तो होगा ही। यह देखो ! वे मेरी एक डालपर बैठकर बाँसुरी बजा रहे हैं। कितना सौभाग्यमय यह जीवन है ! मैं अनन्त कालतक वृक्ष ही बना रहूँ यदि उनका इसी प्रकार प्रेम प्राप्त होता रहे। पर यह कामना क्यों की जाय ? उनकी जैसी इच्छा हो वैसे ही नचावें। मैं तो उनकी कठपुतली हूँ ! पर कठपुतली तो यह नहीं जानती कि मैं कठपुतली हूँ, यह जानना भी उन्हींकी इच्छासे हो रहा है। अरे सोचते-सोचते मैं भूल ही गया। अब मैं एक मयूरके रूपमें हूँ। मैं ऐसा क्यों हो गया ? यह भी कोई लीला है अवश्य। ऐसी ही बात है। मेरे श्यामसुन्दर ! मेरे घनश्याम ! ! घनश्याम ! ! ! आओ, मैं तुम्हें देख-देखकर नाचूँ। यह जीवन कितना पवित्र है, मैं तुम्हें देखकर नाचूँगा। क्या तुम आ रहे हो ? तो मैं अब नाचता हूँ। तुम सचमुच आ गये। मेरे नाचके साथ बाँसुरी मिलाकर तुम भी नाच रहे हो। धन्य

है तुम्हें ! मेरा पक्षी जीवन सार्थक है, पर मेरा कैसा ? यह तो तुम्हारा ही है। नचा लो श्याम ! खूब नचा लो। जी भरकर नचा लो। मैं तुम्हारे इशारेपर नाचता हूँ।

अरे, मेरा वह मयूर रूप न रहा। मैं एक गौ हो गया हूँ। वाह री कन्हैयाकी लीला ! मुझे यों गौ बनाकर स्वयं जंगलमें छिप गये ! इतनी चञ्चलता ! तुम्हें ऐसा ही करना मञ्जूर है ? कर लो। खूब कर लो। पर यह नन्हा-सा बछड़ा मुझे इतना प्रिय क्यों मालूम पड़ता है ? यह आकर अपने सिरसे शरीर खुजलाने लगता है तो मुझे इतना आनन्द क्यों आता है ? अवश्य यह वही होगा ! हाँ वही तो है। देखो न, कैसा नाच-नाचकर बाँसुरी बजाने लगा है। मेरी पीठपर हाथ रखकर सहला रहा है। मेरी ललरियोंको खुजलाते हुए हँस रहा है। कितना खिलाड़ी है ! यह पशुजीवन सर्वोच्च जीवन है, यदि प्रियतमका सुखमय स्पर्श प्राप्त हुआ करे। अरे ! मैं बदलता जा रहा हूँ, यह देखो ! मेरे हृदयमें बैठकर ज्ञानोपदेश कर रहे हैं और मैं मनुष्य शरीरसे आँखें बन्द करके बड़े ध्यानसे सुनने जा रहा हूँ। मुझे इस ज्ञान-गाथाकी क्या आवश्यकता आ पड़ी ? आवश्यकता क्या ? यह उसीका एक खिलवाड़ है। खेल लो भैया ! मुझे तुम्हारे साथ खेलनेमें ही आनन्द है। चाहे जिस रूपमें खेलो।

अच्छा, इस बार तो खूब रंग बदले ! बड़े ऐश्वर्यशाली होकर सामनेसे आ रहे हैं। चार हाथ हैं, उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। गलेमें वैजयन्ती माला और कौस्तुभमणि अनोखी छटा ला रही हैं। छातीपर भृगुलताका चिह्न है। कन्धोंपर पीताम्बर फहरा रहा है। बाहुओंमें बाजूबन्द बँधे हैं, पहुँचोंमें कंगन धारण किये हुए हैं। शङ्खके समान

कितना सुन्दर गला है, मुखमण्डलकी प्रभा तो कही नहीं जा सकती। लाल-लाल ओष्ठ, सहस्रों बिजलीके समान सुन्दर दाँत, प्रेमभरी आँखें, अनुग्रहवर्षी भौंहें, मरकत-मणिके समान स्वच्छ और चिकने कपोल, लम्बा और ऊँचा ललाट, उसपर लगा हुआ गोरोचनका तिलक और लटकी हुई घुँघराली अलकें बरबस मन हरण कर रही हैं। कितना सुन्दर मुकुट है! उसमें लगी हुई अमूल्य मणियोंकी शोभा सहस्रों सूर्य और चन्द्रमाका तिरस्कार कर रही हैं। मकराकृति कुण्डल है। अपने हाथमें लिए हुए कमलके द्वारा इशारा करके मुझे अपनी ओर बुला रहे हैं। क्या करूँ? इनके चरणोंमें लोट जाऊँ? इनके चरणोंकी सेवा करूँ? इस रूपमें तो ये मेरे स्वामी हैं। मैं इनका सेवक हूँ।

अरे, चरणोंमें गिरते ही अभी पूर्णतः स्पर्श भी नहीं कर सका था, कहाँ चले गये? मेरा दास्यभाव मनमें ही रह गया। मैं बुढ़िया माई क्यों न बन गया? मेरे शरीरमें झुरियाँ पड़ रही हैं पर मेरे स्तनोंमें दूध आ रहा है। किसीको गोदमें उठानेके लिए हाथ ललक रहे हैं। क्या बात है? अरे! इस जङ्गलमें यह नन्हा-सा शिशु कहाँसे आ गया! कितना सुकुमार है! अभी दो वर्षका भी नहीं मालूम पड़ता। कैसा खिलखिलाकर हँस रहा है। दाँतोंकी ज्योति लाल-लाल ओठोंको पार करके पैरोंका नाखून चूम रही है। कैसा भला लगता है! दौड़कर उठा लूँ, छातीसे लगा लूँ, चूम लूँ! एक क्षणके लिए भी इसे न छोड़ूँ!

मेरे छूते ही गायब क्यों हो गया! और मैं बुढ़िया माईसे नन्हा-सा बालक कैसे बन गया? मैं इस घोर जङ्गलमें अनाथ पड़ा हूँ। उठकर चल नहीं सकता। पर मेरी चेतना बूढ़े जैसी

बनी हुई है। क्या बात है? मेरी माँ आ रही है। कितनी अच्छी माँ है। मुझे अपनी गोदमें लेकर प्रेममय दूध पिला रही है। मुझे चूमकर थपकी लगाती हुई अपनी गोदमें ही सुला रही है। अरे! यह माँ थोड़े ही है। यह तो वही माँका स्वांग बनाकर आया है। बड़ा छलिया है।

छलिया कहते ही लापता! धन्य हो देवता! कहाँ गये? मुझे इस जंगलमें अनजान अवस्थामें छोड़कर तुम कहीं नहीं जा सकते। मुझमें यह परिवर्तन! अरे! अब तो मैं बारह वर्षकी अवस्थाका बालक बन गया। अकेले क्या करूँ? यह लो, अनेक ग्वाल-बालोंके साथ आप भी आ पहुँचे। कितने चञ्चल हैं, जमीनपर पैर नहीं पड़ते। क्यों? क्यों! मुझे चपत क्यों लगा रहे हो? मेरे कन्धेपर क्यों सवार हो गये? क्या कहते हो? यही न कि तुम मुझे भाण्डीर-वटतक ढो ले चलो तो मैं भी तुम्हें इतनी ही दूर ढो दूँगा। मैं नहीं मानता, तुम शायद पीछे मुझे छका दो। तुम ही मुझे पहले ढो ले चलो। अरे! यह क्या? मुझे ढोनेको तैयार हो गये! अच्छा, यही सही। मैं तुम्हारे कन्धोंपर चढ़ूँगा।

क्यों! चढ़नेकी चेष्टा करते ही लापता? मुझे कहाँ ले जा रहे हो? मुझे ढोना चाहिए था। मैंने गलती की। आओ, आओ। अब कभी ऐसा न करूँगा। तुम्हें ढोनेमें बड़ा आनन्द है, जब तुम कन्धेपर बैठे हुए थे तब तुम्हारे चरणोंको हाथोंसे स्पर्श करके मैं कितना सुखी हो रहा था! अब मैं तुम्हें ढोऊँगा। तुमपर चढ़ूँगा नहीं। मेरे प्यारे सखा! आ जाओ! नहीं आते? क्यों भगे जा रहे हो? मैं तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ूँगा, पकड़ लूँगा। देखता हूँ तुम मुझसे कितना अधिक दौड़ते हो। अब भागो। पहुँच आया। अरे, यह क्या! अब छूने ही वाला

था, तबतक लापता! मनमें सोच रहा था, अब पकड़ूँगा तो कन्धोंपर चढ़ा लूँगा! पर यह क्या! मैं इस घनघोर जंगलमें अकेला ही छोड़ दिया गया! अच्छा है, जैसी नटवरकी इच्छा!

ये दो स्त्रियाँ कैसी आ रही हैं? इनकी आकृतिसे सात्त्विकता, प्रेम और सेवाका भाव सूचित हो रहा है। इनके साथ स्वभावतः ही मेरे मनमें बहिनका भाव जाग्रत् हो रहा है क्या करूँ? कुछ निश्चय नहीं होता। अरे! ये तो मेरी ही ओर आ रही हैं। क्या बात कर रही हैं, सुनूँ तो—

'युगल सरकारकी आज्ञा है कि इसे अपने अन्तरंग-मण्डलमें सम्मिलित कर लिया जाय। इसे पहले राधाकुण्डमें स्नान कराकर सखी बना लिया जाय, फिर युगल सरकारके सामने उपस्थित किया जाय।'

'हाँ, सखी ऐसा ही करना चाहिए। असलमें जीवमात्र हमारे प्रेमस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी परा प्रकृति ही है। सबका उन्हींसे वास्तवमें कान्त-सम्बन्ध है, परन्तु लोग मायामोहके चक्करमें पड़कर अपना सच्चा सम्बन्ध भूल गये हैं और इसीसे भटक रहे हैं। जिसपर श्रीलाड़िलीजी और श्रीलाड़िले नन्दलालकी विशेष कृपा होती है उसीको अपने पास बुला लेते हैं और मधुर रसका आस्वादन करते-कराते हैं। आज यही जीव कृतार्थ हो गया। आज इसे अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त होनेवाला है।'

'हाँ सखी! यह तो सच्ची ही बात है, पर इसके साथ ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और आत्मा ही ब्रह्म है, इन बातोंकी सङ्गति कैसे लगती है?'

'यह बात जगत्से मन हटानेमें बहुत ही सहायक है। अपनी अन्तर्निहित शक्ति और वास्तविक स्वरूपपर विश्वास करने तथा जगत्के मिथ्यात्वका चिन्तन-मनन करके अनादि कालसे

संसारमें फँसे हुए मनको अलग कर लिया जाता है। जगत्की ओरसे हटे हुए और भगवान्की अन्तरङ्ग लीलाओंमें प्रवेश पाये हुए मनकी जो निर्विषय स्थिति है उसे ही निर्गुण निष्क्रिय स्वरूप-स्थिति कहते हैं। इसके बाद आत्माओंके आत्मा भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें प्रवेश होता है। इस कोटिके भक्तोंमें शिव, सनकादिक तथा नारद प्रभृति हैं। तुम तो देखती ही हो, हम लोगोंके साथ सखी-रूपमें वे हमारे आराध्य देवकी सेवा किया करते हैं। अच्छा; तो इसे ले चलना चाहिए।'

ऐं! यह क्या हो गया? राधाकुण्डमें स्नान कराते ही मैं स्त्री बन गया। यह मुझे बड़े प्रेमसे किधर लिये जा रही हैं? कितना सुन्दर दृश्य है? स्फटिकमणि-जैसा दिव्य मार्ग है। आसपास पुष्पोंकी बड़ी सुन्दर क्यारियाँ सजी हुई हैं। थोड़ी-थोड़ी दूरपर हरे-भरे वृक्ष हैं और उनपर अलौकिक पक्षी चहक रहे हैं। कहीं वृक्षकी हरी-भरी पत्तियोंमें पीले पक्षी बिजलीकी तरह चमक उठते हैं। कहीं भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं और कहीं प्रेमके बादल मन्द-मन्द गर्जना करते हुए अमृतकी बूँदे बरसा रहे हैं। अनेकों प्रकारके अद्‌भुत शब्द सुनायी पड़ रहे हैं। मैं कितना मार्ग तय कर गया, कुछ पता नहीं चलता। सामने कल्पवृक्षका बन है। उनसे लिपटी हुई लताएँ कितनी सुन्दर लगती हैं। अहा! मैं कहाँ पहुँच आया? इस विशाल और मनोहर कल्पवृक्षके नीचे कल्पलताके कुञ्जमें मणिमय वेदिका स्पष्ट दीख रही है। उसका आकार सहस्रदल कमलकी भाँति और उसका मुख्य पीठ स्वर्णमयी कर्णिकाकी भाँति दीख रहा है। बड़ा प्रकाश है, प्रत्येक दलपर अनेकों सखियाँ खड़ी हैं—किसीके हाथमें चँवर है, किसीके हाथमें व्यजन है! कोई-कोई अनेकों प्रकारके पात्र और नाना प्रकारकी सामग्री हाथोंमें

लिये हुए हैं। उनके बीचमें सोलह सखियोंका एक मण्डल है और उनके बाद आठ सखियाँ हैं। उनके द्वारा सेवित श्रीयुगल-सरकार एक दूसरेके कन्धेपर हाथ रखे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए खड़े हैं। श्रीलाड़िलीजी बायीं ओर हैं और श्रीलाड़िलेजी दाहिनी ओर त्रिभंगी भावसे विराज रहे हैं। उनका मुकुट श्रीलाड़िलीजीकी ओर झुका हुआ है। दाहिने हाथसे मुरली सँभाले हुए हैं और श्रीलाड़िलीजी बाँये हाथसे माला लेकर उन्हें पहनाने जा रही हैं। कैसी अनुपम शोभा है? मैं क्या करूँ? चरणोंमें लोट जाऊँ? कुछ समझमें नहीं आता। मेरा मन स्वयं गा रहा है—'प्रियतम! अनन्त कालसे तुम मुझपर अनन्त प्रेमकी वर्षा कर रहे हो। मुझे बुलानेके लिए अपनी आँखोंसे और भौंहोंसे इशारा कर रहे हो। अपनी सेवाकी अधिकारिणी बनानेके लिए मुरलीकी मधुर ध्वनिसे आकर्षण कर रहे हो। अपनी लम्बी-लम्बी विशाल भुजाएँ फैलाकर आलिङ्गन करनेके लिए न जाने कबसे उत्सुकता प्रकट कर रहे हो, पर तुम्हारे प्रेमपूर्ण आमन्त्रणपर मैंने अपनी विषमता डाल दी। सुनी-अनसुनी कर दी। आज तुमने महान् अनुग्रह करके मुझे अपने पास बुला लिया है। मैं तुम्हारी ही हूँ। जैसे चाहो वैसे ही रक्खो!'

ऐं! क्या कह रही हो? मैं इतनी सौभाग्यवती हूँ? पर इसमें क्या सन्देह? मैं आरती करूँ? अच्छा मैं आरती करूँगी तो श्रीभगवान् बाँसुरी बजायेंगे और तुम लोग अपनी-अपनी वीणा, पखावज आदि बजाकर नृत्य करोगी। धन्य है, मेरा जीवन सफल हुआ।

आरति युगल सरकारकी।
नित्य नूतन सहज सुख सुखमा-सदन सुकुमारकी॥
आरति युगल सरकारकी!

कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण-प्राप्ति

'कहीं इस तरह भी जप किया जाता है? धीर-गम्भीर भावसे अर्थका अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तलसे एक-एक अक्षरका उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ। क्या तुम बेगार भरनेके लिए संख्या पूरी करते हो?' एक सूरसे वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लम्बे तगड़े गौर वर्णके तेजस्वी महात्मा मेरी आँखोंके सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श किया और जिस चौकीपर मैं बैठकर जप कर रहा था, उसपर उन्हें बैठा दिया और मैं स्वयं उनके चरणोंके पास जमीनपर ही बैठ गया।

ये महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे। मैंने इन्हें तब देखा था, जब मेरी अवस्था आठ वर्षकी भी नहीं रही होगी। ये कभी-कभी मेरे बाबाके पास आया करते थे। इनके दिये हुए नारियलके प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुए मुखमण्डल-पर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेनेपर दिलमें गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नेपाली शरीर, लोगोंसे कम मिलना-जुलना और अपनी कुटीमें रहकर एकान्त सधना करना—यही उनके जीवनकी विशेषताएँ थी। वे चौमासेमें प्रायः नैपाल चले जाते थे। और बाकी महीनोंमें मेरे गाँवसे दो मीलकी दूरीपर एक विशाल वटवृक्षकी छायामें बनी हुई छोटी-सी कुटियामें रहते थे। मैं न जाने

कितनी बार इनसे मिला था; परन्तु आजकी तरह नहीं। आज तो चार बजे रातको जब मैं अपनी जपसंख्या पूरी करनेके लिए जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर ये उस छोटी-सी चौकीपर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणोंकी ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पन्द्रह-बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भङ्ग करते हुए कहा—'मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्यचकित होनेकी कोई बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्माकी ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मनमें आया—चलें, जरा देख आयें क्या हाल-चाल है। इतना सबेरे आनेका कारण यह था कि मनुष्योंकी प्रवृत्ति जाननेके लिए यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिए कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। वे दोनों ही अवस्थाएँ मनुष्यको उसकी रुचि और प्रवृत्तिके समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय है, परन्तु इसमें कुछ संशोधनकी आवश्यकता है।' मैंने जानना चाहा कि क्या-क्या संशोधन होने चाहिए, परन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्नको टालते हुए कहा—'चलो, अभी तो गङ्गाजी चलें। शुद्ध प्रभाती वायुके सेवनसे शरीरमें एक नवीन स्फूर्तिका प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न हो जाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिए चलो गङ्गाजी; गङ्गास्नान तो होगा ही, प्रातःकालीन भ्रमण भी हो जायगा। वे आगे-आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया।

गङ्गाजीके प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गङ्गाजीका पुलिन,

उनके तटके वृक्ष, उनकी अठखेलियाँ करती हुई तरंगें, मेरे मनको बरबस हर लेती हैं। मेरे मनमें एक नहीं, अनेक बार ऐसी इच्छा होती है कि मैं गङ्गा-तटपर रहूँ, केवल गङ्गाजल पीऊँ और स्वर्ण-सी चमकती हुई नवनीत-सी कोमल बालुकाओं-पर मन भर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजीके पीछे-पीछे चला तब मेरे मनमें केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंसजीके साथ गङ्गाजीमें खूब स्नान करूँगा, उनसे जप और ध्यानकी विधि सीखूंगा। रास्तेमें न वे बोले, न मैं। दोनों मौन रहे, परन्तु गङ्गाजीकी दूरी ही कितनी थी ? बस, एक मीलसे कुछ अधिक। बात-की-बातमें हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या-तर्पण आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्षके नीचे हमलोग बैठ गये। परमहंसजीका रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—'भगवन्, जपमें यदि संख्यापूर्तिका ध्यान न रक्खें तो कैसे काम चले ? क्या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक नामजप कर लें, यह उत्तम नहीं है ?' उन्होंने कहा—'उत्तम क्यों नहीं है ? भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नाम-जपके साथ यदि भावका संयोग हो, प्राणोंका संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो इसका फल पग-पगपर मिलता जाता है। एक-एक नामका उच्चारण अपरिमित आनन्दका दान करनेवाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्बसे।'

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट बतलाता हूँ।' इस प्रकार परमहंसजी बोलने लगे—'साधारणतः नाम-जप वाक्-इन्द्रियका काम है। वाक्-इन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है इसका सञ्चालन प्राणशक्तिके द्वारा होता है। वाक्-इन्द्रियसे जप करनेका अर्थ है प्राणोंके

साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वरसे होता है, जिह्वाकी एक नियमित गति रहती है, तो प्राणोंकी गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। बेसुरे ढंगसे एक साँसमें पाँच-सात बार राम-राम कह जानेकी अपेक्षा एक बार स्वरसे कहना उत्तम है। गम्भीरताके साथ 'रा······म, रा······म' इस प्रकार जप करनेमें प्राणायामकी अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रिया-शक्तिपर नियन्त्रण होनेके कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँतक तो स्थूल क्रियाकी बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रियसे ही नहीं होता। और इन्द्रियोंकी अपेक्षा वाक्-इन्द्रियकी एक विशेषता है; वह यह है कि वाक्-इन्द्रियके साथ एक ज्ञान-इन्द्रिय जिसको रसना कहते हैं, रहती है। अधिकांश तो वाक्-इन्द्रियसे ही जप करते हैं, उसमें रसनेन्द्रियका उपयोग नहीं करते। उपयोग करनेकी बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसनाका काम है रस लेना। वाक्-इन्द्रियसे नामका उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नामकी मधुरताका आस्वादन करे—यह परिणाममें ही नहीं, वर्तमानमें भी सुखद है। इस प्रकार रसकी धारणा करनेसे प्रत्याहारकी अलग आवश्यकता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रिय और मनका एकत्व हो जाता है। नियमित गतिसे वाक्-इन्द्रिय प्राणमें लय हो जाती है और रस लेनेसे ज्ञानेन्द्रिय मनमें लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थका चिन्तन रहा, तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तनमें प्राण और मन दोनों एक हो जायँगे। प्राण और मनका एकत्व ही सुषुम्णाका संचार है और यही पहले ध्यानकी एवं पीछे समाधिकी अवस्था है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि जपमें तीन बातें रहें—मन्त्रका उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गतिसे हो, मन्त्रको

मधुरताका आस्वादन हो और मन्त्रके अर्थका चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोगकी आवश्यकता नहीं है। केवल जपसे ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और। मन्त्रार्थ-चिन्तनका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दोंका अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्रके एकमात्र अर्थ हैं अपने इष्ट-देवता। उनका जो स्वरूप अपने चित्तमें हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थचिन्तन है।'

'यदि तुम इस बातको समझकर इसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेशका उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करनेमें बड़ी कठिनाइयाँ मालूम होती थीं। परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा। धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपने कुटीपर जायँगे या मेरे घर। इसलिए मैं चुप हो रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँसे यात्रा कर दी, मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

परमहंसजीकी कुटिया बड़े सुन्दर स्थानपर थी। जलका भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंसजी तो कभी-कभी उन वृक्षोंसे ही घण्टों बात करते रह जाते थे। आस-पासके गाँवोंमें वे सिद्धके रूपमें प्रख्यात थे। इसलिए उनकी इच्छाके विपरीत वहाँ कोई नहीं आता था। जब हम लोग वहाँ पहुँचे तो सर्वथा एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परमहंसजी अपनी एकान्त कुटियामें ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधनकी कठिनाइयोंपर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था—साधन तो सुगम-से-सुगम होना चाहिए। जन्म-जन्मसे कठिनाइयोंके चक्रमें पिसता हुआ जीव

यदि भगवान्‌की ओर चलनेमें भी कठिनाइयोंके अन्दर ही रहे तो फिर साधना और साधारण स्थितिमें अन्तर ही क्या रहा! अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चञ्चलताको देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदयसे प्रार्थना की—'हे प्रभो, मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और तुम्हारे पास पहुँचनेका क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका भी मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रयहीनके तुम्हीं आश्रय हो। मुझ दीनके तुम्ही दयालु हो, मुझ भिखारीके तुम्ही दाता हो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ।' मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया, यह पता नहीं रहा कि कितना समय बीत गया।

दो बजे परमहंसजी कुटियासे बाहर आये। प्रसाद पानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधनामें कोई कठिनाई नहीं है; यह मार्ग तभीतक बीहड़ मालूम होता है, जबतक इसपर पैर नहीं रक्खा जाता। इसपर चल दो, फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने-आप हल हो जायँगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं, वह तो साधकोंके लिए वरदान है। कठिनाईमें ही उनकी आत्मशक्ति और आत्मविश्वासका विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्यको प्राप्त करके ही रहूँगा, भला, ऐसी कौन-सी कठिनाई है, जो उसे अपने मार्गसे विचलित कर सके? कठिनाई भी एक साधना है, जो साधकोंको नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाती है। जिसके जीवनमें कठिनाई नहीं आयी, वह जीवनके मार्गमें कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या सबूत है?'

और भी बहुत-सी बातें हुई, उनका मेरे चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय,

कठिनाइयोंकी परवाह किये बिना मैं आज हीसे साधनामें लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंसजीके शरीरसे, उनके नेत्रोंसे एक दिव्य शक्ति निकलकर मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्‌भुत उत्साहकी स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्तमें स्थिरता और शान्तिका उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधनामें कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटनेपरे मैंने परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ किया। मैं स्थिर आसनसे बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नामका उच्चारण करता, परन्तु ओठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता कृ······ष्ण ! कृ······ष्ण ! परन्तु यह क्रिया प्राणोंकी शक्तिसे ही सम्पन्न होती। पूरा मन जपमें ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेती। पहले कुछ दिनोंतक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता, तो जप ऊपर-ही-ऊपर होने लगता। परन्तु कुछ ही क्षणोंमें यह मालूम हो जाता कि बिना शक्ति लगाये जो जप हो रहा है, उसका मेरे शरीर और अन्तःकरणपर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मैं तुरन्त सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नामका उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणोंकी ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था मैं तो केवल बलकी ओर ही ध्यान रखता था; परन्तु प्राणोंकी गति स्वयं ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नामके उच्चारणके समय 'क्'का कम्पन कण्ठमें और 'ऋ, ष्, ण'-का मूर्धामें होता था, इससे अपने-आप ही प्राणोंकी गति मूर्धाकी ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राणवायु चल रहा है अथवा नहीं। मेरा मन सहज रूपसे एकाग्र होने लगा।

● ● ●

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता अर्थात् और किसी तरफ जाना छोड़कर जपमें ही पूरी तरहसे लग जाता, तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर-जितना बड़ा ही एक ज्योतिःपुंज हूँ। केवल घन प्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर-जैसी ही थी मेरे मनके सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हल्के प्रकाशसे घिरा हुआ दीखता। तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थको देखता ही न था, केवल तेजका अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीरके अन्दर कृ······ष्ण! कृ······ष्ण! का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योतिकी धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकारकी भावनाओंको भूलकर केवल जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णोंके संघर्षका ही फल था।

यह प्रकाशकी धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तकमें केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनोंके अभ्यासके बाद ऐसा मालूम होने लगा था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जायँ, तो भी इस मस्तकस्थित प्रकाशकी तुलनामें नहीं आ सकते, परन्तु उस प्रकाशके केन्द्रमें भी कुछ क्रिया होती-सी दिखायी पड़ती और पूरी शक्तिसे कृष्ण-कृष्णका पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत्के किसी आवश्यक कार्यके लिए भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था तो बाहर भी मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दीखता था। कुछ क्षणोंके बाद बाहर विभिन्नताएँ दीख भी पड़ती थीं तो रह रहकर उनके अन्दर प्रकाशकी एक रेखा चमक जाती थी।

प्राय: उस समय भी बिना किसी चेष्टाके मेरे अन्दर जप होता रहता था और कभी-कभी तो बाहरकी वस्तुओंमें भी जप होता हुआ दीखता था मानो पृथिवीका एक-एक कण कृष्ण-कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनोंके अभ्याससे ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तकमें दीख पड़नेवाला प्रकाश मानो चैतन्य हो गया है। सूर्यके समान उस प्रकाशमें, जो कि चन्द्रमासे भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमककर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर; कभी चरणकमलोंकी नखज्योति इस प्रकार चमक जाती कि वह महान् प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता, मानो घने अंधकारमें बिजली चमक गयी हो। अब मेरा ध्यान प्रकाशकी ओर नहीं जाता, वह तो रूखा मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाशकी ही बाट देखता रहता। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शनके लिए उत्सुक, व्याकुल और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग-सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूतिके समय भी कृष्ण-कृष्णकी धारा कभी बन्द नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यानका दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता तो इस शरीरकी तो स्मृति नहीं रहती थी; परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी परन्तु इन पाञ्चभौतिक तत्त्वोंसे जिसकी सङ्घटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है, यह स्मृति भी नहीं रहती; बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीरसे भी कृष्ण-कृष्णका जप होता

रहता। मेरे उस हृदयमें भी श्रीकृष्णके लिए छटपटी थी। मेरी आँखें तरसती रहती थीं उन्हें देखनेके लिए। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिङ्गनके लिए। यदि मेरे रोम-रोमका कोई विश्लेषण कर पाता तो देखता कि वे श्रीकृष्णके संस्पर्शकी अभिलाषासे ही गठित हुए हैं। मेरे रग-रगमें एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अमृतधारासे सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्णके दर्शन होते ही न हों, होते थे और बार-बार होते थे। कभी-कभी तो प्रत्येक क्षणके बाद होते थे, परन्तु मुझे उससे सन्तोष नहीं था। वह एक क्षणका विलम्ब मेरे लिए तो कल्पसे भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता; वे चले जाते। मैं उनको पहनानेके लिए हाथोंमें माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनोंतक न रही। वे आते हँसते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुककर चलते हुए। आकर कभी मेरे सिरपर हाथ रख देते और कभी प्रेमसे मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम रोम खिल उठता। आनन्दके आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणोंका स्पर्श करता, उन्हें माला पहनाता अपने हाथोंसे उन्हें सुन्दर-सुन्दर फल खिलाता, उनके काले-काले घुँघराले बालोंमें फूल गूँथ देता और हाथमें आरती लेकर उनके सामने नाचते-नाचते मस्त हो जाता, तन-बदनकी सुध नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपनेको उनकी गोदमें पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेमकी बातें करते और क्या नहीं करते? मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु जब भी मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोममें कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि गूँज रही है। सम्पूर्ण वायु-

मण्डल और आकाशका कोना-कोना उस पवित्र गुञ्जारसे प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिर्वचनीय रस प्रत्येक वस्तुके अन्तरालसे अबाध गतिसे भर रहा है।

स्थूल दृष्टिसे यह सब मेरे ध्यानकी स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिए इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती ही न थी। स्थूल था तो वही, सूक्ष्म था तो वही। कम-से-कम मेरे चित्तमें ऐसी ही बात थी। भगवान्का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे तो स्थूल और सूक्ष्मका प्रश्न ही कहाँसे उठे? जो हृदयमें भगवान्के हृदयका रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्रायः शरीरसे मिलनेके लिए जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदयमें इस रसकी अनुभूतिसे निहाल होते रहते हैं वे उसको छोड़कर बाहर आयेंगे ही क्यों? जिससे कि उन्हें बाहरकी चिन्ता करनी पड़े। मैं उस समय अपनी उस स्थितिमें रसका अनुभव करता था। जिस स्थिति या जिस स्थूलशरीरमें आनेपर मैं उससे वञ्चित हो जाता उसमें आनेकी मैं इच्छा ही क्यों करता? लोगोंकी प्रेरणासे यदि मैं स्थूल व्यवहारमें आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत्का आकर्षण मुझे वहीं जानेके लिए खींचता रहता। बाहरका काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गास्नान करके लौट रहा था, रास्तेमें पलाशके विशाल जंगलको देखकर इच्छा हुई कि यहाँ जायँ। मैं एक छोटे-से वृक्षकी मनोहर छायामें बैठ गया। जाड़ेका दिन था। उतने सबेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायुमण्डलकी सन-सन आवाज आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासनसे बैठकर हाथोंको गोदमें रक्खा और आँखें बन्दकरके कृष्ण-कृष्णकी ध्वनिपर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बन्द रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश पलकोंकी दीवार

लाँघकर आँखोंके तारोंमें घुसा जा रहा था और मैं बल लगानेपर भी आँखोंको बन्द करनेमें असमर्थ था। आँखें खुली तो देखा न वहाँ जंगल है, न वह वृक्ष है जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताजी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला था और उसके बीचमें मैं ज्यों-का-त्यों स्वस्तिकासनसे बैठा हुआ था। मैंने सोचा—शायद यह मेरे मनकी ही लीला हो। मैंने फिर आँखें बन्द करनेका प्रयत्न किया; परन्तु मेरी पलकें टस-से-मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथिवीसे करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवनसुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौर वर्ण था, फूलोंकी ही कछौटी थी, फूलोंका ही मुकुट। हाथों और चरणोंमें भी फूलोंका ही दिव्य आभूषण था, साथ ही मुकुटपर मयूरपिच्छ था और दोनों हाथोंमें बाँसुरी थी जो अधरोंसे लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज मेरे प्राणोंमें प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। बाँसुरी और मयूर-पिच्छसे स्पष्ट हो रहा था कि ये श्रीकृष्ण हैं। मनमें कहा—वे तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौर सुन्दर कहाँसे ? मैंने उसके चरणोंमें साष्टाङ्ग लोट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड़ हो गया था, वह हिलतक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मनका भाव उन-पर प्रकट करना चाहा; परन्तु मुँह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़नेकी चेष्टा की; परन्तु हाथ अपने स्थानसे उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंमें आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको, और वे मुस्कुराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमक-ठुमककर नाचते हुए, ऊपर-ही-ऊपर कभी दायें कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया।

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानोंमें मानों अमृतकी धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िलीका ध्यान करता रहता हूं न? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो केवल इस समय, केवल इस रूपके साथ। यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो—यह मेरी लीला भूमि है। इसके एक-एक कणमें मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रियाका ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणके रूपमें देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्वको पश्चिम क्यों समझ रहे हो? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो? यह सब मेरे युगलस्वरूपकी क्रीड़ा है। जिसे जगत्के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्टरूपमें देखते हैं, उसके भीतर, उसके गुह्यतम प्रदेशमें, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी, एकरस रासलीला हो रही है।' भगवान् चुप हो गये। मेरी आँखें जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना शरीर, जगत्, एक-एक सङ्कल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीलासे परि-पूर्ण हो रही थी। न जाने कितनी देरतक यही लीला देखता रहा। अन्तमें मैंने देखा युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेके लिए झुका तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगलमें उसी वृक्षके नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखोंने चकित होकर कुछ दूरतक देखा तो सामनेसे गेरुए वस्त्रसे अपना शरीर ढके हुए, हाथमें कमण्डलु लिये परमहंसजी आ रहे थे!

•

• • •

नाम और प्रणाम

नर्मदाका पावन तट। सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दनके पश्चात्का समय। नर्मदाकी लहरोंमें चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियोंका कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति महात्मा तटके पास ही एक शिलाखण्डपर बैठकर ध्यानमग्न हो रहे हैं। शान्तिका साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासुने आकर उनके चरणोंका स्पर्श किया। महात्माजीकी आँखें कुछ खुलीं, मुखपर मन्द-मन्द मुसकराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा, शान्तिसे बैठ जाओ।' युवकने आज्ञापालन किया।

क्षणभर ठहरकर महात्माजीने कहा—'बेटा! बोलो, क्या पूछना चाहते हो?'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं आपकी आज्ञाओंके अतिरिक्त और जानता ही क्या हूँ कि प्रश्न करूँ। मेरे तो लोक-परलोक, ईश्वर-परमेश्वर—सब आप ही हैं। आप सबके सम्मान, सबकी पूजाका उपदेश करते हैं, इसलिए करता हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्वके आप ही परम प्रमाण हैं। आप जो उचित समझिए, उपदेश कीजिए।'

महात्माजी—'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। फिर भी जब साधक साधनामें लगता है तब उसके सामने कितनी ही कठि-नाइयाँ आती हैं, कितनी ही स्थितियाँ प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। मनको एकाग्र करनेकी चेष्टा करते ही उनके सामने अनेक प्रकारके लुभावने दृश्य उपस्थित होते हैं। उनके सम्बन्धमें

प्रश्न किये बिना काम नहीं चलता। प्रश्नसे मालूम हो जाता है कि यह साधक अन्तर्मुख हो रहा है या नहीं, अथवा इसकी अन्तर्मुखता किस श्रेणीकी है। इसके प्रश्नमें विवाद, कौतूहल, जिज्ञासा अथवा श्रद्धाका भाव है, इस बातका पता चल जाता है। यदि अधिकारका पता चले बिना ही कोई बात कही जाती है तो वह साधकके चित्तपर बैठती नहीं। ऊँचे अधिकारकी बात वह ग्रहण नहीं कर सकेगा और नीचे अधिकारकी बातमें रुचि नहीं होगी। इसीसे शास्त्रमें निषेध है कि 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'—'विना पूछे किसीको न बतलाये।' आजकल लोग वर्षोंतक अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, पढ़ते हैं और कहते हैं; परन्तु अधिकारके अनुरूप न होनेके कारण उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता : इसलिए अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारके प्रकाशके लिए अपने हृदयकी बात अवश्य पूछनी चाहिए।'

जिज्ञासु—'भगवन्, महात्मा लोग तो स्वयं ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होते हैं। वे बिना पूछे भी सब कुछ जानकर अधिकारके अनुसार उपदेश कर देते हैं।'

महात्माजी—'वैसे तो सर्वज्ञ, शक्तिमान् एवं परम दयालु परमात्मा सबके हृदयमें ही बैठे हुए हैं; परन्तु उनसे भी प्रार्थना करनी पड़ती है। यद्यपि वे सबको स्वीकार किये हुए हैं, फिर भी उस स्वीकृतिसे न जीवके दुःखकी निवृत्ति होती है और न तो सुख-शान्तिका अनुभव ही होता है। 'उन्होंने स्वीकार कर लिया'—इस भावका उदय आत्मनिवेदन करनेके पश्चात् ही होता है। इसी प्रकार यद्यपि महात्मा पुरुष सबके कल्याणका ही उपदेश किया करते हैं; फिर भी यह उपदेश मेरे लिए है, इस बातका निश्चय प्रश्नसे

ही होता है। यदि बिना पूछे ही किसी उपदेशको ऐसा मान लिया जाय कि यह मेरे लिए है तो आगे चलकर यह शङ्का हो सकती है कि 'शायद वह उपदेश मेरे लिए रहा हो या न रहा हो।' अपने मनकी मान्यतापर विश्वास कर लेना खतरेसे खाली नहीं है; क्योंकि मनकी गति अनिश्चित है। इसलिए अपने सम्बन्धमें प्रश्न करके सर्वदाके लिए पक्का निश्चय कर लेना चाहिए। देखो, शास्त्रमें यह बात स्पष्ट रूपसे आती है कि एक बार भगवन्नामके उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरणसे परम पदकी प्राप्ति हो जाती है। यथा—

यन्नामैकं कर्णमूलं प्रविष्टं
वाचान्विष्टं चेतनासु स्मृतं वा।
दग्ध्वा पापं शुद्धसत्त्वात्तदेहं
कृत्वा साक्षात् संविधत्तेऽनवद्यम्॥

(सात्वततन्त्र, नवम पटल श्लो० ५८)

'भगवान्के एक नामके श्रवण, उच्चारण अथवा स्मरणसे समस्त पाप भस्म हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। केवल नामके सम्बन्धमें ही नहीं, नमस्कारके सम्बन्धमें भी ऐसी बात आती है कि जिसने एक बार भी भगवान्को नमस्कार कर लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वेदान्त-शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा जाता है कि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है, बद्धता एक भ्रम है। यद्यपि मुक्ति इतनी सरल, सुगम और नित्य प्राप्त है, फिर भी उसके सम्बन्धमें निश्चय न होनेके कारण जीव भगवद्विमुख और विषयपरायण हो रहा है। यह उसके निश्चयकी न्यूनता है। यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। किसी दूसरेके लिए कोई दूसरा निश्चय कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। इतना ही

साधकका पुरुषार्थ है। फिर तो उसके जीवनसे साधनकी धारा फूट पड़ती है; उसका चलना-फिरना, हँसना-बोलना—सब साधनरूप हो जाता है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, आपने अभी नाम और नमस्कारकी महिमा बतलायी है। नामकी महिमा तो कई बार सुननेको मिलती है। आप कृपा करके 'नमः'की महिमा बतलाइये।'

महात्माजी—'वास्तवमें नाम और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द **'नम् प्रह्वत्वे'** धातुसे बनते हैं। 'प्रणाम' शब्दोंमें तो 'प्र' उपसर्गयुक्त 'नाम' ही है। और वास्तवमें 'नाम' और 'नमः' दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। साधकोंकी तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं—एक तो वह जो भगवान्से अर्थ, भोग अथवा मोक्षको प्रार्थना करता है। उसके लिए भगवान् साधन हैं और अर्थादि वस्तु साध्य है। दूसरी श्रेणीके वे हैं जो अर्थ, धर्म, क्रिया, मोक्ष आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें अन्य सब कुछ साधन है और भगवान् साध्य हैं। ये पहली श्रेणीके साधकोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। तीसरी श्रेणीके साधक वे हैं, जो साधन औरे साध्य दोनों ही रूपोंमें भगवान्के दर्शनकी चेष्टा करते हैं और दर्शन करते हैं। ये साधक तो भगवद्रूप ही हैं। इनमें श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि श्रेणियोंका भेद नहीं है। इन्हें शरणागत, भगवत्प्रपन्न आदि नामोंसे कहा जाता है। वास्तवमें भगवान्के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; इसलिए यह साधना, यह भाव, यह स्थिति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है। इसीसे 'नाम' और 'नमः' दोनों भगवद्रूप हैं। इस स्थितिमें नमस्कर्ता, नमस्कार्य, नमः-शब्द, नमः-क्रिया, नमः-भाव और नमः-का ज्ञान एक ही पदार्थ हैं। और नमस्कारकी यही सर्वोत्तम स्थिति है।'

● ● ●

जिज्ञासु—'भगवन्, नमस्कारका स्वरूप क्या है ?'

महात्माजी—'प्रत्येक शब्दके तीन भाव होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। जहाँ वह शब्द कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रयुक्त होता है अथवा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा क्रियामें उतरता है, वहाँ उसका स्थूल भाव है। जैसे वाणीसे 'नमस्कार' करना, शरीरसे दण्डवत् करना। इस क्रियासे अपनी नम्रता प्रकट होती है। जिसको नमस्कार किया जा रहा है वह अवस्थासे, जातिसे, गुणसे, श्रेष्ठ है; उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठताकी स्वीकृति ही नमस्कार-क्रियाका स्थूल अर्थ है। इस क्रियाके साथ श्रेष्ठताकी सीमा बनी रहती है—यह माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं इत्यादि। जहाँ यह क्रिया भगवान्के प्रति प्रयुक्त होती है, वहाँ उनकी असीम श्रेष्ठता मनमें आती है। इससे नियोज्य-नियोजकभावकी स्फूर्ति होती है। शरीर, मन और वाणीसे उनकी आज्ञाका पालन हो; मेरा रोम-रोम उनके इशारेपर नाचता रहे, उनके अनुकूल क्रिया हो, उनकी सेवा हो, उनके प्रतिकूल अथवा सेवासे रहित कोई भी क्रिया न हो। इस प्रकार नमस्कार-क्रियाके द्वारा अनुकूलताका सङ्कल्प और प्रतिकूलताके वर्जनका भाव दृढ़ होता है; अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिता और अल्पसुखताका भान होता है और भगवान्के पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण सुखका चिन्तन होने लगता है। इस समय यही निश्चय होता है कि वे अंशी हैं, मैं अंश; वे शेषी हैं, मैं शेष; वे सेव्य हैं, मैं सेवक। वे ही मेरे रक्षक हैं, हमेशासे रक्षा करते आये हैं और करेंगे। मैं उनकी शरणमें हूँ। इस प्रकारके भावका उदय 'नमः' शब्दका सूक्ष्म अर्थ है।

'बेटा! जीव अज्ञानके कारण अनादिकालीन वासनासे विजड़ित होकर क्रिया, भावनाकी प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिमें

अपनेको स्वतन्त्र मानने लगता है और स्थिति, भाव, क्रिया एवं पदार्थोंपर ममत्व कर बैठता है। इसकी निवृत्तिसे ही अर्थात् अहङ्कारमूलक स्वातन्त्र्य और ममताके नाशसे ही भगवत्प्राप्ति होती है। 'नमः' पदमें ममता और अहङ्कारकी निवृत्ति ही भरी हुई है। ये अहङ्कार और ममता मेरे नहीं हैं, इस प्रकारकी वृत्तिका उदय होनेपर 'नमः' पदके सूक्ष्म अर्थका साक्षात्कार होता है। 'म' का अर्थ है अहङ्कार और ममता, 'न' का अर्थ है उनका अभाव। नमस्कारका सीधा अर्थ है—'हे प्रभो! जिन वस्तुओंको भूलसे मैं अपनी मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ।' शास्त्र कहते हैं—

अनादिवासनाजातैर्बोधैस्तैस्तैर्विकल्पितैः ।
रूषितं यद्दृढं चित्तं स्वातन्त्र्यस्वत्वधीमयम् ॥
तत्तद्वैष्णवसार्वात्म्यप्रतिबोधसमुत्थया ।
नम इत्यनया वाचा नन्त्रा स्वस्मादपोह्यते ॥

(अहिर्बुध्न्यसंहिता ५२।३०-३१)

अनादिकालीन वासनाओंसे भिन्न-भिन्न प्रकारको व्यावहारिक ज्ञानोंका उदय हुआ करता है। उनके दृढ़ संस्कारसे चित्तमें अपनी स्वतन्त्रता और स्वत्वका भाव जम जाता है। सब कुछ भगवान्का ही है—इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञानका विरोधी परमार्थिक ज्ञान उदय होता है, तब उसी भावको लेकर 'नमः' इस पदका उच्चारण होता है, इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने पूर्वोक्त दोनों भावोंको निकाल फेंकता है। तब नमस्कारका अर्थ क्या है?—अहङ्कार और ममताको निकाल फेंकना। इनके निकलते ही भगवद्भावकी अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोमसे उसका अनुभव होने लगता है। तब अपना अन्तः

करण, शरीर एवं सारा जगत् भगवान्का और भगवन्मय दीखता है। यह 'नमः' पदकी स्थिति है और यही उसका परम अर्थ है। तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जीवका जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूपसे स्फुरित होने लगता है। भगवान्की कृपाकी, प्रेमकी, तत्त्वज्ञानकी और समाधिकी यही स्थिति है। यह 'नमः' पदके उच्चारणमात्रसे प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, इसके सम्बन्धमें कोई अनुभव सुनाइये !'

महात्माजी—'एक बार मैं अपने गुरुदेवके सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थनाकी—गुरुदेव, आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है ? वही करवा दीजिये न ? गुरुदेवने कहा—अच्छी बात, करो। संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्के चरणोंमें अर्पित हैं। वे सदासे अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान्की हैं, इस ज्ञानसे वह निवृत्त हो गया न ? मैंने कहा—निवृत हो गया। उन्होंने पूछा—अच्छा, यह शरीर किसका ? मैंने कहा—उनका। गुरुदेवने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी ? मैंने कहा—मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अबतक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा—इतने से ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। 'मैंने समर्पण किया'—यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता। समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित और अगृहीत वस्तुके सम्बन्धमें होते हैं। भगवान्के लिए वैसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मनमें जो असमर्पित, अगृहीतकी भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुम स्वयं अपने-आपको समर्पित करो। मैंने कहा—

यह मैंने अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित किया। गुरुदेवने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावनाका कर्ता कौन है ? मैंने कहा—मैं। उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ ? तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावनाको बदल भी सकते हो। इसलिए 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञानकी अभी पूर्णतः निवृत्ति नहीं हुई। देखो ! तुम, मैं और सब कुछ— जो कुछ था, है और होगा—सब भगवान्‌को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। समर्पणक्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावनाके कर्तृत्वको मिटा दो। वास्तवमें मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है। देखो, देखो, तुम्हारा देखना भी तो नहीं है।' गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थितिमें प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुखका समुद्र देखा, शान्तिका साम्राज्य देखा और ज्ञानका असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञानका नाम तो इस समयकी दृष्टिसे है। वस्तुतः परमात्माके स्वरूपमें सुख-शान्ति और ज्ञान कहनेके लिए भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मासे एक हो गया। वह नमस्कारकी वास्तविक स्थिति थी।'

जिज्ञासु—'फिर आपकी वह स्थिति बदली या नहीं ? वहाँसे उठनेपर गुरुदेवने क्या आदेश दिया ?'

महात्माजी—'वह स्थिति तो एकरस है। वह स्मृति-विस्मृति जीवन-मरण, सबमें एक-सी रहती है। उसमें विक्षेप और समाधि एक हैं। वह कुछ भी नहीं है और वही सब कुछ है। थोड़ी देरके बाद अब मुझे बाह्य ज्ञान हुआ, तब गुरुदेवने कहा— जाओ; अब तुम अपने जीवनके द्वारा; मन, वाणी और शरीरके

द्वारा निरन्तर भगवान्की आराधना, उनके नामका जप करते रहो। भगवान्की आराधना, क्या है?

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥

(प्रपन्नपारिजात)

'अन्तःकरणमें राग-द्वेष न हो; वाणीमें असत्य, कटुता आदि न हो और शरीरसे हिंसा आदि न हो—यही भगवान्की आराधना है।' मैं तभीसे भगवान्की इच्छाके अनुसार नर्मदा-तटपर रहता हूँ, उनके इच्छानुसार कृष्ण-कृष्णका जप करता रहता हूँ। सब ओर भगवान्के ही दर्शन हो रहे हैं।'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणोंमें ही नमस्कार करता हूँ। आपके श्रीचरणोंकी प्राप्ति ही मेरे लिए भगवत्-प्राप्ति है।' नर्मदाजी अनवरत बह रही थीं, चन्द्र आकाशके मध्यभागकी ओर आ रहे थे, लहरें लहरा रही थी, हवा चल रही थी और जिज्ञासु महात्माजीके चरणोंपर गिरकर भगवत्स्पर्शका आनन्द ले रहा था।



सत्सङ्ग

'हाय पैसा ! हाय पैसा !' की करुण चीख कानोंका परदा फाड़े डालती है। भला यह भी कोई मनुष्यता है ! जिसका सब कुछ होना चाहिए मनकी शान्तिके लिए, भगवान्‌को प्रसन्नताके लिए; वही मानव आज कौड़ी-कौड़ीके लिए दर-दर भटक रहा है। कहीं क्षणभरके लिए भी तो उसे शान्ति मिल जाती ! बाबाने आगे कहा—'परन्तु यह सब किसलिए ? जिस सुखके लिए यह परिश्रम किया जा रहा है, उसे पानेके पहले ही यदि पागल हो गये, सदाके लिए चल बसे तो वह किस काम आयेगा ? उससे कौन-सी साध पूरी होगी ? भैया ! सच्ची बात तो यह है कि जगत्‌की सारी सम्पत्ति भी मनकी एक क्षणकी शान्तिकी तुलनामें कुछ भी नहीं है।'

बाबा बोलते गये—'तुम महात्मा लीलातीर्थंको तो जानते हो न ? वे जब डाक्टरी पढ़ रहे थे, उनका नाम था रामहरि। उस समय कालेजमें लड़कियों और लड़कोंमें बड़ी चख-चख चल रही थी। एक दिन किसी लड़कीसे कालेजकी कोई वस्तु नष्ट हो गयी। लड़कियोंने एक मतसे उसकी जिम्मेवारी रामहरिपर थोप दी। अधिकारीने रामहरिको बुलाया और जब रामहरिने न उस अपराधको स्वीकार किया, न अस्वीकार, तब उसने उनपर पचास रुपया जुर्माना कर दिया। उन्होंने चुपचाप जुर्मानेकी रकम दाखिल कर दी। लड़कोंने इकट्ठा होकर रामहरिकी इस चुप्पीका विरोध किया और कहा कि 'तुम

इसकी अपील करो। हम लोग यह बात प्रमाणित कर देंगे कि तुमने वह वस्तु नष्ट नहीं की थी, वह काम अमुक लड़कीका था। तुम्हारे रुपये वापस मिल जायँगे।' रामहरिने कहा—'आप लोगोंका कहना ठीक है। यदि दस-पाँच दिनतक प्रयत्न किया जाय, प्रमाण इकट्ठे हों, सोच-विचारकर काम हो तो मेरे पचास रुपये लौट सकते हैं। परन्तु पचास रुपयोंके लिए मैं अपने मनको इतने समयतक बेचैन नहीं रखना चाहता। प्रमाणित करनेकी चिन्ता, तरह-तरहकी बन्दिशें और व्यर्थका उद्वेग मोल लेकर मैं पचास रुपये नहीं चाहता। जब लोग भोजनके लिए, वस्त्रके लिए, झूठमूठकी बनावट, शान-शौकत और आमोद-प्रमोदके लिए हजारों रुपये पानीकी तरह बहा देते हैं तब मैं अपने मनको बेचैन होनेसे बचानेके लिए पचास रुपयोंका त्याग कर दूँ, इसमें क्या बुरा है? रुपये गये तो गये, मेरा मन तो शान्त रहेगा न?' रामहरिकी इस बातका लड़कों-पर तो प्रभाव पड़ा ही, लड़कियाँ भी प्रभावित हुए बिना न रहीं। उन्होंने पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी, पचास रुपये लौटा दिये और उनका आपसका मन-मुटाव हमेशाके लिए मिट गया। इसका यह अर्थ नहीं कि धन कोई चीज ही नहीं है। वह एक उत्तम वस्तु है, परन्तु है मनकी शान्तिके लिए। मनको शान्त रखते हुए ही उसे कमाओ, भोगो और छोड़ दो। उसके कमाने, भोगने या त्यागनेमें मनकी शान्ति न खो बैठो। उसके द्वारा तुम्हारी सेवा होनी चाहिए, तुम उसके सेवक नहीं हो।'

मैंने पूछा—'बाबा, आप जो बात कह रहे हैं, वह धनियोंके लिए भले ही उपयोगी हो, उससे भला गरीबोंको क्या सन्तोष हो सकता है?'



बाबाने कहा—'तुम तो पागलपनकी बात करते हो। गरीब कौन और धनी कौन? गरीब और धनी शरीरके आसपास रुपयोंके ढेर रहने या न रहनेसे नहीं होते! भगवान्‌की वस्तुको भ्रमवश अपनी समझकर अभिमान कर बैठना 'धनी' होना है और भगवान्‌की वस्तुको अपनी बनाकर अभिमानी बननेके लिए ललकते रहना 'गरीब' होना है। भगवान्‌के राज्यमें न कोई धनी है, न गरीब; सब उनके द्वारा निर्दिष्ट अभिनयको पूर्ण कर रहे हैं। धनको अपना मानना या अपना बनानेकी चेष्टा करना यही भूल है। एक कथा सुनो।'

एक था भिक्षुक। उसका यह नियम था—जिस दिन जो कुछ मिल जाय उसको उसी दिन खा, पी, पहनकर समाप्त कर देना। प्रायः उसे प्रतिदिन आवश्यकताके अनुसार भिक्षा मिल जाया करती थी। एक दिन उसे उसकी जरूरतसे ज्यादा एक पैसा मिल गया। वह सोचने लगा—इसका क्या उपयोग करूँ? उसने उस पैसेको अपने चीथड़ेकी खूँटमें बाँध लिया और एक पण्डितके पास गया। भिक्षुकने पण्डितजीसे पूछा—महाराज! मैं अपनी सम्पत्तिका क्या सदुपयोग करूँ? पण्डितजीने पूछा—तुम्हारे पास कितनी सम्पत्ति है—? उसने कहा—एक पैसा! पण्डितजी चिढ़ गये। उन्होंने कहा—'जा-जा, तू एक पैसेके लिए मुझे परेशान करने आया है।' सच पूछो तो वे उस पैसेका महत्त्व नहीं समझते थे। वह भिक्षुक निराश नहीं हुआ। कई पण्डितोंके पास गया। कहीं हँसी मिली तो कहीं दुत्कार! किसी सज्जनने बताया कि 'अजी यह तो सीधी-सी बात है। किसी गरीबको दे डालो।' अब वह भिक्षुक गरीबकी तलाशमें चल पड़ा। उसने अनेक भिखारियोंसे यह प्रश्न किया कि 'क्यों जी? तुम गरीब हो?' परन्तु एक पैसेके लिए किसी भिखारीने

गरीब बनना स्वीकार नहीं किया। जो मिलता उसीके पास दो-चार पैसेकी पूँजी इकट्ठी मिलती। भिक्षुक अभी गरीबकी खोजमें लगा ही हुआ था कि उसे कहीं मालूम हुआ—अमुक देशके राजा अमुक देशपर चढ़ाई करने जा रहे हैं। उसने लोगोंसे पूछा 'वे क्यों चढ़ाई कर रहे हैं?' लोगोंने बताया—धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए। भिक्षुक मन-ही-मन सोचने—लगा अवश्य ही वह राजा बहुत गरीब होगा। तभी तो धन-सम्पत्तिके लिए मार-काट, लूटपीट और बेईमानीकी परवाह न करके धावा बोल रहा है। इसलिए मैं अपनी पूँजी उसे दे दूँ। जो धनके लिए दूसरेके साथ बेईमानी, छल-कपट, धोखा और बलात्कार कर सकता है वास्तवमें वही सबसे बड़ा गरीब है।

भिक्षुकने देखा—राजा साहबकी सेना सज-धजकर उनका जय-जयकार बोलती हुई आगे बढ़ रही है। राजा साहबकी सवारी भी बड़ी शानके साथ पीछे-पीछे चल रही है। पहाड़ी मार्ग था, भिक्षुक एक झाड़के नीचे दुबक गया। जिस समय राजा साहबकी सवारी उसके पाससे गुजरने लगी, वह खड़ा हो गया और झटपट अपने चीथड़ेमें-से पैसा निकालकर राजा साहबके हाथपर डाल दिया। उसने कहा कि 'मुझे बहुत दिनोंसे एक गरीबकी तलाश थी। आज आपको पाकर मेरा मनोरथ पूरा हो गया, आप मेरी पूँजी सम्हालिये।' राजा साहबने अपनी सवारी रोकवा दी। फौजका आगे बढ़ना रोक दिया गया! राजासाहबके पूछनेपर भिक्षुकने अपनी कहानी—परेशानी और विचारकी बात कह सुनायी। राजा साहबपर भिक्षुककी कहानीका इतना असर पड़ा कि उन्होंने धावा बोलनेका इरादा बदल दिया और सारी फौजके

सामने यह बात कबूल की कि किसीकी वस्तु बेईमानी, छल-कपट या बलात्कारसे लेना गरीबीका ही लक्षण है। नीतिकारोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः?

'गरीब वह है, जिसका लालच बढ़ा-चढ़ा है मन सन्तुष्ट हो तो धनी-गरीबका कोई भेद नहीं। महल चाहे जितना बड़ा हो सोनेके लिए केवल साढ़े तीन हाथ ही जगह चाहिए।'

बाबाने कहा—'तुमने सुना होगा कि एक गरीब भिखमङ्गा जाड़ेके दिनोंमें तीन हाथकी चद्दर ओढ़े ठिठुर रहा था। जब मुँह ढकता तो पैर नंगे हो जाते, जब पैर ढकता तो मुँह नंगा हो जाता। चद्दर बढ़ तो सकती नहीं, वह परेशान था। उधरसे एक मस्त महात्मा आ निकले। उन्होंने उसकी परेशानी देखकर कहा—'अरे मूर्ख! अगर चद्दर नहीं बढ़ सकती तो क्या तू छोटा नहीं हो सकता?' भिखमंगेकी समझमें बात आ गयी, उसने अपना पैर सिकोड़ लिया। अब उसका सारा बदन चद्दरके नीचे था। लालचको जितना बढ़ाओ उतना बढ़े, जितना घटाओ उतना घटे। जब तुम शारीरिक आरामके लिए इतना उद्योग करते हो तब क्या मानसिक सुख-शान्तिके लिए लालच भी नहीं छोड़ सकते? इसीने तो गरीब और धनीका भेद पैदा किया है। इसके मिटते ही सब एक-से हो जाते हैं और सभी वस्तुओंको भगवान्‌की दी हुई समझकर उनका उपयोग करते समय परम सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं।'

मैंने पूछा—'बाबा, जब कभी ऐसा जान पड़ता है कि मैं किसीका कृपापात्र बनकर उसकी दी हुई वस्तुओंका उपयोग

कर रहा हूँ तब उपकारके भारसे दब जाता हूँ और ऐसे अवसरोंपर दबावके कारण उसके कहे बिना भी अपने मनके विपरीत काम करने लगता हूँ—यह समझकर कि इसीमें उसकी प्रसन्नता और भलाई है।'

बाबा हँसे। उन्होंने कहा—'जबतक मेरा-तेरा, इसका-उसका भेद बना है तबतक ऐसा ही होता है। यह सब मनकी खुराफात है, कमजोरी है। भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन कृपालु है? भगवान्‌के सिवा और किसने कौन-सी वस्तु दी है? उसके उपकारके अतिरिक्त और किसका उपकार है? मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ कि यदि तुम भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीकी कृपा स्वीकार करोगे, और किसीपर विश्वास करोगे तो दुःख पाओगे। आज नहीं तो दस दिन बाद सही, दर-दर ठोकर खाकर भगवान्‌की शरणमें आना ही पड़ेगा। तुम्हारे मनपर किसीका प्रभाव क्यों पड़ता है? क्या भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई ऐसी शक्ति है, जो तुम्हारे मनपर दबाव डाल सकती है?'

'परन्तु तुम्हारा कहना भी सच है। मनुष्य जिसके पास रहता है, जिसका खाता है, जिसके उपकारोंको स्वीकार करता है उसका कुछ-न-कुछ असर जरूर पड़ता है। परन्तु वह असर ही तो उसके असरसे बाहर निकालता है, भगवान्‌की शरणमें ले जाता है। सुनो! मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।'

'एक थे साधु। बड़े विरक्त, बड़े मस्त, बड़े मौजी। शायद वे पंजाबके रहनेवाले थे। वे जब मस्तीके साथ गाँवमें घूमनेके लिए निकलते तो कहते-फिरते 'कहीं कब्र है, कब्र!' लोग उनका अभिप्राय नहीं समझते और बड़े आश्चर्यमें पड़ जाते कि ये महात्मा हर समय कब्र-कब्र क्यों रटा करते हैं? उसी गाँवमें

एक बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान् सेठ रहते थे। एक दिन अचानक उनकी समझमें महात्माजीकी बात आ गयी। जिस समय महात्माजी 'कहीं कब्र है, कब्र' कहते हुए रास्तेमें चल रहे थे, सेठजी आकर खड़े हो गये और मुस्कराते हुए बोले—'कहीं मुर्दा है, मुर्दा ?' महात्माजीने अपने शरीरकी ओर संकेत किया और कहा 'यह मुर्दा है।' सेठजीने अपने मकानकी ओर इशारा किया और कहा 'यह कब्र है।' महात्माजी मकानमें घुस गये और बारह वर्षतक उससे बाहर नहीं निकले। सेठने अपनी ओरसे उनकी सेवामें कोई कोर-कसर नहीं की।'

'तेरहवें वर्षमें सेठजीके घरमें डाका पड़ा। लुटेरोंने उनकी अधिकांश सम्पत्ति लूट ली और भाग चले। महात्माजीने सोचा कि 'मैंने बारह वर्षतक इस सेठका अन्न खाया है, इसकी सेवा स्वीकार की है। इस समय कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे सेठका माल मिल जाय। उन्होंने लुटेरोंका पीछा किया। लुटेरोंने पुलिससे छिपानेके लिए सारा माल एक कूएँमें डाल दिया और अपने-अपने घर चले गये। महात्माजीने अपनी लँगोटी फाड़कर उस कूएँपर एक निशान बना दिया, पुलिसको खबर दे दी। सारा धन मिल गया। गाँवके लोग महात्माजीके इस कार्यकी प्रशंसा करने लगे। सेठजी बड़े विचारवान् पुरुष थे। उन्होंने सोचा कि जो महात्मा अपनेको मुर्दा समझकर कब्रमें रहनेके लिए आये थे, वे इस प्रकार व्यवहार करें यह कहाँतक उचित है ? हो-न-हो उनका वैराग्य कुछ ठंडा पड़ गया है। सेठजीने महात्माजीके पास जाकर बड़ी नम्रतासे पूछा—'भगवन् ! मुर्दा सच्चा या कब्र सच्ची ?' महात्माजी की आँखें खुल गयीं। अपनी सारी स्थिति उनके सामने नाच गयी। उन्होंने देखा कि उपकारोंके भारसे मैं कितना दब गया

हूं। उन्होंने कहा—'भाई कब्र सच्ची, मुर्दा झूठा।' इसके बाद महात्माजी वहाँसे चले गये और फिर जीवनभर उन्होंने कभी किसीके घर दो बार भिक्षा नहीं ली। वे एक गाँवमें भी दो दिन नहीं रहते थे। बाबाने आगे कहा—'भाई! यदि तुम्हें किसीका उपहार स्वीकार ही करना हो तो केवल भगवान्‌का करो। दूसरोंसे सम्बन्ध जोड़ते ही बँध जाना पड़ता है।'

मैंने पूछा—'बाबा, ऐसा दृढ़ निश्चय हो कैसे?'

बाबा—'दृढ़ निश्चयके लिए समय और अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। निश्चय तो केवल एक क्षणमें होता है। जबतक निश्चय होनेमें देर होती है तबतक यही समझना चाहिए कि तुम निश्चय करनेमें हिचकिचा रहे हो, वैसा करनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं है। इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूँ।'

'गङ्गातटपर भेरियाके पास ही एक वेसवाँ नामक ग्राम है वहाँ एक ब्राह्मण-दम्पत्ती निवास करते थे। दोनों बड़े सदाचारी और भगवत्प्रेमी थे। वे सन्तों, शास्त्रों और भगवान्‌पर बड़ा विश्वास रखते थे। दोनोंके हृदयमें सत्सङ्गका संस्कार था। एक बार ब्राह्मण बीमार हुआ और ऐंसा बीमार हुआ मानो उसकी मौत होनेवाली हो। ब्राह्मण-पत्नीने अपने पतिकी मरणासन्न स्थिति देखकर सोचा कि अब तो ये इस लोककी लीला समाप्त करनेवाले ही हैं। कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे इनका परलोक बने। उन दिनों उस गाँवमें एक दण्डी संन्यासी आये हुए थे। ब्राह्मण-पत्नीने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि आप मेरे पतिको आतुर संन्यास दे दीजिये, जिससे इनका कल्याण हो जाय। पहले तो स्वामीजीने बहुत मना किया, परन्तु फिर ब्राह्मणकी मरणासन्न दशा देखकर संन्यास दे दिया।

उस समय ब्राह्मण बेहोश था, इसलिए उसे अपने संन्यास-ग्रहणकी बात मालूम नहीं हुई।'

'संयोगकी बात, कुछ ही दिनोंमें ब्राह्मण स्वस्थ हो गया। ब्राह्मणी शक्तिभर अपने पतिकी सेवा करती, परन्तु स्पर्श नहीं करती। अपनी पत्नीका यह ढंग देखकर ब्राह्मणने पूछा—'प्रिये ! तुम इतने प्रेमसे मेरी सेवा करती हो, परन्तु अलग-अलग क्यों रहती हो ?' पत्नीने कहा—'भगवन् ! आपको मरणासन्न समझकर मैंने संन्यास-दीक्षा दिलवा दी। अब मैं आपके स्पर्शको नहीं, केवल सेवाकी अधिकारिणी हूँ।' ब्राह्मणने कहा—'अच्छा, तो मैं संन्यासी हो गया ? अब एक घरमें रहना और काठकी बनी स्त्रीकी सेवा स्वीकार करना भी मेरे लिए पाप है।' वह ब्राह्मण उसी क्षण घरसे निकल पड़ा और विधिवत् संन्यास-दीक्षा लेकर वेदान्तके स्वाध्याय तथा ब्रह्मचिन्तनमें अपना समय व्यतीत करने लगा।'

'वर्षोंके बाद हरिद्वारमें कुम्भका मेला लगा। ब्राह्मण-पत्नी भी स्नान करनेके लिए वहाँ गयी। जब उसे मालूम हुआ कि मेरे पतिदेव यहीं संन्यासीके वेषमें रहकर संन्यासियोंको वेदान्तका अध्यापन करते हैं तब वह भी कुछ स्त्रियोंके साथ उनका दर्शन करनेके लिए गयी। स्वामीजीका नाम था ज्ञानाश्रम, वे उस समय संन्यासियोंमें वेदान्तका प्रवचन कर रहे थे। उनके दोनों हाथ एक दूसरेके नीचे बँधे हुए थे और सिर सीधा था। अपनी पत्नीको देखते ही उन्होंने कहा—'अरे, तू यहाँ आ गयी ?' स्त्रीके मुँहसे अचानक निकल पड़ा—'स्वामीजी ! क्या अबतक आप मुझे भूल न सके ?' उसी क्षण स्वामीजीका सिर नीचे झुक गया। हाथ बँधा-का-बँधा रह गया। उसके बाद स्वामी ज्ञानाश्रमजी तीस वर्षतक जीवित रहे। परन्तु न

तो उनका सिर हिला और न तो हाथ खुले। शौच, स्नान, भोजन भी दूसरोंके करानेसे ही करते। उनके मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकला। एक बार विधर्मियोंने उनकी पीठमें बर्छा भोंक दिया, उनके गुह्य स्थानमें लकड़ी डाल दी, फिर भी वे ज्यों-के-त्यों रहे। जब वहाँके ताल्लुकेदारको इस बातका पता चला और उन्होंने विधर्मियोंके घर जलानेकी आज्ञा दे दी, तब उनके हाथोंका बन्धन खुला और उन्होंने हाथ उठाकर मना किया। परन्तु फिर उनका वह हाथ जीवनभर उठा ही रहा, गिरा नहीं। उनका एक क्षणका निश्चय जीवन-पर्यन्त ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहा। बड़े-बड़े विघ्न और अड़चनें उन्हें उनके निश्चयसे विचलित नहीं कर सकीं।

निश्चय कैसे हो, यह प्रश्न मत करो। निश्चय करो। उस निश्चयके पीछे अपने जीवनको बलिदान कर दो। माना कि ऐसा निश्चय करनेसे तुम्हारे स्त्री-पुत्रोंको कष्ट हो सकता है, धन नष्ट हो सकता है और शरीरकी मृत्यु हो सकती है। परन्तु एक आध्यात्मिक जिज्ञासुके लिए इन वस्तुओंका कोई मूल्य नहीं है। इन वस्तुओंके बदलेमें तुम्हें अन्तःकरणकी अनन्त सम्पत्ति श्रद्धा, विश्वास, तितिक्षा, वैराग्य, समता, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होगी। क्या इस अन्तरङ्ग सम्पत्तिके लिए तुम बहिरङ्ग वस्तुओंका त्याग नहीं कर सकते? करना पड़ेगा और अवश्य करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक साधकका यही भाग्य है। जिसके जीवनमें कोई महानिश्चय नहीं है, जिसके जीवनकी शैली, साधना और साध्य सुनिश्चित नहीं है, वह साधक नहीं है, मनुष्य नहीं है और भगवत्प्राप्तिका अधिकारी भी नहीं है।'

मैंने पूछा—'बाबा तब करना क्या चाहिए?'

बाबाने हँसते हुए पूछा—'कब करनेके लिए पूछ रहे हो,

आजके लिए, कलके लिए या दूसरे जन्मके लिए ? यदि तुम्हें इस बातका पता नहीं कि तुम इस समय क्या कर रहे हो तब आगेके लिए कर्तव्यका ज्ञान तुम्हारे जीवनमें उतर भी सकेगा, इसका क्या प्रमाण है ? देखो, इस समय तुम क्या कर रहे हो ? जिस समय तुम्हारी दृष्टि इतनी पैनी हो जायगी कि अपने वर्तमान जीवनको, कर्म और वृत्तिको देख सको, उसी समय तुम स्थूल शरीर और संसारकी उलझनोंसे ऊपर उठ जाओगे और सारा-का-सारा पसारा तुम्हारे एक सङ्कल्पके रूपमें मालूम पड़ेगा। तुम इस समय जैसे स्थूल शरीरकी प्रवृत्तियोंमें उलझ रहे हो, वैसे ही अपने आत्मिक जीवनकी पहेलियोंमें उलझ जाओ। शरीरके कर्तव्यकी नहीं, मनके कर्तव्यकी जाँच करो।'

एक बार प्रेम-भूमि श्रीवृन्दावनमें यमुनाजीके पवित्र तटपर कुछ साधु बैठे हुए थे। उनकी धूनी जल रही थी और वे भंडारे-भंडारेकी चर्चामें मग्न हो रहे थे। उसी समय एक अछूत वहाँ आया और साधुओंके सामनेवाले घाटपर ही स्नान करने लगा। साधुओंसे यह बात सहन न हुई। एकने उठकर जलती हुई लकड़ीसे उसपर प्रहार किया और बुरा-भला कहने लगा। अछूत कुछ बोला नहीं। यद्यपि वह एक बार स्नान कर चुका था, फिर भी वह वहाँसे थोड़ी दूर हटकर दुबारा स्नान करने लगा। उसका यह काम देखकर साधुओंके मुखियाको कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने जाकर पूछा—'क्यों भाई, तुम दुबारा स्नान क्यों कर रहे हो ?' अछूतने कहा—'महाराज, मैं शरीरसे तो अछूत हूँ ही, आप लोगोंके घाटपर स्नान करके मैंने अपराध भी किया, परन्तु मैं अपने मनको अछूतपनेसे अलग रखता हूँ। जिस साधुने मुझे मारा वह क्रोधावेशमें था, इसलिए उसका मन अछूत हो गया था। उसके अछूत मनका असर

मेरे मनपर न पड़ जाय, इसलिए मैंने दुबारा स्नान किया है। क्योंकि क्रोध भी तो एक अछूत ही है न?' साधुओंके मुखिया अवाक् रह गये, अपने अन्तर्जीवनपर वह इतनी पैनी दृष्टि रखता है, यह जानकर उनकी उसपर बड़ी श्रद्धा हुई।'

'जो अपने जीवन, सङ्कल्प और कर्मोंपर वर्तमानमें ही दृष्टि रखता है, वह न केवल अपने जीवनको देखता है, बल्कि सम्पूर्ण जगत्‌के कर्म और उनके महाकर्ता भगवान्‌को भी देखने लगता है। जगत् एक लीला है और इसके लीलाधारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। लीला और लीलाधारी दोनोंको देखते रहना, इस दर्शनके आनन्दमें मग्न रहना, यही भक्तका स्वरूप है। ज्ञानीका भी यही स्वरूप है। उसकी साक्षिता यहीं जाकर पूर्ण होती है। ज्ञानी और भक्त दोनों ही कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे अलग हैं और दोनों दृष्टि महाकर्ता, महाभोक्ता भगवान्‌पर लगी रहती है। यह कोई परोक्ष विश्वास नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन है। तब क्या करना चाहिए, यह प्रश्न कहाँ बनता है? जो करना चाहिए वह भगवान् कर रहे हैं। शरीरको, संसारको, व्यष्टि और समष्टि मनको, जो कुछ वे कराते हैं, करने दो। तुम शान्त रूपसे उनकी लीलाकी तरङ्गोंको शुद्ध चिन्मय रूपमें देखा करो, वे तुम्हारे लिए सब कुछ तो कर रहे हैं।'

वृन्दावनकी एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। एक ग्वालिन अपने बाखलसे गौओंका गोबर उठा-उठाकर बाहर ले जा रही थी। परन्तु कोई दूसरा आदमी न होनेके कारण वह अधिक परिमाणमें नहीं उठा पाती थी और इसके लिए चिन्तित हो रही थी कि कहीं इस काममें ज्यादा देर लग गयी तो मैं अपने प्यारे श्यामसुन्दरको समयसे नहीं देख पाऊँगी। वह चाहती थी कि कोई और आ जाय तो मैं अपने सिरपर अधिकसे-अधिक गोबर

उठवाकर अपना काम झटपट खतम कर दूँ। उसी समय श्रीकृष्णने पहुँचकर कहा कि 'अरी गोपी, मुझे नेक माखन दे दे।' गोपीने कहा—'यहाँ बिना काम किये तो कुछ मिलनेका नहीं।' श्रीकृष्णने कहा—'क्या काम करूँ?' गोपीने कहा—'तुम गोबरकी खाँची उठाकर मेरे सिरपर रख दिया करो।' श्रीकृष्णने पूछा—'तब तू मुझे कितना माखन देगी?' गोपीने कहा—'जितनी खाँची उठा दोगे, उतने लोंदे।' श्रीकृष्णने कहा—'परन्तु ग्वालिन, इसका निर्णय कैसे होगा कि मैंने कितनी खाँचियाँ उठायीं?' गोपी बोली—'प्रत्येक खाँची उठानेपर गोबरकी एक बिन्दी तुम्हारे मुँहपर लगा दिया करूँगी।' श्रीकृष्णने वैसा ही किया। उसका विशाल ललाट और सुकोमल कपोल गोबरकी बिन्दियोंसे भर गया। गोपीने उनकी अञ्जलि माखनके लोंदोंसे भर दी। श्रीकृष्णने कहा—'अरी ग्वालिन; नेक मिश्री तो दे दे।' गोपीने कहा—'कन्हैया, इसके लिए तुम्हें नाचना पड़ेगा।' श्रीकृष्ण नाचने लगे। स्वर्गके देवता आकाशमें स्थित होकर श्रीकृष्णकी यह प्रेम-परवशता देख रहे थे। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। सचमुच श्रीकृष्ण प्रेम-परवश हैं। वे अपने प्रेमियोंके लिए छोटी-मोटी, ऊँची-नीचा सब प्रकारकी लीलाएँ करते ही रहते हैं। तुम स्वर्गके देवता हो। तुम भगवान्‌के पार्षद, उनके निज जन हो। तुम अपनेको स्थूल शरीर मत समझो। अपने दिव्यरूपमें स्थित होकर आकाशमें स्थित दिव्य देवताओंके समान लीला और लीलाधारीको देखते रहो। तुम किसीके बन्धनमें नहीं हो, किसीके अधिकारमें नहीं हो, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हो। जगत्‌का करुणक्रन्दन, यह चीख, यह आर्तनाद तुम्हारा स्पर्शतक नहीं कर सकता। सचमुच तुम्हारा ऐसा ही स्वरूप है। तुम ऐसे ही हो। •

• • •

सद्गुरु और शिष्य

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।'

जन्म-जन्मके सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्थामें आते हैं कि उनपर आकर्षणके रूपमें भगवत्कृपाका प्रभाव पड़ सके तब मनुष्यके अन्तःकरणमें यह लालसा होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिए साधन करना चाहिए। सत्संग, सद्विचार और सच्छास्त्रके आधारपर इस लालसाको उज्जीवित एवं उद्दीप्त करना चाहिए। कहीं प्राचीन असत्कर्मोंकी संस्कारधारा आकर इसको दबा न दे, इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। ऐसे शुभ अवसर जीवनमें बहुत कम आते हैं। परन्तु इस स्थितिमें यह एक बहुत बड़ी कठिनाई सामने आती है कि कौन-सा साधन किया जाय। साधारण साधकको अपने पूर्व जन्मको प्रवृत्तियों और वर्तमान अधिकारका तो पता होता नहीं, इतनी मँजी हुई बुद्धि भी नहीं होती कि वह अधिकारके अनुसार साधनाका चुनाव कर सके। इसी समय बहुत-से साधक किसी भी साधनकी प्रशंसा सुनकर उन्हें करने लग जाते हैं; परन्तु अपनी ही बुद्धिसे निश्चित होनेके कारण उसपर उनका दृढ़ विश्वास नहीं हो पाता। वे जब कभी कहीं दूसरे साधनकी प्रशंसा सुनते हैं तब उनका मन विचलित हो जाता है और वे अपने वर्तमान साधनको त्रुटिसे युक्त समझकर दूसरा शुरू कर देते हैं। यह एक प्रकारसे साधनका व्यभिचार है। परन्तु जिसका विवाह ही

नहीं हुआ उसके सतीत्वका क्या प्रश्न ? यह निश्चित है कि दस वर्ष जप करनेपर भी उस मन्त्रके विषयमें यदि कभी आपके मनमें संशयका उदय हुआ तो समझना चाहिए कि अभी आप वहीं हैं, जहाँ दस वर्ष पहले थे; क्योंकि आपने अनधिकार उस मार्गपर चलना प्रारम्भ किया है जिसमें न तो आपको कुछ सूझता है और न आप सही-सही अनुमान ही कर सकते हैं। आज कृष्णका ध्यान, कल शिवका ध्यान, आज द्वादशाक्षर तो कल पञ्चाक्षर, आज कैलासकी ओर तो कल कन्याकुमारीकी ओर, यह कोई साधना नहीं है। इस प्रकार कहीं भी नहीं पहुँच सकेंगे। साधनाके लिए ऐसे विश्वासकी आवश्यकता है जो आकाशसे भी विशाल हो, समुद्रसे भी गम्भीर हो, सुमेरुसे भी भारी और वज्रसे भी कठोर हो। परन्तु साधनापर ऐसा विश्वास प्राप्त कैसे हो ?

ऐसा विश्वास प्राप्त होता है तब जब साधनाका उदय हृदयके अन्तरालसे हुआ हो, उस साधनाका एक-एक अंश हृदयका स्पर्श करनेवाला हो। ऐसा तभी हो सकता है जब हृदयके आन्तरिक रहस्यको जाननेवाले और इस साधनाके द्वारा लक्ष्यतक पहुँचे हुए महापुरुषने साधकको स्पष्ट रूपसे साधनसे साध्यतकका मार्ग दिखला दिया हो। साध्य और साधकके बीचकी दूरी ही साधना है, जो एकको दूसरेके निकट पहुँचाती है। जिसे साधकके अधिकार और साध्यके स्वरूपका पता नहीं है वह साधनाको भला कैसे जान सकता है ? इसीसे सर्वज्ञ महापुरुष ही साधनाका निर्देश करनेके अधिकारी हैं। जीवका शिवसे गठबन्धन कराना साधारण पुरोहितका काम नहीं है। यदि ऐसा पुरोहित मिल जाय, मनुष्य उसे ढूँढ़ निकाले तो उसके पुरुषकारका अधिकांश वहीं समाप्त हो जाता हैं। वे ऐसा सूत्र

बाँध देते हैं, जो कभी टूटता ही नहीं। परन्तु वे पुरोहित हैं कौन ? मिलेंगे कहाँ ? मिलें भी तो उन्हें पहचाना कैसे जाय ?

वर्तमान युगको आधुनिक लोग तो उन्नतिका युग कहते हैं; परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाय तो अधःपतनका ऐसा निकृष्ट युग कभी नहीं आया था। प्रतारणा और विश्वासघात तो इस युगकी विशेष देन है। आजकल ऐसे बहुत-से लोग प्रकट हो गये हैं जो अपनेको भगवान्‌का संदेशवाहक अथवा स्वयं भगवान् बतलाते हैं। भोलेभाले साधक उनकी मीठी-मीठी बातोंमें आकर अथवा उनके रहस्यात्मक वाग्जालमें फँसकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं और 'माया मिली न राम' की कहावत चरितार्थ करते हैं। ऐसी स्थितिमें किसपर श्रद्धा की जाय ? किसकी शरणमें होकर आगेका मार्ग तय किया जाय ? कैसे यह विश्वास किया जाय कि यह मार्ग ठीक है और इसपर चलकर हम अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच सकते हैं ? ये बातें ठीक होनेपर भी श्रद्धालु और लगनवाले साधकपर लागू नहीं होतीं। उसकी दृष्टिमें संसारी सम्पत्तियोंका कोई मूल्य नहीं होता, उसकी श्रद्धा और लगनको कोई ठग नहीं सकता। वह आँख बन्द करके संसारकी ओरसे सचमुच अन्धा होकर भगवान्‌की ओर चलना चाहता है और चलता है। दूसरी बात यह है कि प्रायः वे ही लोग ठगे जाते हैं, जो दूसरेको ठगना चाहते हैं। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि अहिंसाकी शुद्ध प्रतिष्ठा होनेपर साधकके सामने पशु-पक्षीतक हिंसा नहीं कर सकते। यही बात श्रद्धावान्‌के सम्बन्धमें भी है। उसको कोई धोखा दे नहीं सकता। उसे तो केवल अपनी श्रद्धा-सम्पत्तिकी ही रक्षा करनी चाहिए।

तब क्या किसीपर यों ही श्रद्धा कर लेनी चाहिए ? कुछ

भी छान-बीन नहीं करनी चाहिए ? अवश्य करनी चाहिए और गुरु करनेके पहले तो अवश्य ही कर लेनी चाहिए। परन्तु उस छान-बीनका स्वरूप दूसरा ही होता है। गुरुदेवके नामश्रवण, दर्शन, आलाप और श्रवणमात्रसे ही प्राणोंमें शान्तिका सञ्चार होने लगता है, चिर दिनकी प्यास बुझने लगती है, घोर अतृप्तिमें भी तृप्तिका अनुभव होने लगता है। जिनकी प्रतीक्षा थी, जिनके लिए प्राण तड़फड़ा रहे थे, जिनके बिना मनुष्य अन्धेकी भाँति भटक रहा था, उन्हींके मिलनेपर हृदय शीतल न हो जाय—ऐसा नहीं हो सकता। गुरुदेवको यह सबसे बड़ी पहचान है, परन्तु यह पहचान भी सर्वसाधारणके लिए व्यावहारिक नहीं है। महापुरुष शरीर और अन्तःकरणसे ऊपर उठे रहते हैं, भगवान्‌से एक रहते हैं, इसलिए उनकी कोई व्यावहारिक पहचान होती भी नहीं। वस्तुतः वे परमार्थस्वरूप हैं। भगवान् ही गुरु और गुरु ही भगवान् हैं। यह केवल भाव नहीं है, क्योंकि परमार्थ सत्य वस्तुको परमार्थ सत्य वस्तुके सिवा और कौन दिखा सकता है ? इसीसे जन्मोंतक भटकनेके बाद जब अन्तःकरण उनके दर्शनके योग्य होता है तभी वे कृपा करके दर्शन देते हैं और अपने ज्ञान एवं शक्तिसे अपने स्वरूपमें मिला लेते हैं। जिसे परमार्थतत्त्व अथवा भगवान् कहते हैं उन्हींके मूर्तिमान् अनुग्रहका नाम गुरु है। गुरुका दीख पड़नेवाला शरीर स्थूलशरीर नहीं है, दीख पड़नेवाला रूप मनुष्यरूप नहीं है, वह तो विशुद्ध चैतन्य है। भला, इस जड़ जगत्‌में विशुद्ध चेतनके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो अज्ञानका पर्दा फाड़कर जीवको उसके स्वरूपकी उपलब्धि करा दे। राजकुमारको जो यह चिरकालसे भ्रम हो रहा है कि मैं एक दीन-हीन, कंगाल भिक्षुक हूँ, उसको उसके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान कराकर स्वपदपर

सम्राट्के रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाले गुरुदेव ही हैं। शिष्य गुरुका उत्तराधिकारी है अर्थात् गुरुका ज्ञान ही शिष्यके रूपमें अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानकी दृष्टिसे परमात्मा, गुरु और शिष्य एक हैं। इस एकत्वके बोधमें ही शिष्यकी पूर्णता है। तभी तो यह शास्त्रवाक्य सार्थक है—'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म।' इस रूपमें शिष्य उन्हें पकड़ नहीं सकता, वे स्वयं ही शिष्यके सामने प्रकट होकर अपनेको पकड़ा देते हैं।

गुरुकी महिमा केवल शिष्य ही समझ सकता है, सो भी तभी जब गुरु उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। और कोई उन्हें जान नहीं सकता, क्योंकि वे अपनेको गुप्त रखते हैं। शिष्य जानता है कि मेरे गुरुदेव सर्वत्र हैं, वे मेरे और चराचर जगत्के सम्पूर्ण रहस्योंके एकमात्र ज्ञाता हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं बड़े-बड़े देवता भी उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर अपना-अपना काम कर रहे हैं; वे परम कृपालु हैं, क्योंकि कृपापरवश होकर ही उन्होंने जीवोंके उद्धारकी लीलाका विस्तार किया है। जब वे मेरे हृदयकी बात जानते हैं, उसको पूर्ण करनेकी शक्ति रखते हैं, तब वे परम कृपालु उसे पूर्ण किये बिना रह ही नहीं सकते। यही उनका स्वरूप है। जगत्में जितने भी जीवोंका उद्धार करनेवाले महात्मा प्रकट हैं, वे सब-के-सब उन्हींके लीलाविग्रह हैं। मैं उनको प्राप्त करके धन्य हो गया हूँ, शिष्यकी यह दृष्टि कल्याणकारिणी ही नहीं कल्याणस्वरूपिणी है।

यद्यपि परमात्माके ही समान गुरुदेवके लक्षण भी अनिर्वचनीय हैं, तथापि लोकव्यवहारके लिए शास्त्रोंमें उनका वर्णन भी होता है। उन आदर्श सद्‌गुण, सद्भाव और सत्कर्मोंको देखकर, जो कि स्वभावसे ही सद्‌गुरुमें होते हैं, साधक अपने जीवनका निर्माण करता है और मुमुक्षु उन्हें महापुरुषके रूपमें

पहचानकर उनकी शरण ग्रहण करता है। महापुरुषोंके लिए तो लक्षणोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं हुआ करती। उनका वर्णन केवल साधकोंके लाभार्थ ही होता है। सद्गुरु कैसा होना चाहिए, इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

'मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः।
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः।
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः॥

(शारदातिलक २.१४२-१४४)

जो कुलीन हो, सदाचारी हो, जिसकी भावनाएँ शुद्ध हों और इन्द्रियाँ वशमें हों, जो समस्त शास्त्रोंके सार उपासनाके रहस्यको जानता हो, जो परोपकारमें रसका अनुभव करता हो समस्त शास्त्रोंके तात्पर्यस्वरूप ब्रह्मको जानता हो, जप और पूजा आदिमें संलग्न हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शान्ति जिसे कभी न छोड़ती हो, जो वेद और वेदार्थका पारदर्शी हो, योग-मार्गमें जिसकी पूर्ण प्रगति हो, जो हृदयके लिए देवताके समान सुखकर हो, तथा और भी अनेक गुण जिसमें स्वभावसे ही निवास करते हों, वही शास्त्रसम्मत गुरु है।

गुरुमें अर्थात् जिसे हम गुरु बनाना चाहते हैं, चार प्रकारकी शुद्धि होनी आवश्यक है—आनुवंशिक शुद्धि, क्रियागत शुद्धि, मानस शुद्धि, और विशुद्ध चैतन्यमें स्थितिरूप परम शुद्धि। जो जानता बहुत है, परन्तु करता कुछ नहीं, किया कुछ नहीं, उससे साधकको साधनामें दृढ़ और स्थिर होनेकी शिक्षा नहीं मिल सकती। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं हैं वह दूसरेको

जितेन्द्रिय होनेकी शिक्षा नहीं दे सकता; यदि दे भी तो उसकी सुनेगा कौन ? इसलिए गुरु ऐसा ही बनाना चाहिए, जो सिद्ध होनेपर साधक हो और इसीसे गुरुमें उपर्युक्त लक्षणोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें ये लक्षण दीखते हैं उनमें स्वाभाविक ही श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा करनी नहीं पड़ती, होती है। जिसमें श्रद्धा हो, उसमें भगवान्‌का दर्शन और वहाँसे प्रवाहित होनेवाले भागवत ज्ञानका स्वीकार ही गुणकरण है।

जबतक हम गुरुको भगवान्‌के रूपमें नहीं देख पाते, उनसे प्रवाहित होनेवाले भागवत ज्ञानको नहीं स्वीकार करते और उनकी प्रत्येक क्रिया हमें लीलाके रूपमें नहीं मालूम होने लगती, तबतक गुरुकरण नहीं हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। जबतक गुरु गुरु नहीं हुए हैं, तबतक चाहे जो समझ लीजिये। गुरु होनेके पश्चात् उन्हें भगवान्‌से नीचे कुछ भी समझना पतनका हेतु है। इस भागवत स्वरूपमें वे ही एक हैं, जगत्‌के और जितने भी गुरु हैं वे मेरे गुरुके लीलाविग्रह हैं, सर्वत्र उन्हींका ज्ञान और उन्हींका अनुग्रह प्रकट हो रहा है। इसीसे शास्त्रोंमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आदिनाथो महादेवि महाकालो हि यः स्मृतः।
गुरुः स एव देवशि सर्वमन्त्रेषु नापरः॥
शैवे शाक्ते वैष्णवे च गाणपत्ये तथैन्दवे।
महाशैवे च सौरे च स गुरुर्नात्र संशयः॥
मन्त्रवक्ता स एव स्यान्नापरः परमेश्वरि।

हे महादेवि ! जो आदिनाथ महाकाल अर्थात् भगवान् शिव हैं, वही शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी मन्त्रोंके एकमात्र गुरु हैं; उनके अतिरिक्त और कोई मन्त्रदाता हो ही नहीं सकता।

मन्त्रदानके समय अथवा उसके पश्चात् जो गुरुकी मनुष्य

रूपमें प्रतीति होती है, यह तो शिष्यकी एक कल्पना है। वास्तवमें परमात्मा ही गुरु हैं। इन गुरुकी शरण और इनके कर-कमलोंकी छत्रच्छाया पाकर शिष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

आजकलका समय ही दूसरा है। पहले गुरु वर्षोंतक शिष्यको परीक्षा करते थे, तब उसे स्वीकार करते थे। परन्तु अब तो गुरुओंकी भरमार हो गयी है और जैसे बाजारमें दलाल अपनी-अपनी दूकानोंपर लानेके लिए ग्राहकोंको परेशान करते हैं, वैसे ही गुरु कहलानेवाले लोग भी अपना शिष्य होनेके लिए लोगोंको तरह-तरहसे प्रलोभित करते हैं। सिद्धान्ततः सभीको शिष्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके लिए बहुत ऊँचे अधिकारीकी आवश्यकता होती है। अशुद्ध पात्रमें अच्छी चीज रख दी जाय तो वह बिगड़ जाती है। अनधिकारी शिष्य उत्तम साधनाको सुरक्षित नहीं रख सकता। इसलिए शिष्यकी परीक्षा भी आवश्यक है। संक्षेपसे यदि कहा जाय तो जो सद्‌गुरुको परमात्माके रूपमें पहचानकर शरीर, धन और प्राण उनके चरणोंमें निवेदन करके उनके ज्ञान और सिद्धिको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वही शिष्य है—ऐसा कहना पड़ेगा। शिष्यका लक्षण शारदातिलकमें इस प्रकार कहा गया है—

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः।
अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः॥
हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्तनास्तिकः।
स्वधर्मनिरतो भक्त्या पितृमातृहितोद्यतः॥
वाङ्‌मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः।
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः॥
गुर्वाज्ञापालनार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः।
विहत्य च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा॥

दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ भक्त्या सदा शिशुः।
कुर्वन्नाज्ञां दिवारात्रौ गुरुभक्तिपरायणः॥
आज्ञाकारी गुरोः शिष्यो मनोवाक्कायकर्मभिः।
यो भवेत्स तदा ग्राह्यो नेतरः शुभकांक्षया॥
मन्त्रपूजारहस्यानि यो गोपयति सर्वदा।
त्रिकालं यो नमस्कुर्यादागमाचारतत्त्ववित्॥
स एव शिष्यः कर्तव्यो नेतरः स्वल्पजीवनः।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः॥

जो कुलीन हो और सदाचारी हो, सिद्धिके लिए तत्पर हो, वेदपाठी हो, चतुर हो और कामवासनासे रहित हो, जो समस्त प्राणियोंका हित ही चाहता हो; आस्तिक हो, नास्तिकोंका सङ्ग छोड़ चुका हो; अपने धर्ममें प्रेम रखता हो, भक्तिभावसे माता-पिताके हितमें संलग्न हो, कर्म, मन, वाणी, और धनसे गुरुसेवा करनेके लिए लालायित रहता हो, गुरुजनोंके सामने जाति, विद्या, धन आदिका अभिमान न रखता हो, गुरुकी आज्ञा पालनेके लिए मृत्युतकके लिए तैयार रहता हो, अपने काम छोड़कर भी गुरुके काममें लगा रहनेवाला हो; जो गुरुके पास दासकी भाँति निवास करता हो, शिशुके समान आज्ञा पालन करता हो और दिनरात गुरुभक्तिमें डूबा रहता हो; जो मन, वाणी, शरीर और कर्मसे गुरुकी आज्ञाका पालन करता हो वही शिष्यके रूपमें स्वीकार करने योग्य है, दूसरा नहीं। जो मन्त्र और पूजाके रहस्योंको गुप्त रखता है, त्रिकाल नमस्कार करता है और शास्त्रीय आचारके तत्त्वोंको जानता है वही शिष्यरूपसे स्वीकार करने योग्य है, दूसरा नहीं; क्योंकि जो सब गुणोंसे युक्त होता है, वही शिष्य होता है।

इन लक्षणोंके स्वाध्यायसे मालूम होता है कि शिष्यका

अधिकार कितना ऊँचा होता है। गुरुके सामने किस प्रकार रहना चाहिए इसके लिए शास्त्रोंमें कहा है—

प्रणम्योपविशेत्पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात्॥
असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि।
कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम्॥
चापलानि न जिह्मानि कार्याणि परिदेवनम्।
ऋणदानं तथादानं वस्तूनां क्रयविक्रयम्॥
न कुर्याद् गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन।

प्रणाम करके पास बैठे, आज्ञा लेकर वहाँसे जाय, उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता हुआ ही सेवा करे, आदरभावसे उनकी आज्ञाका पालन करे, झूठ न बोले, उनके सामने बहुत न बोले और काम, क्रोध, लोभ, मान, हँसी, स्तुति, चपलता, कुटिलता न करे और न रोये-चिल्लाये। कल्याणकामी शिष्यको गुरुसे ऋण लेना तथा देना और वस्तुओंका क्रय-विक्रय भी नहीं करना चाहिए।

गुरुके प्रति शिष्यके हृदयमें जितनी श्रद्धा, प्रेम और उनके महत्त्वका ज्ञान रहता है, उन्हींके अनुसार उनसे शिष्यका व्यवहार होता है। शास्त्रोंमें गुरु-महिमा और शिष्य-लक्षणका इतना विस्तार है और उनका इतना अवान्तर भेद है कि यदि संक्षेपसे भी उनका उद्धरण दिया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि गुरुके बिना उपासनामार्गके रहस्य नहीं मालूम होते और न उसकी अड़चनें दूर होती हैं। जो उपासना करना चाहता है, वह गुरुके बिना एक पग भी नहीं बढ़ सकता। गुरुसे संतोषमें ही शिष्यकी पूर्णता है। जिह्वापर 'गुरु' शब्दके आते ही वह

गद्‌गद हो जाता है। गुरुको स्मरण करनेवाली वस्तुको देखकर वह लोट-पोट होने लगता है, गुरुके स्मरणमें ही समस्त देवताओंका स्मरण अन्तर्भूत है। गुरु सबसे श्रेष्ठ हैं। गुरु साक्षात् भगवान् हैं। गुरु-पूजा ही भगवत्पूजा है। गुरु, मन्त्र और इष्टदेवता—ये तीन नहीं, एक हैं। गुरुके बिना शेष दोकी प्राप्ति असम्भव है। शिष्य अधिकारहीन होनेपर भी यदि सद्‌गुरुकी शरणमें पहुँच जाय तो वे उसे अधिकारी बना लेते हैं। पारसका स्वभाव ही लोहेको सोना बनाना है। इसलिए जिनके हृदयमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, जो वास्तवमें साधना करना चाहते हैं, उनके लिए श्रीगुरुदेवकी शरणमें जाना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

दीक्षा और अनुशासन

'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत् ।'

श्रीगुरुदेवकी कृपा और शिष्यकी श्रद्धा, इन दो पवित्र धाराओंका सङ्गम ही दीक्षा है। गुरुका आत्मदान और शिष्यका आत्मसमर्पण एककी कृपा और दूसरेकी श्रद्धाके अतिरेकसे ही सम्पन्न होता है। दान और क्षेप—यही दीक्षाका अर्थ है। ज्ञान, शक्ति और सिद्धिका दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्र्यका क्षय—इसीका नाम दीक्षा है। सभी साधनों के लिए यह दीक्षा अनिवार्य है। चाहे जन्मोंकी देर लगे; परन्तु जबतक ऐसी दीक्षा नहीं होगी, तबतक सिद्धिका मार्ग रुका ही रहेगा। यदि समस्त साधनोंका अधिकार होता, यदि साधनाएँ बहुत नहीं होतीं और सिद्धियोंके बहुत-से स्तर न होते तो यह सम्भव था कि बिना दीक्षाके ही परमार्थकी प्राप्ति हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं है। इस मनुष्य शरीरमें कोई पशु-योनिसे आया है और कोई देव-योनिसे, कोई पूर्वजन्ममें साधनासम्पन्न होकर आया है और कोई सीधे नरककुण्डसे; किसीका मन सुप्त है और किसीका जागरित; ऐसी स्थितिमें सबके लिए एक मन्त्र, एक देवता और एक ध्यान हो ही नहीं सकते। यह सत्य है कि सिद्ध, साधक, मन्त्र और देवताओंके रूपमें एक ही भगवान् प्रकट हैं; फिर भी किस हृदयमें, किस देवता और मन्त्रके रूपमें उनकी स्फूर्ति सहज है—यह जानकर उसी रूपमें उनको स्फुरित करना, यह दीक्षाकी विधि है।

• • •

दीक्षा एक दृष्टिसे गुरुकी ओरसे आत्मदान, ज्ञानसञ्चार अथवा शक्तिपात है तो दूसरी दृष्टिसे शिष्यमें सुषुप्त ज्ञान और शक्तियोंका उद्बोधन है। दीक्षासे ही शरीरकी समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देहशुद्धि होनेसे देवपूजाका अधिकार मिल जाता है। 'सद्गुरु और शिष्य'—शीर्षक निबन्धमें यह बात कही गयी हैं कि वास्तवमें गुरु एक हैं और उन्हींसे चारों ओर शक्तिका विस्तार हो रहा है। यदि परम्पराकी दृष्टिसे देखें तो मूल पुरुष परमात्मासे ही ब्रह्मा, रुद्र आदिके क्रमसे ज्ञानकी परम्परा चली आयी है और एक शिष्यसे दूसरे शिष्यमें संक्रान्त होकर वही वर्तमान गुरुमें भी है। इसीका नाम सम्प्रदाय है और गुरुके द्वारा इसी अविच्छिन्न साम्प्रदायिक ज्ञानकी प्राप्ति होती है। क्योंकि मूलशक्ति ही क्रमशः प्रकाशित होती आयी है। उससे हृदयस्थ सुप्त शक्तिके जागरणमें बड़ी सहायता मिलती है और यही कारण है कि कभी-कभी तो जिनके चित्तमें बड़ी भक्ति है, वे भी भगवत्कृपाका उतना अनुभव नहीं कर पाते जितना कि शिष्यको दीक्षामें होता है।

दीक्षा बहुत बार नहीं होती; क्योंकि एक बार रास्ता पकड़ लेनेपर आगेके स्थान स्वयं ही आते रहते हैं। पहली भूमिका स्वयं ही दूसरी भूमिकाके रूपमें पर्यवसित होती है। साधनाका अनुष्ठान क्रमशः हृदयको शुद्ध करता जाता है और उसीके अनुसार सिद्धियोंका उदय एवं ज्ञानका सान्निध्य भी प्राप्त होता जाता है। ज्ञानकी पूर्णता ही साधनकी पूर्णता है। शिष्यके अधिकार-भेदसे ही मन्त्र और देवताका भेद होता है। जैसे सद्वैद्य रोगका निर्णय होनेके पश्चात् ही औषधका प्रयोग करते हैं, रोगनिर्णयके बिना औषधका प्रयोग निरर्थक है, वैसे ही साधकके लिए मन्त्र और देवताके निर्णयमें भी होता है। यदि

रोगका निर्णय ठीक हो, औषध और उसका व्यवहार नियमित रूपसे हो, रोगी कुपथ्य न करे तो औषधफल प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार साधकके लिए उसके पूर्वजन्मकी साधनाएँ, उसके संस्कार, उसकी वर्तमान वासनाएँ जानकर उसके अनुकूल मन्त्र और देवताका निर्णय किया जाय और साधक उन नियमोंका पालन करे तो वह बहुत थोड़े परिश्रमसे और बहुत शीघ्र ही सिद्धि-लाभ कर सकता है।

जिस प्रकार ज्योतिष शास्त्रमें वर-वधूके सम्बन्धका निर्णय करनेके लिए नाड़ी, मैत्री, भकूट आदिका विचार करना पड़ता है, वैसे ही मन्त्र और देवताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है। ऋणी-धनी, नक्षत्र, राशि, कुलाकुल, सिद्धारि चक्रोंका विचार दूसरे लेखका विषय है। यहाँ संक्षेपसे दीक्षाके भेद-प्रभेद-पर लिखा जाता है।

सामान्यतः दीक्षाके तीन भेद माने जाते हैं—शाक्ती, शाम्भवी, और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही रुद्रयामल आदि ग्रन्थोंमें आणवीके नामसे प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षाका विवरण करते हुए कहा गया है कि परम चेतनरूपा कुण्डलिनी ही शक्ति है। उसको जागरित करके ब्रह्मनाड़ीमें-से होकर परम शिवमें मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षामें श्रीगुरुदेव शिष्यके अन्तर्देहमें प्रवेश करके कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करते हैं और अपनी शक्तिसे ही उसको मिला देते हैं। इसमें शिष्यको अपनी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं करनी पड़ती।

शाम्भवी दीक्षाका विवरण वायवीय संहितामें इस प्रकार मिलता है—'श्रीगुरुदेव अपनी प्रसन्नतासे दृष्टि अथवा स्पर्शके द्वारा एक क्षणमें ही स्वरूप-स्थित कर देते हैं।' रुद्रयामलमें कहा गया है कि भगवान् शम्भुके चरण-द्वयसे सम्भूत दीक्षा ही शाम्भवी



दीक्षा है। चरणद्वयका अर्थ है—शिव और शक्ति दोनोंके चरण, सहस्रदल कमलकी कर्णिकापर चन्द्रमण्डलकी सुधाधारासे आप्लावित उन चारों चरणोंका चिन्तन करना चाहिए। तीन गुणोंके द्योतक हैं एवं चौथा निर्वाण तथा परमानन्दस्वरूप है। उनके वर्ण शुक्ल, रक्त, मिश्र एवं वर्णातीत हैं। गुरुकी दृष्टिमात्रसे शिष्यका सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ होकर कृतकृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा अथवा आणवी दीक्षा मन्त्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदिसे सम्पन्न होती है। इसमें गुरुदेव शिष्यको मन्त्रोपदेश करते हैं। उपर्युक्त दोनों दीक्षाओंसे तत्काल सिद्धि प्राप्त हो जाती है; परन्तु मान्त्री दीक्षासे उसका अनुष्ठान करनेपर क्रमशः सिद्धिलाभ होता है। फल सबका एक ही है। सभी साधक शक्तिपातके पात्र नहीं हो सकते। मान्त्री दीक्षासे शक्तिपातकी पात्रता प्राप्त होती है और मन्त्रदेवतात्मक शक्तिसे सिद्धि भी प्राप्त होती है।

कहीं-कहीं आणवीदीक्षाके दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री, और अभिषेचिका।

स्मार्तीदीक्षा, जब गुरु और शिष्य दोनों भिन्न-भिन्न देशमें स्थित हों, तब होती है। गुरु शिष्यका स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापोंका विश्लेषण करके उन्हें भस्म कर देता है और उन्हें पुनः दिव्य पुरुषकी सृष्टि करके भूतशुद्धिमें वर्णित लययोगके क्रमसे उसे परम शिवमें स्थित कर देता है। मानसीदीक्षाका प्रचार भी स्मार्तीदीक्षाके समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि स्मार्तीदीक्षामें शिष्य और गुरु पास-पास नहीं रहते और मानसीदीक्षामें दोनोंकी उपस्थिति रहती है।

यौगीदीक्षा उसे कहते हैं, जिसमें यौगी गुरु योगोक्त पद्धतिसे शिष्यके शरीरमें प्रवेश करके उसकी आत्माको अपने शरीरमें लाकर एक कर देता है। चाक्षुषीदीक्षामें श्रीगुरुदेव 'मैं स्वयं परम शिव हूँ' ऐसा निश्चय करके करुणार्द्र दृष्टिसे शिष्यकी ओर देखते हैं। इतनेसे ही शिष्यके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं और वह दिव्यत्वको प्राप्त हो जाता है। स्पार्शिकीदीक्षाका विधान यह है कि गुरु पहले अपने दाहिने हाथपर सुगन्ध-द्रव्यद्वारा मण्डलका निर्माण करे, तत्पश्चात् वह उसपर विधि-पूर्वक भगवान् शिवकी पूजा करे। इस प्रकार वह 'शिवहस्त' हो जाता है। 'मैं स्वयं परम शिव हूँ' यह निश्चय करके श्रीगुरुदेव असन्दिग्ध चित्तसे शिष्यके सिरका स्पर्श करते हैं। उस 'शिवहस्त'-के स्पर्शमात्रसे शिष्यका शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है। वाचिकीदीक्षामें गुरुदेव पहले अपने गुरुका चिन्तन करते हैं। अपने मुखको उनका मुख समझकर शिष्यके शरीरमें न्यासादि करके विधि-विधानके साथ मन्त्रदान करते हैं। मान्त्रिकीदीक्षामें गुरुदेव स्वयं अन्तर्न्यास, बहिर्न्यास आदि करके मन्त्र-शरीर हो जाते हैं और अपने शरीरमें-से शिष्यके शरीरमें मन्त्रका संक्रमण चिन्तन करते हैं। हौत्रीदीक्षामें पहले कुण्डमें या वेदीपर अग्निस्थापन होता है। वहाँ षडध्वाका संशोधन करके होमसे ही दीक्षा सम्पन्न होती है। षडध्वाका संशोधन दूसरे लेखका विषय है। शास्त्रीदीक्षा सामग्रीसे सम्पन्न नहीं होती। भगवत्-पूजाके प्रेमी, भक्त, सेवापरायण शिष्यको उसकी योग्यताके अनुसार शास्त्रीय पदोंके द्वारा दीक्षा दी जाती है। अभिषेचिका-दीक्षाका प्रकार यह है कि पहले गुरुदेव एक घटमें शिव और शक्तिकी पूजा करते हैं, फिर उसके जलसे शिष्यका अभिषेक करते हैं। यही अभिषेचिकादीक्षा है। ये सब शक्तिपातके प्रकारभेद हैं।

• • •

शारदापटलमें दीक्षाके चार भेदोंका विस्तारसे वर्णन है। वे चार भेद हैं—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती और वेधमयी। क्रियावतीदीक्षामें कर्मकाण्डका पूरा उपयोग होता है। स्नान, सन्ध्या, प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, पूजा, शङ्खस्थापन आदिसे लेकर शास्त्रोक्त पद्धतिसे हवनपर्यन्त कर्म किये जाते हैं। षडध्वाके शोधनक्रमसे पृथक्-पृथक् आहुति देकर शिवमें विलीन करके पुनः सृष्टिक्रमसे शिष्यका चैतन्ययोग सम्पादित्त होता है। गुरु शिष्यसे अपनी एकताका अनुभव करता हुआ आत्मविद्याका दान करता है। गुरु-मन्त्र प्राप्त करके शिष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

वर्णमयीदीक्षा न्यासरूपा है। अकारादि वर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक हैं। शरीर भी प्रकृति-पुरुषात्मक होनेके कारण वर्णात्मक ही है। इसलिए पहले समस्त शरीरमें वर्णोंका सविधि न्यास किया जाता है। श्रीगुरुदेव अपनी आज्ञा और इच्छा-शक्तिसे उन वर्णोंको प्रतिलोमविधिसे अर्थात् संहार-क्रमसे विलीन कर देते हैं। यह क्रिया सम्पन्न होते ही शिष्यका शरीर दिव्य हो जाता है और गुरुके द्वारा वह परमात्मामें मिला दिया जाता है। ऐसी स्थिति होनेके पश्चात् श्रीगुरुदेव पुनः शिष्यको पृथक् करके दिव्य शरीरकी सृष्टिक्रमसे रचना करते हैं। शिष्यमें परमानन्दस्वरूप दिव्य भावका विकास होता है और वह कृत-कृत्य हो जाता है।

कलावतीदीक्षाकी विधि निम्नलिखित है। मनुष्यके शरीरमें पाँच प्रकारकी शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। पैरके तलवेसे जानुपर्यन्त निवृत्तिशक्ति है, जानुसे नाभिपर्यन्त प्रतिष्ठा-शक्ति है, नाभिसे कण्ठपर्यन्त विद्या-शक्ति है, कण्ठसे ललाटपर्यन्त शान्ति-शक्ति है, ललाटसे शिखापर्यन्त शान्त्यतीत कला-शक्ति है। संहार क्रमसे

पहलीका दूसरीमें, दूसरीका तीसरीमें और अन्ततः कलाको शिवसे संयुक्त करके शिष्य शिवरूप कर दिया जाता है। पुनः सृष्टि-क्रममें इसका विस्तार किया जाता है और शिष्य दिव्य भावको प्राप्त होता है।

वेधमयीदीक्षा षट्चक्रवेधन ही है। जब गुरु कृपा करके अपनी शक्तिसे शिष्यका षट्चक्रभेद कर देते हैं, तब इसीको वेधमयी दीक्षा कहते हैं। गुरु पहले शिष्यके छः चक्रोंका चिन्तन करते हैं और उन्हें क्रमशः कुण्डलिनी शक्तिमें विलीन करते हैं। छः चक्रोंका विलयन बिन्दुमें करके तथा बिन्दुको कलामें, कलाको नादमें, नादको नादान्तमें, नादान्तको उन्मनीमें, उन्मनीको विष्णुमुखमें और तत्पश्चात् गुरुमुखमें मिला देते हैं। गुरुकी इस कृपासे शिष्यका पाश छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसे दिव्य बोधकी प्राप्ति होती है और वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह वेधमयी दीक्षा सम्पन्न होती है।

इसके अतिरिक्त एक पञ्चायतनी दीक्षा भी होती है। इसमें शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश इन पाँचोंकी पूजा होती है। पाँचोंके पृथक्-पृथक् यन्त्र बनते हैं। जिसकी प्रधानता रखनी होती है, उसको मध्यमें स्थापित करते हैं; शेष देवताओंको चार कोनोंपर। जैसे शक्तिको बीचमें स्थापित करें तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें शिव, नैर्ऋत्यमें गणेश और वायुकोणमें सूर्यकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें शङ्कर हों तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें सूर्य, नैर्ऋत्यमें गणेश और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें सूर्य हो तो ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें विष्णु और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें गणेश हो तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें शिव, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती

है। गणेश-विमर्शिनीमें कहा गया है कि क्रम-भंग करनेपर सिद्धि नहीं मिलती। गौतमीय तन्त्र और रामाचंनचन्द्रिकाके अनुसार इनमें उलट-फेर भी किया जा सकता है। सविधि पूजा करके पुष्पाञ्जलि दी जाती है। इस पञ्चायतन-पूजाकी विधि और मन्त्र गुरुसे प्राप्त होते हैं। तारा, छिन्नमस्ता आदि कुछ देवताओंकी पञ्चायतनी दीक्षा नहीं होती।

शास्त्रोंमें, विशेष करके तन्त्रग्रन्थोंमें क्रम-दीक्षाका भी वर्णन आया है। इसकी बड़ी महिमा है। इसमें शुद्धि तथा सिद्धारि चिन्तन आदिकी कोई आवश्यकता नहीं होती, यह केवल गुरु-कृपा-साध्य है। दिन, महीना अथवा वर्षके क्रमसे दीक्षा और अभिषेक होते हैं। क्रमशः साधकका अधिकार बढ़ता जाता है और वह एक दीक्षासे दूसरी दीक्षाके स्तरमें पहुँचा जाता है। इस दीक्षाकी पद्धति साधारण लोगोंके लिए उपयोगी नहीं है। इसलिए गुरु और शास्त्रके द्वारा ही इसका अधिगम प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार आम्नाय-भेदसे भी दीक्षाका भेद होता है। वैदिकदीक्षा, तान्त्रिकदीक्षा, मिश्रदीक्षा, भावदीक्षा, स्वप्न-दीक्षा, महादीक्षा, आदि अनेक प्रकारकी दीक्षाएँ हैं, जो भगवत्कृपाके फलस्वरूप अधिकारी साधकोंको प्राप्त होती हैं। बिना दीक्षा लिये कोई दीक्षाका महत्त्व जान नहीं सकता।

यह सत्य है कि वर्तमान समयमें दीक्षा एक प्रथामात्र रह गयी है। न शिष्यमें साधनाकी ओर प्रवृत्ति है और न गुरुमें साधनाकी शक्ति। फिर साधारण दीक्षाका उज्ज्वल रहस्य लोगोंकी विषयोन्मुख बुद्धिमें किस प्रकार आ सकता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अब कोई योग्य सद्गुरु है ही नहीं। जो अधिकारी पुरुष उनकी खोज करता है, उसे वे मिलते हैं और वैसी ही दीक्षा सम्पन्न होती है जैसी कि प्राचीन

समयमें होती थी। हाँ, जो लोग इतना परिश्रम नहीं करना चाहते उनके लिए साधनाकी अपेक्षा भजनकी प्रणाली अधिक सुगम है। वे आर्त्त भावसे भगवान्‌की प्रार्थना करते रहें, श्रद्धा और प्रेमसे उनका नाम लेते रहें। जिस सन्तके प्रति उनका विश्वास हो उसका सङ्ग और आज्ञापालन करते रहें। एक-न-एक दिन उनका मार्ग भी तय हो ही जायगा। यदि आवश्यकता होगी, उनका अधिकार होगा तो एक-न-एक दिन उन्हें सद्‌गुरु और दीक्षाकी प्राप्ति होगी।

दीक्षाके पश्चात् गुरु शिष्यके प्रति मर्यादाओंका उपदेश करते हैं। शास्त्रोंमें उसे 'समय' कहा गया है। 'श्रीहरिभक्ति-विलास' नामक ग्रन्थमें विष्णुयामलके चार सौ नियमोंका उल्लेख है जिनके पालनसे ही दीक्षाका पूर्ण फल मिलता है, उन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ श्रीनारदपाञ्च-रात्रके कुछ श्लोक उद्‌धृत किये जाते हैं—

स्वमन्त्रो नोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न संसदि।
गोपनीयं तथा शास्त्रं रक्षणीयं शरीरवत्॥
वैष्णवानां परा भक्तिराचार्याणां विशेषतः।
पूजनं च यथाशक्ति तानापन्नांश्च रक्षयेत्॥
प्राप्तमायतनाद्विष्णोः शिरसा प्रणतो वहेत्।
निक्षिपेदम्भसि ततो न पतेदवनौ यथा॥
सोमसूर्यान्तरस्थं च गवाश्वत्थाग्निमध्यगम्।
भावयेद्दैवतं विष्णुं गुरुविप्रशरीरगम्॥
प्रदक्षिणे प्रयाणे च प्रदाने च विशेषतः।
प्रभाते च प्रवासे च स्वमन्त्रं बहुशः स्मरेत्॥
स्वप्ने वाक्षिसमक्षं वा आश्चर्यमतिहर्षदम्।
अकस्माद् यदि जायेत न ख्यातव्यं गुरोर्विना॥

अपने मन्त्रका किसीको उपदेश नहीं करना, सभामें नहीं कहना, पूजाविधिको गुप्त रखना और इस विषयके शास्त्रकी शरीरकी भाँति रक्षा करना, वैष्णवों और आचार्योंसे विशुद्ध प्रेम रखना और उनकी पूजा करना, भगवान्‌के मन्दिरसे पुष्पमाल्यादि प्राप्त हो जाय तो उसे सिरपर धारण करना और जमीनपर न गिराकर पानीमें डाल देना, सूर्य, चन्द्रमा, गौ, पीपल, अग्नि, ब्राह्मण और गुरुजनोंमें अपने इष्टदेव भगवान्‌का दर्शन करना, प्रदक्षिणा, यात्रा एवं विदेशमें प्रातःकाल और दानके समय विशेष रूपसे बार-बार भगवान्‌का स्मरण करना, स्वप्नमें अथवा आँखोंके सामने यदि कोई आश्चर्यजनक और आनन्दायक दृश्य आ जाय तो गुरुके अतिरिक्त और किसीसे नहीं कहना।

इस प्रकार साधक-जीवनके लिए उपयोगी बहुत-सी बातें गुरु बताते हैं। शिष्य उन्हें धारण करता है और वैसे ही अपना जीवन बनाता है। उपासनाकाण्ड साधनसापेक्ष है। इसमें इष्टदेवके स्वरूप और साधन-पद्धतिके ज्ञानमात्रसे ही कल्याण नहीं होता। उनका ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना पड़ता है। जो शिष्य सद्‌गुरुसे सम्प्रदायानुगत दीक्षा प्राप्त करके उसका अनुष्ठान करता है उसको अवश्य ही सिद्धिलाभ होता है। उसकी परम्परामें कभी कोई अज्ञानी नहीं होता।

'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।'



साधकोंके कुछ दैनिक कृत्य

मनुष्य विचारप्रधान प्राणी है। यह पशुत्वसे ऊपर उठकर दिव्यत्वकी ओर जा रहा है। पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी यही विशेषता है कि पशु तो अपनी आँखोंके सामने कोई मोहकरूप देखकर उसे पानेके लिए दौड़ पड़ता है और उसके प्रलोभनमें फँसकर पीछे होनेवाली ताड़नापर दृष्टि नहीं रखता, उसे तो केवल वर्तमान सुख चाहिए। परन्तु मनुष्य किसी आकर्षक वस्तुको देखकर उसे जानता है, विचार करता है और फिर यदि वह वस्तु अपने जीवनकी प्रगतिमें सहायक हुई तो उसे जहाँतक वह अपनी उन्नतिमें बाधक न हो, स्वीकार करता है और उसका उपयोग करता है। मनुष्यकी दृष्टि क्षणिक उपभोग-सुखपर, जो कि अत्यन्त तुच्छ और क्षुद्र है, कभी मुग्ध नहीं होती। यदि मुग्ध होती है तो अभी उसका पशुत्व निवृत्त नहीं हुआ है, जो कि अबसे बहुत पहले हो जाना चाहिए था। परन्तु पूर्व संस्कारों और वर्तमान जन्मके अभ्यास और सङ्गसे जब मनुष्यकी दृष्टि तमसाच्छन्न रहती है तब उसका पशुत्व अपना काम करता रहता है और वह बुद्धिका प्रयोग न करके केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंके पीछे ही भटकता रहता है। यह पशुत्व है, जिसको नष्ट करके मनुष्यत्वको जागरित करना पड़ेगा। यह मनुष्यत्वका जागरण सहसा भी सम्पन्न हो सकता है और क्रम-विकाससे भी सम्भव है। जिनका मनुष्यत्व जागरित है, उनके मनुष्यत्वकी रक्षा और दिव्यत्वकी जागृतिके लिए तथा जिनका सुषुप्त

है, उनके पशुत्वकी निवृत्ति और मनुष्यत्वके जागरणके लिए एक ऐसे निर्दिष्ट पथकी आवश्यकता है जो केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंकी परिधिमें ही सीमित न हो प्रत्युत ज्ञानके विश्वव्यापी आलोकसे देदीप्यमान हो और जिसमें पद-पदपर दिव्यभावकी झाँकी एवं उसकी ओर अग्रसर होनेके प्रत्यक्ष निदर्शन प्राप्त होते हों। यही पथ सदाचारका पथ है, जो पाशविक प्रवृत्तियों और उच्छृङ्खल वृत्तियोंको चूर-चूर करके एक ऐसी मर्यादामें स्थापित कर देता है, जो शान्ति और आनन्दका उदय है तथा जिसके मूलमें दिव्यताकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। सदाचारका राजपथ इतना सुस्पष्ट और प्रशस्त है कि उसका विज्ञान अथवा रहस्य समझानेकी आवश्यकता नहीं होती। उसकी रूप-रेखापर एकबार दृष्टि डालते ही उसकी उत्तमता अवगत हो जाती है और जो अपने जीवनको एक निर्दिष्ट लक्ष्यपर ले जाना चाहते हैं, वे तो अवश्य ही उसका आश्रय कर लेते हैं।

हिन्दूजातिकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता इस बातकी साक्षी है कि उसकी नियमनिष्ठाने उच्च-से-उच्च आध्यात्मिक तत्त्वोंके आविष्कार, उसकी उपपत्ति और उसके सम्बन्धकी धारणाओंको क्रियात्मक रूप देनेमें सफलता प्राप्त की है और वह न केवल आध्यात्मिक योग्यतामें ही प्रत्युत शारीरिक और जागतिक प्रवृत्तियोंमें भी उन जातियोंसे बहुत ही आगे रही है, जो आजकल उन्नतिके शिखरपर प्रतिष्ठित मानी जाती हैं। आजकी परिस्थिति ऐसी है कि अधिकांश लोग यह भी नहीं जानते कि उस आचार-व्यवहारका क्या स्वरूप था, जिसके द्वारा प्राचीन कालमें समुद्र-गम्भीर बुद्धि और हिमाचलके समान अविचल एकाग्रतासे सम्पन्न होकर लोग असम्भवको भी सम्भव करनेमें समर्थ हो सके थे। वास्तवमें उन आचरणोंमें ऐसी ही क्षमता है। उनको

कोई अपने जीवनमें लाकर देखे तो सही, सारी समस्याएँ स्वयं हल हो जायँगी। वे आचरण कृत्रिम नहीं, सहज हैं। उनके पालनमें कष्ट नहीं, सुख है। वे किसीकी स्थितिके विरोधी नहीं, उन्नायक हैं। संक्षेपतः उन्हींका दिग्दर्शन करानेकी चेष्टा की जाती है।

निद्रा-त्याग

रात्रिका चौथा भाग बड़ा ही पवित्र है। उस समय प्रकृति शीतल रहती है एवं चारों ओर शान्तिका साम्राज्य रहता है। बाहरी विक्षेप कम एवं आन्तरिक अनुकूलता अधिक होनेके कारण मन सहज ही अन्तर्देशमें प्रवेश करता है। किसी भी विषयपर गम्भीरतासे विचार करनेका वह सर्वोत्तम समय है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, इसलिए शास्त्रकारोंने आदेश किया है कि मनुष्यको इस शान्त समयसे लाभ उठाना चाहिए। धर्मार्थचिन्तन और स्वास्थ्यलाभकी दृष्टिसे भी उस समय जागरण ही श्रेयस्कर है। बहुत हीं प्राचीन कालसे यह समय ब्राह्ममुहूर्तके नामसे प्रसिद्ध है। इस समयमें जागकर दिनभरके लिए उपयुक्त शक्ति और शान्तिका संग्रह कर लेना चाहिए। जो इस पवित्र समयको निद्रा, प्रमाद अथवा आलस्यवश यों ही गवाँ देता है, वह अपने लाभकी एक उत्तम सामग्री खो बैठता है। साधकोंके लिए यह बतलाया गया है कि वे रात्रिका चौथा भाग प्रारम्भ होते ही उठ बैठें और हाथ-पैर धोकर शयन-वस्त्रका परित्याग कर दें एवं आचमन करके अलग आसनपर बैठ-कर श्रीगुरुदेवका ध्यान करें। गुरुदेव स्वयं शिवस्वरूप हैं और अपनी शक्तिके साथ मस्तकस्थित सहस्रदल कमलमें विराजमान हैं। उनके नेत्रोंसे अनुग्रहकी वर्षा हो रही है, एवं उनके चरण-कमलोंकी नखछटासे एक ऐसी अमृतमयी ज्योति निकल रही

है, जो मेरे सम्पूर्ण अन्तःकरण, प्राण और शरीरमें एक महान् शक्तिका सञ्चार कर रही है। इस प्रकार श्रीगुरुदेवका चिन्तन करके इष्टदेवका ध्यान करनेके लिए उनसे अनुमति ले और अपनी साधनाके अनुसार कुण्डलिनी शक्ति अथवा इष्ट मूर्तिका ध्यान करे। ब्राह्ममुहूर्तके ध्यानमें निद्रा और आलस्यके लिए अवसर नहीं होता। मन शीघ्र ही अन्तर्मुख हो जाता है, अवश्य ही थोड़ी-सी लगन और प्रेमकी आवश्यकता है। ध्यान करते समय समस्त शारीरिक और व्यावहारिक चिन्ताओंसे मुक्त हो जाना चाहिए। भीतर-ही-भीतर मनको अपने हाथमें उठा लेना चाहिए और जबतक वह स्थिरभाव न ग्रहण करे तबतक बार-बार ले जाकर उसे इष्टदेवके चरणोंमें चढ़ाते रहना चाहिए। इस क्रियामें आनन्दका इतना अधिक अनुभव करना चाहिए कि मन स्वयं उसमें रस लेने लगे और इस स्थितिसे नीचे न उतरना चाहे।

सूर्योदय होनेमें कुछ विलम्ब हो तभी यह निश्चय करके उठना चाहिए कि 'आज मेरे जीवनकी सम्पूर्ण क्रिया, यहाँतक कि छोटे-मोटे व्यवहार भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌के लिए होंगे। मेरी किसी भी क्रियासे किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचेगा और किसी भी परिस्थितिमें मेरे चित्तमें उद्वेग, अशान्ति, क्रोध, हिंसा, द्वेष, विषाद, चिन्ता और दुःखका प्रवेश नहीं होगा। पिछले दिनोंकी अपेक्षा आज मैं अधिक शान्त, सर्वथा पवित्र रहूँगा और अत्यन्त तीव्र गतिसे अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ूँगा। आजका दिन मेरे लिए बड़ा ही मङ्गलमय है।' इस सत्सङ्कल्पके साथ ही शौच, स्नानादि आवश्यक कृत्योंके लिए यात्रा करनी चाहिए।

प्रातःकाल भगवान्‌के स्तोत्र, उनके जागरणके मङ्गलगीत,

उनके पावन नामोंका मधुर कीर्तन, हृदयस्पर्शी प्रार्थना और युधिष्ठिर, जनक, नल आदि महापुरुषोंका स्मरण, उनके नामोंका उच्चारण आदि—जैसा कि प्राचीन परिपाटीका पालन करनेवाले हिन्दू घरानोंमें आजकल भी देखा जाता है—करना चाहिए। जिसका प्रभात मङ्गलमय है, उसका सारा दिन मङ्गलमय है।

स्नान-विधि

मनुष्य-जीवनमें भोजनसे भी ऊँचा स्थान है स्नानका। यों तो भोजन भी साधनाका एक अङ्ग ही है—यदि साधनके रूपमें उसका अनुष्ठान हो; परन्तु भोजनमें तो कभी-कभी व्यवधान भी डालना पड़ता है, लेकिन स्वस्थ पुरुषके लिए ऐसा एक दिन भी नहीं है जिसमें स्नान करनेका निषेध हो। स्नानके लिए सर्वोत्तम स्थान समुद्र और गङ्गा, नर्मदा, गोदावरी आदि महानदियाँ हैं। उनके अभावमें छोटी-छोटी नदियाँ, प्राकृतिक सोते, स्वच्छ जलके ताल, सरोवर, बावली और कूएँ हैं। जिस जलकी पवित्रता सन्दिग्ध हो, जो स्वास्थ्यके लिए हानिकर, चित्तके लिए ग्लानिकर एवं अस्वच्छ हो उसमें स्नान नहीं करना चाहिए। जलके समीप शुद्ध भूमिपर अपने वस्त्र आदि स्थापित करके जलाधिष्ठात्री देवताको नमस्कार करके स्नानकी अनुमति माँगे और फिर अपने ऊपर जल छिड़ककर सङ्कल्प करे—'ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्रः अमुकनामाहं भगवत्प्रीतये अमुककार्यार्थे स्नानं करिष्ये।' इसके पश्चात् अपनी शाखोक्त पद्धतिसे वैदिक स्नान करके फिर इष्ट-मन्त्रसे अङ्गन्यास और प्राणायाम करे।

ॐ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

• • •

इस मन्त्रसे अङ्कुश-मुद्रा करते हुए ऐसी भावना करे कि सूर्यमण्डलसे साक्षात् इस तीर्थका अधिष्ठात्री देवता उतर रही है। 'वं' इस अमृत-बीजका उच्चारण करके धेनुमुद्रा करते हुए ऐसी भावना की जाय कि यह जल अमृतस्वरूप हो गया है। 'हुं' इस मन्त्रसे कवच-मुद्राके द्वारा अवगुण्ठन करके, 'फट्' इस मन्त्रसे संरक्षण करके और ग्यारह बार इष्ट-मन्त्रका जप करके अभिमन्त्रित करे। सूर्यको बारह अञ्जलि जल देकर यह भावना करे कि मेरे इष्टदेवके चरण-कमलोंसे ही यह जल निकला हुआ है, इसलिए परम पावन है। तत्पश्चात् उसमें तीन डुबकी लगावे और अपने इष्ट-देवका स्मरण करता हुआ मन्त्रका जप करे। कलश-मुद्रासे अपने सिरपर तीन बार अभिषेक करे और तत्पश्चात् वैदिक सन्ध्या और तर्पण आदि करे। सूर्यार्घ्य, अघमर्षण और तर्पण आदि क्रियाएँ तान्त्रिक विधिसे भी की जा सकती हैं। देवतर्पण, ऋषितर्पण एवं पितृतर्पण करके गुरु, परमगुरु, परात्पर गुरु और परमेष्ठिगुरुका भी तर्पण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त चाहे गंगामें स्नान करते हों या अन्यत्र, श्रीगंगाजीका ध्यान और मन्त्र-जप कर लेना चाहिए। साधारणतः एक तीर्थमें दूसरे तीर्थका ध्यान करना तीर्थापराध है, परन्तु गंगाका स्मरण अपवादस्वरूप है। गंगाका ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—'वे शुद्ध स्फटिकके समान श्वेतवर्ण हैं। श्वेत वस्त्र, श्वेत आभूषण, श्वेत पुष्पमाला और श्वेत ही मुक्तामाला धारण किये हुए हैं। उनकी अवस्था सर्वदा सोलह वर्षकी रहती है और ब्रह्मादि देवता, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनकी सेवामें संलग्न रहते हैं।' इस प्रकारका ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिए। उनका मन्त्र है—'ॐ ह्रीं

गंगायै ॐ ह्रीं स्वाहा'। उपर्युक्त ध्यान करके इस मन्त्रका जप करते हुए चाहे जहाँ भी स्नान किया जाय, गंगास्नानका फल प्राप्त होता है।

स्नान सात प्रकारके होते हैं। उनके नाम ये हैं—मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस। 'आपो हिष्ठा०' इत्यादि मन्त्रोंसे जो मार्जन होता है, उसको मान्त्र स्नान कहते हैं। शरीरमें मिट्टी लगाकर उसके प्रक्षालनको भौम स्नान कहते हैं। भस्म-स्नानको आग्नेय स्नान कहते हैं। गौओंके चरणोंकी धूलि वायुके द्वारा उड़कर आती है और सारे पापोंको धोकर शरीरको पवित्र कर देती है। यह गोरज-स्नान जब इच्छापूर्वक किया जाता है, तब इसके निमित्त-कारण वायुके नामसे इसको वायव्य स्नान कहते हैं। धूपमें होती हुई वर्षामें जो स्नान होता है, वह दिव्य स्नान है। जलमें डुबकी लगाना वारुण स्नान है और भगवान्‌का चिन्तन मानस स्नान है। मानस स्नान अपने इष्टदेवके अनुसार होता है। यहाँ उसके कुछ प्रकारविशेष लिखे जाते हैं।

वैष्णवका आभ्यन्तर स्नान इस प्रकार होता है—साधकको ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि ऊपर मेरे सामने आकाशमें द्वादशदल कमलपर, जिसके प्रत्येक दलपर द्वादशाक्षर मन्त्रका एक-एक अक्षर अङ्कित है, शङ्ख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज भगवान् विष्णु विराजमान हैं। वे वनमाला पहने हुए हैं। उनके नेत्र-कमलोंसे आशीर्वाद और प्रेमकी वर्षा हो रही है। उनके मुख-कमलसे कोटि-कोटि सूर्योंके समान प्रकाशकी किरणें चारों ओर फैल रही हैं। उनके चरणकमलोंसे अमृतकी एक धारा निकलकर मेरे सिरपर गिर रही है और मेरे ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा शरीरमें प्रवेश करके समस्त वासनाओं, संस्कारोंको धो रही

है। मेरा शरीर, अन्तःकरण और स्वयं मैं स्फटिक मणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल हो रहा हूँ।' ऐसी भावनासे जो आभ्यन्तर स्नान किया जाता है—शास्त्रोंमें कहा है कि वह मान्त्र स्नानसे भी हजारगुना उत्तम है।

शाक्तोंके आभ्यन्तर स्नानमें ऐसा चिन्तन होता है कि ज्ञानानन्दस्वरूपिणी महामाया अपने बीजाक्षर 'ह्रीं' के रूपमें प्रकट हो रही है। तीन 'ह्रीं' मेंसे सत्, चित् और आनन्दकी तीन धाराएँ प्रवाहित होकर मुझे सम्पूर्ण रूपसे आप्लावित कर रही हैं। ये धाराएँ अविच्छिन्न आनन्द, अनन्त ज्ञान और अखण्ड स्वातन्त्र्यका वितरण करती हैं। इनका अनुभव केवल भावुक साधक ही कर सकता है। जो इस प्रकार आभ्यन्तर स्नान करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

शैवोंका आभ्यन्तर स्नान इस प्रणालीसे होता है—'अपने इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम करके मूलाधारसे लेकर आज्ञाचक्र-पर्यन्त शक्तिका उत्थान और गमन सम्पन्न करके सहस्रारस्थित परमशिवके साथ उसका सङ्गम करावे। उन दोनोंके सम्मिलनसे प्रकट अमृतकी धारामें मैं स्नान कर रहा हूँ, ऐसी भावना करे।' यह शैवाभ्यन्तर स्नान सद्योमुक्तिस्वरूप है। इसी प्रकार अन्य देवताओंका भी आभ्यन्तर स्नान होता है।

जैसे पृथिवीतलमें और स्थूल ब्रह्माण्डमें गंगा, मन्दाकिनी, भोगवती आदि अनेक नदियाँ और मानस-सरोवर आदि अनेक तीर्थ, स्नानके लिए विशेष महत्त्वके माने गये हैं वैसे ही पिण्ड-ब्रह्माण्डके अत्यन्त सूक्ष्म भावराज्य अथवा मनोमय जगत्में भी स्नानके अनेक तीर्थ माने गये हैं। यह भी कहा गया है कि जो अन्तर्जगत्में तीर्थोंमें स्नान करते हैं, उन्हें बाह्य तीर्थोंमें स्नानकी विशेष अपेक्षा नहीं रहती। जगत्के सुख-

दुःख और बन्ध-मुक्तिका कारण मन ही है। जिसका मन तीर्थ-सेवी हो गया, वह समस्त गोरखधन्धोंसे छुटकारा पा गया। उदाहरणके लिए मनुष्यके हृदयमें पुष्कर तीर्थ है; शिरोभागमें बिन्दु तीर्थ है; सुषुम्णामें शिव तीर्थ है; इडा, पिंगला और सुषुम्णाका जहाँ समागम होता है वहाँ त्रिवेणी तीर्थराज है; भौंहोंके बीचमें वाराणसी है। इसी प्रकार छहों चक्रोंमें विशेष-विशेष तीर्थ हैं। उनमें जो स्नान करता है, वह स्नानमात्रसे ही समस्त पापोंसे मुक्त एवं भगवत्प्राप्तिका अधिकारी हो जाता है स्नानकी उपर्युक्त विधि शरीर, प्राण, मन, सभीकी दृष्टिसे कितनी लाभप्रद है—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

वस्त्र-धारण

वस्त्र-धारणके सम्बन्धमें यह नियम है कि यदि जलके अन्दर ही नित्यकर्म करना हो तब तो गीले वस्त्रसे ही कर लेना चाहिए, परन्तु यदि स्थलपर करना हो तो अवश्य ही सूखा वस्त्र पहन लेना चाहिए। वस्त्र शुद्ध होना चाहिए और सादा भी। नीला वस्त्र कभी नहीं पहनना चाहिए। सिले हुए, जले हुए, फटे हुए और दूसरेका (पारक्य) वस्त्र पहनकर नित्य-कर्म करनेका निषेध है।

न कुर्यात् सन्धितं वस्त्रं देवकर्मणि भूमिप।
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत्॥

यहाँ 'पारक्य' का अर्थ दूसरेका किया गया है। एक बार पण्डित श्रीपञ्चाननजी तर्करत्नने इस शब्दका अर्थ 'विदेशी' लिखा था। अर्थात् विदेशी वस्त्र पहनकर नित्यकर्म नहीं करना चाहिए। श्वेत वर्णका रेशमी वस्त्र नित्यकर्ममें तो प्रशस्त है, पर उसे पहनकर स्नान नहीं करना चाहिए। ऊनी वस्त्र मल-मूत्रके त्यागके समय नहीं पहनना चाहिए। बाकी सब समय

पहना जा सकता है। ऊनी कपड़ेकी अशुद्धि अग्निके ताप, वायु और सूर्यकी किरणोंसे ही नष्ट हो जाती है। इष्ट और कर्मोंके भेदसे भी वस्त्र-भेद होता है। इन सब बातोंका विचार करके ही वस्त्र धारण करने चाहिए। वस्त्रोंमें मल रहनेसे शरीर और चित्तपर उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए वस्त्रोंको सदा धोकर साफ रखना चाहिए। बिना धोये अथवा धोबीके यहाँ धोये हुए वस्त्र भी अपवित्र माने गये हैं। धोबीके घर धुले वस्त्रोंको फिरसे धोकर पहनना चाहिए। मैले, गन्दे और दूषित वस्त्र अस्वास्थ्य, ग्लानि आदिके कारण होनेसे भावोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक होते हैं। भगवदीय अथवा आध्यात्मिक रसकी अनुभूतिके लिए जितने भी उद्दीपन आवश्यक हैं, उनमें वस्त्र भी हैं। इसलिए इसका विचार कर लेना चाहिए।

तिलक अथवा भस्म

वस्त्रधारणके पश्चात् पूर्वमुख अथवा उत्तरमुखसे बैठकर तिलक धारण करना चाहिए। श्वेत या रक्त चन्दन, गोपी-चन्दन, कुंकुम, मृत्तिका, मलयज, बिल्वपत्र-भस्म आदिसे अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार तिलक करना चाहिए। और कुछ न हो तो जलसे ही तिलक कर लेना चाहिए। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी महिमा है। इसके द्वारा भगवान्‌की स्मृतिमें सहायता मिलती है। वैष्णवोचित तिलक देखते ही बहुत-से लोग 'जय सियाराम' 'जय श्रीकृष्ण' और भस्मके त्रिपुण्ड्र देखकर 'जय शङ्कर' आदि कहकर भगवान्‌का स्मरण करते हैं। उससे अपने हृदयमें भी बड़ी पवित्रता और आनन्दका अनुभव होता है। तिलकके रूपमें अपने इष्टदेव ही तो शरीरपर निवास करते हैं—जिसके हृदयमें इस सुन्दर भावका उदय होता है, उसकी शान्तिमें सन्देह ही क्या है? सिर, ललाट, कण्ठ, दोनों बाहुमूल,

नाभि, पीठ और दोनों बगलमें—बारह अङ्गोंमें तिलक करनेका विधान है। इनकी आकृति साम्प्रदायिक परम्परासे जाननी चाहिए। तिलक करनेका सामान्य मन्त्र है—

केशवानन्त गोविन्द वराह पुरुषोत्तम।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं तिलकं मे प्रसीदतु॥

चन्दन-धारणका मन्त्र है—

कान्ति लक्ष्मीं धृतिं सौख्यं सौभाग्यमतुलं मम।
ददातु चन्दनं नित्यं सततं धारयाम्यहम्॥

इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्व-पुण्ड्र दोनों एक व्यक्तिके लिए एक साथ निषिद्ध हैं। इसलिए दोनोंमें-से कोई एक ही करना चाहिए। इनसे शरीर और मनमें पवित्रताका विशेष सञ्चार होता है।

सन्ध्या

सन्ध्याकी विधि बहुत ही प्रसिद्ध है। यह इतनी पवित्र विधि है कि व्यावहारिक जीवनको पूर्ण बनाने, परमार्थकी ओर अग्रसर होने, पाप एवं पापजन्य ग्लानिको नष्ट करनेमें इसके समान और कोई भी कर्म नहीं है। इससे चित्तकी एकाग्रता एवं अन्तर्मुखता इस प्रकार बढ़ती है कि यदि विधिपूर्वक और भावसे कुछ दिनोंतक लगातार सन्ध्या की जाय तो बहुत ही शीघ्र परमात्मामें स्थिति हो सकती है। हम लोगोंपर बहुत ही अनुग्रह करके शास्त्रकारोंने हमारे जीवनके साथ इसको जोड़ दिया है। यह विधि इतनी प्रचलित है कि इसका उल्लेख करना पिष्टपेषणमात्र है। इसके एक-एक अङ्गका व्यष्टि और समष्टिके साथ क्या सम्बन्ध है, इसके अनुष्ठानसे उनपर क्या प्रभाव पड़ता है और यह किस प्रकार साधकको स्थूलराज्यसे भावराज्यमें और भावराज्यसे आत्मराज्यमें पहुँचाती है—इस प्रश्नका उत्तर

देनेके लिए कोई नवीन विचार नहीं करना पड़ता, युक्तियोंकी आवश्यकता नहीं होती, स्वयं अनुभूति ही सब शङ्काओंका समाधान कर देती है। सन्ध्यामें मुख्यतः दस क्रियाएँ हैं—आसनशुद्धि, मार्जन, आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण, अर्घ्यदान, सूर्योपस्थान, न्यास, ध्यान और जप। यहाँ इनका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

आसनशुद्धि—इस क्रियामें तीन बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। एक तो वह स्थान स्वभावतः पवित्र होना चाहिए—नदीतट हो, जंगल हो, मन्दिर हो अथवा पूजा करनेका स्थान हो। दूसरे, जिस आसनपर बैठा जाय वह कुश, कम्बल अथवा अन्य किसी पवित्र वस्तुका बना हो। तीसरे, बैठनेका ढंग शास्त्रीय हो अर्थात् सिद्धासन आदि आसनोंमें-से किसी आसनसे बैठा जाय। इन तीनों बातोंके विचारसे पवित्रता और एकाग्रताकी अभिवृद्धि होती है। उस समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसका अर्थ है कि 'हे माँ पृथिवी, तुम्हें विष्णुने धारण कर रक्खा है और तुमने लोगोंको। माँ, तुम मुझे भी धारण करो और यह आसन पवित्र कर दो।' इस मन्त्रकी शक्ति और भावनासे साधकको बहुत ही बल मिलता है और वह अपने साध्यकी ओर अग्रसर होता है।

सन्ध्याकी क्रियामें कई बार मार्जन करना पड़ता है। इससे शरीरमें शीतलता आती है; जलकी अधिष्ठात्री देवता आलस्य आदि वृत्तियोंको नष्ट करके शुद्ध, शान्त, सात्त्विक भावोंकी धारा प्रवाहित करती हैं। मार्जनके बहुत-से मन्त्र हैं, जिनमें कुछका अर्थ इस प्रकार है—'हे जलकी अधिष्ठात्री देवताओ, तुम सम्पूर्ण जगत्के लिए सुखकर हो। मेरे हृदयमें परम सुखरूप परमात्माको प्रकट करो। ऐसी शक्ति दो मुझे कि मैं निरन्तर

परमात्मामें ही स्थित रहूँ। तुम अपने माताके समान रसदानसे मुझे तृप्त और कृतकृत्य करो। मुझे परम रसके आस्वादनका अधिकारी बनाओ।' जलाधिष्ठात्री देवताके अनुग्रहसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन शान्त हो जाते हैं और साधक स्थिर-भावसे भगवान्‌के चिन्तनमें समर्थ होता है।

आचमनके मन्त्रोंमें ऐसी भावना है कि यह समस्त सृष्टि परमात्मासे उत्पन्न हुई है और इस सृष्टिमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो परमात्मासे शून्य हो। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि सूर्य, अग्नि आदि देवता पापोंसे मुझे बचावें और अबतकके किये हुए पाप उनके अमृत-स्वरूपमें मैं हवन करता हूँ। इस प्रकारके आचमनसे कितनी शक्ति मिलती है साधनामें—यह कहनेकी बात नहीं, अनुभव करके देखने योग्य है।

प्राणायामकी महिमा सभी जानते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धि, पाप-वासनाओंकी निवृत्ति और चञ्चलताको दूर करनेके लिए वह अद्भुत उपाय है। जिसका प्राण वशमें है, उसका मन और वीर्य भी वशमें है। सन्ध्याका प्राणायाम समन्त्रक होनेके कारण और भी लाभप्रद है और इसमें जो ध्यान हैं, वे तो मानो सोनेमें सुगन्ध हैं।

अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही वस्तु हैं। सन्ध्यामें अघ-मर्षणकी क्रिया बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी वह लाभकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है। उसका भाव समझ लेनेपर जान पड़ता है कि उसमें कितना महत्त्व है।

अर्घ्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही भगवान् सूर्यकी उपासना हैं। न्यासका एक स्वतन्त्र लेखमें अलग विचार किया गया है। संक्षिप्तरूपसे इतना समझ लेना चाहिए कि शरीरके प्रत्येक

अङ्गमें जब मन्त्र और देवताओंका स्थापन हो जाता है तब सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय, देवमय हो जाता है, 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' के अनुसार वास्तवमें तभी देवपूजाका अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान, मानस पूजा और जपके सम्बन्धमें आगे निवेदन करना है। सन्ध्याकी तैयारी है। ध्यानके पश्चात् केवल जप करना ही अवशिष्ट रह जाता है। जपकी महिमा अवर्णनीय है। जपोंमें भी गायत्री-जपके विषयमें तो कहना ही क्या है?

यह तो वैदिक सन्ध्या हुई, एक तान्त्रिक सन्ध्या भी होती है। यह विधि कुछ अप्रसिद्ध होनेसे लिखी जाती है। शाक्त सन्ध्यामें आचमनके मन्त्र निम्नलिखित हैं—

'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।'

शैव आदिकोंकी सन्ध्यामें केवल आचमन ही होता है। इसके पश्चात् 'गङ्गे च यमुने' इत्यादि स्नानविधिमें लिखे हुए मन्त्रके द्वारा तीर्थोंका आवाहन करके अपने इष्ट-मन्त्रसे कुशके द्वारा तीन बार पृथिवीपर जल छिड़के और सात बार अपने सिरपर। इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम और षडङ्गन्यास करके बायें हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे ढककर 'हं यं वं लं रं' इनसे तीन बार अभिमन्त्रित करके इष्ट-मन्त्रका उच्चारण करते हुए, गिरते हुए जलबिन्दुओंसे तत्त्वमुद्राके द्वारा सात बार अभ्युक्षण करके शेष जल दाहिने हाथमें ले ले। उसको तेजोरूप चिन्तन करके इडा नाडीसे खींचकर, देहके भीतर रहनेवाले पापको धोकर, उस जलको काले रंगका एव पापरूप देखते हुए पिंगलासे बाहर निकालकर सामने कल्पित वज्रशिलाके ऊपर 'फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके पटक दे। इसके पश्चात् हाथ धोकर आचमन करके 'ह्रीं हं सः ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः' इस मन्त्रसे सूर्यको

अर्घ्यं दे और 'ॐ सूर्यमण्डलस्थायै नित्यचैतन्योदितायै अमुक-देवतायै नमः' इस मन्त्रमें अमुकके स्थानपर अपने इष्टदेवताका नाम जोड़कर तीन बार जलाञ्जलि देनी चाहिए। यह क्रिया इष्टदेवताकी गायत्रीसे भी सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् समयोचित ध्यान करना चाहिए। प्रातःकाल ब्राह्मीका, मध्याह्नमें वैष्णवीका और सायाह्नमें शाम्भवीका ध्यान करना चाहिए। तान्त्रिक सन्ध्यामें इष्टदेवकी गायत्रीका ही जप होता है। गायत्री सबकी पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है—

विष्णु-गायत्री

त्रैलोक्यमोहनाय विद्महे कामदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

नारायण

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

नृसिंह

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नरसिंहः प्रचोदयात्।

राम

दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्।

शिव

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

गणेश

तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।

शक्ति

सर्वसम्मोहिन्यै विद्महे विश्वजनन्यै धीमहि तन्नः शक्तिः प्रचोदयात्।

लक्ष्मी

महालक्ष्म्यै विद्महे महाश्रियै धीमहि तन्नः श्रीः प्रचोदयात्।

सरस्वती

वाग्देव्यै विद्महे कामराजाय धीमहि तन्नः देवी प्रचोदयात्।

• • •

गोपाल

कृष्णाय विद्महे दामोदराय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

सूर्य

आदित्याय विद्महे मार्त्तण्डाय धीमहि तन्नो सूर्यः प्रचोदयात्।

—इत्यादि इष्टदेवताके अनुसार भिन्न-भिन्न गायत्री हैं। उनका १०८ अथवा कम-से-कम १० बार जप करना चाहिए। जपके समय सूर्यमण्डलमें अपने देवताका चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर संहारमुद्रासे देवताको अपने हृदयमें लाकर स्थापित करना चाहिए। स्नानविधिमें कहे हुए ढंगसे तर्पण भी कर देना चाहिए।

सन्ध्या और तर्पण आभ्यन्तर भी होते हैं। उनका भी यहीं उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करके उसे मूलाधारादि-क्रमसे सहस्रारमें ले जाकर परमशिवके साथ एक कर देना ही सन्ध्या है। आभ्यन्तर तर्पण भी इसी प्रकारका होता है। मूलाधारसे उत्थित चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी कुण्डलिनीको परमबिन्दुमें सन्निविष्ट करके उससे निकलते हुए अमृतके द्वारा ही देवताओंका तर्पण करना चाहिए। ऐसा भी कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रके नीचे आज्ञा-चक्रमें चन्द्रमण्डलमय पात्र है। उसको अमृतसारसे परिपूर्ण करके उसीके द्वारा इष्टदेवताका तर्पण करना चाहिए। तर्पणके अनुरूप ही ध्यानकी भी व्यवस्था है। कहा गया है कि किरणोंमें, चन्द्रमामें, सूर्यमें और अग्निमें जो ज्योति है उसको एकत्र करके केन्द्रित कर दे और फिर सबको महाशून्यमें विलीन करके पूर्ण-रूपसे स्थित हो जाय। यह निरालम्ब स्थिति ही योगियोंका ध्यान है। इसके पश्चात् पूजामण्डपमें प्रवेश करना चाहिए। पूजाकी सामग्री, पूजाकी विधि आदिपर क्रमशः विचार किया

जायगा। हिन्दू साधनाकी एक-एक क्रिया साक्षात् परमात्मासे ही सम्बन्ध रखती है और साधकको सर्वविध उन्नतिदान करनेमें समर्थ है ! विचारशील पुरुषोंको चाहिए कि वे उनपर विचार करें और उनका अनुष्ठान करें। इस प्रकार अपनी प्राचीन शक्ति और शान्तिका समुचित संग्रह करके अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ करें।

•

मानसी सेवा

जीवका सुख सहज प्रेम होता है। सभी सुख चाहते हैं। परन्तु सुखका निवास या सुखका मूर्तिमान स्वरूप क्या है इस सम्बन्धमें लोगोंकी जानकारी उलटी है। ऐसी वस्तुओं या व्यक्तियोंमें लोग सुख मान बैठते हैं जिनके सुखरूप होनेकी सम्भावना तो दूर, सुखकी छाया भी नहीं है। ऐसे पदार्थोंसे देर-सबेर दुःख ही मिलता है। किसी भी नाशवान् वस्तुसे नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि हमारा इष्ट संसारकी कोई वस्तु नहीं है। हमारा इष्ट अविनाशी सुख है—ऐसा केवल ईश्वर है। वह कृष्णके रूपमें प्रकट है। हमारे जीवनका सर्वसुख, समाधि, ब्रह्म, प्यारा एकमात्र कृष्ण है। यह साँवरा-सलोना, मोर-मुकुटवारा, पीताम्बरधारी, नन्दकिशोर ही हमारे प्राणोंका स्वामी हृदयेश्वर है—यह निश्चय हो जानेपर ही मानसी सेवा प्रारम्भ होती है।

१—शरीर, मन, स्थान और आसन पवित्र हो।

२—प्रतिदिन एक ही समय और आसन हो तो मन अच्छा लगता है।

३—संसारकी ओरसे निश्चिन्त होकर सर्वदाके लिए भगवान्‌की सेवाका सङ्कल्प करना चाहिए।

४—आसनपर बैठकर 'ॐ रं' इस मन्त्रका जप करके चारों ओर जल छिड़कना और यह भाव करना कि मेरे चारों ओर अग्निकी एक दीवार है और जबतक मैं इसके भीतर बैठकर भजन करता हूँ, कोई विघ्न नहीं आवेगा।

५—पहले यह भाव करना चाहिए कि मेरे सिरके सामने एक कमलपर मेरे इष्टदेव प्रकट हुए हैं और उनके नखसे अमृतकी धारा बह-बहकर मेरे सिरपर गिरती है। उससे बाहर-भीतर सब शुद्ध हो रहा है। मेरा शरीर दिव्य होकर भगवान्‌की सेवाके योग्य हो रहा है।

६—शेषनागके सिरपर धरती है, गोदमें विष्णुभगवान् लेटे हैं, यदि शेषनाग हिलें तो धरती हिल जाय। इसीसे वे अचल, स्थिर रहते हैं। उनकी स्थिरताका ध्यान करनेसे अपना शरीर भी स्थिर हो जाता है।

७—भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए—हे प्रभो! सब वेद, शास्त्र, पुराण, सन्त, सद्‌गुरु एवं आप भी कहते हैं कि 'ईश्वर सबके हृदयमें रहता है।' तब आप मेरे हृदयमें भी अवश्य ही हैं। तब फिर आप दिखायी क्यों नहीं पड़ते? माना कि मेरा मन आपसे विमुख रहा है और संसारकी ओर भागता-दौड़ता रहता है। तथापि अब आपकी तथा सन्त-महात्माओंकी कृपासे यह समझ गया है कि संसारमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है। इसीसे सब ओरसे उदास तथा निराश होकर आपके चरणोंकी शरणमें आया है। आप इसे अपनाइये। पाहि माम्! पाहि माम्!

८—आपके दर्शनके लिए मेरा मन मचल रहा है। आँखें तरस रही हैं। प्राण व्याकुल हो रहे हैं। ये कान आपकी मीठी-मीठी बातें सुनना चाहते हैं। ये मेरे दोनों हाथ आपके चरण-युगल पकड़कर हृदयसे लगानेके लिए उतावले हो रहे हैं। हे नाथ! हे स्वामी! प्राणेश्वर! अब अधिक न तरसाइये! कृपा कीजिये! कृपा कीजिये!! शीघ्र ही प्रकट होकर दर्शन दीजिये।

९—हे हृदयेश्वर! हे जीवन-सर्वस्व! मैं सब प्रकारसे अयोग्य हूँ, तथापि आप परम दयालु हैं। आपसे मुझपर दया किये बिना रहा ही नहीं जायगा। आप मेरे हृदयकी एक-एक बात—मेरी नस-नस जानते हैं। मेरा मन आपके दर्शनका प्यासा है—आपके लिए तड़फड़ा रहा है। आप कहाँ छिपे हैं? आप क्या मुझे अपराधी जानकर रूठ गये हैं? प्रभु, प्रभु! यदि आप मेरे अपराधोंकी ओर देखेंगे तो कोटि कल्पोंमें भी मेरा निस्तार नहीं होगा। इसलिए हे करुणाके सागर, अपनी अकारण करुणाका एक कण—केवल एक फुहिया मेरे ऊपर डाल दीजिये। मैं आपके चरणकमलोंपर अपना सिर रख दूँ और आप मेरे सिरपर अपने कोमल करकमल रख दीजिये। जब मैं भरे हृदय और गीली आँखोंसे आपकी ओर देखूँ, तब आप मन्द-मन्द मुसका दें, और मधुर-मधुर स्वरसे अमृत बरसाते हुए कह दें कि 'तुम मेरे हो, हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध अखण्ड है—अटूट है।' बस, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

१०—अहो! यह वृन्दावन है, कालिन्दीका कूल है, हरी वृक्षावली है, खिली लताएँ हैं, ललित लता-निकुञ्ज है, परन्तु प्राणप्यारे, आपके बिना यह सूना-सूना लगता है। क्षण-क्षण युगके समान बीत रहे हैं। हृदय व्याकुल हो रहा है। आँसू रुकते नहीं हैं। यह फूलोंकी सेज आपके लिए बिछायी है। सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी माला आपके लिए गूँथी है। मेरे हृदयकी झारी भावके जलसे भरी आपके पाँव पखारनेके लिए है। कितने उत्साह, कितने उल्लाससे भरकर रखी थी; परन्तु हाय-हाय! आप अबतक न आये! हृदय फट रहा है, प्राण सूख रहे हैं। अब एक क्षण भी नहीं रहा जाता। मेरी चेतना नष्ट हो रही है, बेहोशी आ रही है। प्रभो! आइये, आइये! मेरे

पास आ जाइये! मेरे सामने प्रकट हो जाइये! मेरी ओर देखिये। मेरी सेवा स्वीकार कीजिये! मुझे अपनालीजिये, आप मेरे बन जाइये।

११—यह स्थान तो दिव्य गन्धसे भर रहा है। यह मधुर-मधुर स्वर-लहरी कहाँसे आ रही है? यह शीतल-शीतल दिव्य प्रकाश छा रही है। यह नूपुरकी रुनझुन सुनायी पड़ रही है। तब क्या आ गये? मेरी जन्म-जन्मकी प्यास बुझानेका अवसर आ गया! धन्य है, धन्य है, वही हैं। वही हैं वही। अहा! कैसी मस्तानी चालसे आ रहे हैं। बाँकी चितवनसे देख रहे हैं। मेरी ओर देख-देखकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। आओ! प्रभो आओ! मेरी युग-युगकी साध पूरी करो।

१२—वैसे तो ईश्वर हृदयमें ही रहता है। कहीं जाता नहीं है। और कहींसे आता भी नहीं है। मन जब उसके सम्मुख होता है, तभी वह आ जाता है। और जब विमुख होता है तब चला जाता है। इसलिए हर समय मन ईश्वरके सम्मुख रखना चाहिए। विशेष करके भगवान्‌के मुखकमलपर मुसकान और चितवनका ध्यान करना चाहिए। भगवान्‌के मनमें बहुत भारी खुशी है और वह मुखारविन्दपर साफ-साफ झलक रही है। आँखसे आँख मिलती है और देखनेवाला भी खुशीसे भर जाता है। यह दोनों ओरसे आनन्दकी लहर उठना ही भगवान्‌का स्वागत है। जहाँ यह आनन्दका स्वागत होता है वहीं भगवान् आते हैं, और ठहरते हैं।

१३—मन ईश्वरके सम्मुख तो हो परन्तु टिके नहीं, तब ईश्वर बैठे कहाँ? शीतल स्थानमें कोमल कमलपर स्थिरताका आसन देना चाहिए।

शीतलताका अर्थ है कि मनमें जलन न हो किसी प्रकारकी।

कोमलताका अर्थ है स्नेहसे तर, नरम होना। स्थिरता माने मनका चञ्चल न होना। आसनका हिलना अच्छा नहीं है।

१४—स्नेहका जल, श्रद्धाके फूल, भावके अक्षत, सद्‌गुणोंकी सुगन्ध, सम्बन्धकी मधु लेकर पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क आदि क्रिया करनी चाहिए।

पाद्य—भगवान्‌के पाँव प्रेमसे पखारना।

अर्घ्य—भगवान्‌के करकमलोंपर जल, फूल, दूर्वा आदिका अर्पण, हाथ धुलाना।

आचमनीय—मुँह धुलाना।

मधुपर्क—सत्कारकी एक रीति। यह आदरणीय पुरुषोंको मधु चटाकर की जाती है। भगवान्‌की पूजामें उनके साथ जो अपना सम्बन्ध है—माँ, बाप, स्वामी, पति, पुत्र, गुरु आदि, यही मधुके समान मीठा है।

१५—भगवान् नित्य शुद्ध हैं। उन्हें स्नानकी आवश्यकता नहीं है। मायाकी मैल उनका स्पर्श नहीं कर सकती, फिर भी भक्तोंकी सेवा स्वीकार करके उन्हें सुखी करनेके लिए, उनके हाथसे स्नान भी करते हैं। दूध, दही, घी, मधु और शुद्ध जलसे स्नानमण्डपमें रत्न-सिंहासनपर बैठाकर स्नान कराना चाहिए। भगवान्‌के लिए नये-नये स्नानमण्डप, शृङ्गारमण्डप, भोजनमण्डप शयनमण्डप, विहारमण्डप, सभामण्डप आदि जहाँ भगवान् रहते हैं वहीं अपने-आप चिन्मय होनेके कारण समय-समयपर स्वयं प्रकट होते रहते हैं। भगवान्‌को कभी-कभी ठंड और गरमी भी भासने लगती है। भगवान्‌का भाव उनकी आँख और चेष्टासे जानकर अथवा उनकी आज्ञाके अनुसार ठण्डे और गरम जलसे स्नान कराना चाहिए। मानस पूजामें स्नान न करावें तब भी कोई हानि नहीं है।

१६—भगवान्‌के वस्त्र भी पँचरंगे होने चाहिए पृथिवीका पीला, जलका श्वेत, अग्निका लाल, वायुका बैंगनी और आकाशका नीला। सभी तत्त्वोंमें जो श्रेष्ठ और सार-सार अंश हैं, उन्हें निकालकर तब रंग बनता है, आत्मा (अहंकार) रुई, बुद्धिसूत, मनकी चिकनाई, पाँचों तत्त्वोंके रंग—इन्हींसे वस्त्र बनाकर भावसे धारण कराया जाता है। सम्बन्धका यज्ञोपवीत, अनुरागका अङ्गराग, शीतलताका चन्दन और चेतनताका आभूषण तथा भावके पँचरंगे पुष्पोंकी माला पहनाकर भगवान्‌को अपने हृदयका दर्पण दिखाना चाहिए।

१७—तीनों गुणोंकी धूप जलाकर उसमें जो व्यापक ब्रह्मकी सत्ता है उसकी फैली हुई सुगन्धका अनुभव कराना चाहिए और ज्ञानका दीप सँजोकर उसीके प्रकाशमें भगवान्‌के चम-चम चमकते आभूषण और छबि छलकते अङ्गकी झिलमिल जगमगाहटका दर्शन करके आनन्दित होना चाहिए।

१८—पृथिवीकी सुगन्ध, जलकी मधुरता, अग्निकी सुन्दरता, वायुका कोमल स्पर्श—सब-का-सब समेटकर हृदयके आकाशमें-भावसे पके प्रेमका नैवेद्य भगवान्‌को लगाना चाहिए। भगवान् देखकर–आरोगकर प्रसन्न होते हैं। कोई-कोई पदार्थ पसन्द आता है तो और माँगते हैं। कभी आँख मिल जानेसे उनकी प्रसन्नता देखकर अपना हृदय आनन्दसे भर जाता है। उनके सुखमें ही अपना सुख है। मुखवास आदि भी अर्पण करना चाहिए।

१९—संसारकी सारी बाहरी सम्पत्ति, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, मनमें रहनेवाले संकल्प, अहंकार, ममता, सम्बन्ध आदि सब कुछ, बुद्धि, उसमें रहनेवाले विचार, निश्चय आदि—जीव जैसा पहले था, अब है और आगे होगा—सब भगवान्‌का ही है। यह सत्य सिद्धान्त समझना, मानना और याद रखना,

बादमें कभी न भूलना—निरन्तर अनुभव होना, यही भगवान्‌को आत्मसमर्पण है।

२०—आरतीमें पाँच वस्तुएँ रहती हैं। पृथिवीकी गन्ध, जलकी स्नेह-धारा—घी, आगकी लौ, वायुका हिलना, आकाशकी ध्वनि। सम्पूर्ण संसारसे ही भगवान्‌की आरती होती है। वैसे अपने देहका दीपक, जीवनका घी, प्राणकी बाती और आत्माकी लौ सँजोकर भगवान्‌के इशारेपर नाचना—यही आरती है। इस सच्ची आरतीके करनेपर संसारका बन्धन छूट जाता है और जीवको भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं।

२१—ईश्वरके लिए हमारे मनमें जो उत्तम-उत्तम भाव उठने लगते हैं वही पुष्प हैं। कभी उनका अनुभव करके शान्त हो जाना, कभी उनकी सेवा करना, कभी उनसे हँसना-खेलना, बात करना—मानो मित्र हों, कभी वात्सल्यसे खिलाना, पिलाना, दुलारना—मानो वे कोई अल्हड़ शिशु हों, कभी पत्नीके समान प्रेम करना—यही सब भाव हैं। इन्हीं सब भावोंको बार-बार भगवान्‌के साथ जोड़ना, इसीको पुष्पाञ्जलि कहते हैं। यही सब करते-करते भगवान्‌में समा जाना—मानो आनन्दके समुद्रमें डूब रहे हों। यही डूबना-उतराना भगवान्‌की मानसी सेवा-पूजा है।

राजा शङ्खकी साधना और भगवत्प्राप्ति

हैहय वंशमें श्रुत नामके बड़े ही धर्मात्मा राजा हो गये हैं। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे अपनी प्रजाको पुत्रसे भी बढ़कर प्रिय मानते थे। उनकी न्यायप्रियता, धर्मपरायणता और दयाशीलताने समस्त प्रजाके हृदयमें घर कर लिया था। यही कारण है कि चिरकालतक ये निर्विघ्न राज्य करते रहे। विद्रोह अथवा विप्लव किसे कहते हैं, यह लोगोंको मालूमतक नहीं था। उनके एकमात्र पुत्र थे शङ्ख। पिताकी धार्मिकताकी छाप पुत्रपर बचपनमें ही पड़ गयी थी। वे संस्कारसम्पन्न होकर गुरुकुलमें गये, वहाँ गुरुजनोंकी सेवा करते हुए सहपाठियोंसे प्रेमका वर्ताव करते हुए, वेद-वेदाङ्गोंका अध्ययन किया और अपनी विद्यासे गुरुदेवको सन्तुष्ट करके, उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा देकर अपने पिताके पास लौट आये। पिताने बड़े हर्षके साथ उनका अभिनन्दन किया और सब प्रकारसे योग्य देखकर राज्यका सम्पूर्ण भार उन्हें सौंप दिया। राज-काजकी चिन्तासे मुक्त होकर महाराज श्रुत भगवान्‌के चिन्तन-स्मरणमें अपना समय बिताने लगे। विद्वान्, सदाचारी एवं युवक शङ्खको स्वामीके रूपमें पाकर प्रजाको पुराने राजाके अलग होनेका कष्ट नहीं हुआ, बल्कि पुराने राजाको ही नये रूपमें पाकर उसके आनन्दमें और वृद्धि हुई।

शङ्खकी योग्यता असाधारण थी। उनमें इतना नीति-नैपुण्य था कि कोई भी समस्या उलझनेके पहले ही वे सुलझा

लेते थे। उनके हृदयकी आँख खुली हुई थी। कोई बात उनकी बुद्धिके बाहर नहीं थी। इसलिए उनका राज्य निष्कण्टक था। उनकी सच्चाई, ईमानदारी और प्रेमपूर्ण बर्ताव देखकर लोग मुग्ध हो जाते। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और हृदय पवित्र। निष्काम-भावसे शास्त्रोंका अध्ययन करनेके कारण भगवान्‌के दिव्य स्वरूप और महान् गुणोंको वे कुछ-कुछ समझ सके थे। यही कारण है कि भगवान्‌पर उनका पूर्ण विश्वास था। भगवान् ही एकमात्र जगत्‌के स्वामी हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ, सबसे सुन्दर और सबसे मधुर हैं। उनके अतिरिक्त और किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तुका विश्वास करना अपनेको धोखा देना है, यही उनका निश्चय था और वे वास्तवमें भगवान्‌पर निर्भर थे। वे जो कुछ भी काम करते, भगवान्‌का ध्यान करते हुए ही करते। उनके चित्तमें इस प्रकारके भाव उठा करते कि एकमात्र भगवान् ही समस्त देवताओं और दिव्यताओंके मूल हैं, उनका स्वरूप, उनकी महिमा अनन्त है, वे जगत्‌के स्वामी हैं, जीवके स्वामी हैं, जो कुछ यह जगत् या जीव हैं, सब उनकी शक्तिके नन्हें-से चमत्कार हैं। इस प्रकार उनका चित्त निरन्तर भगवन्मय रहता, उनका अन्तस्तल प्रभु-स्मरणके सौरभसे सतत सुवासित रहता। वे एकादशी, पूर्णिमा आदि व्रत करते, प्रतिदिन ब्राह्मणों और दीन-दुःखियोंको उत्तम-उत्तम वस्तुओंका दान करते और इसके फलस्वरूप त्रिलोकीकी कोई भी वस्तु न चाहकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नता, उनकी प्रीतिकी ही अभिलाषा करते। बड़े-बड़े यज्ञ किये, बड़े-बड़े दान दिये, राज्यके समस्त ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे-देकर सन्तुष्ट किया, राज्यभरमें बहुत-से कुण्ड बनवाये, बावलियाँ खुदवायीं, प्याऊ लगवाये, सब लोगोंके लिए बहुत-से बाग-बगीचोंका निर्माण करवाया।

बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवान्को याद रखते हुए, भगवान्के लिए, उनकी प्रसन्नताके लिए ही वे सम्पूर्ण कर्म करते थे। उन्होंने अपने हृदयको, जीवनको, सर्वस्वको और अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दिया था, निछावर कर दिया था। वे निरन्तर भगवान्का स्मरण करते, उनके नामोंकी माला फेरते, उनकी मूर्तिकी पूजा करते और संकोच छोड़कर प्रेम-विह्वल होकर भगवान्की लीला, गुण और नामोंका सङ्कीर्तन करते। पुराणोंका रहस्य जाननेवाले ब्राह्मण उन्हें भगवान्की परम पावन कथाएँ सुनाते, जिनके श्रवणमात्रसे इस संसारसे प्राणियोंका निस्तार हो जाता है। इस प्रकार बड़ी सावधानीसे बिना थके जागरणसे लेकर शयनपर्यन्त वे भगवान्की प्रसन्नताके लिए प्रयत्न किया करते और अपनी ओरसे कोई त्रुटि नहीं होने देते थे।

यह सब होनेपर भी उनके हृदयमें एक ज्वाला निरन्तर जलती रहती थी। यह थी अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनकी तीव्रतम अभिलाषाकी अन्तर्ज्वाला। भगवत्प्राप्तिके लिए जो कुछ वे कर्म-उपासना, साधन-भजन, स्मरण-चिन्तन करते थे, उसीका यह फल था कि शङ्खके चित्तमें भगवान्के दर्शनकी सच्ची अभिलाषा, उत्कट उत्कण्ठा जागरित हुई। यह लालसा प्रत्येक जीवके अन्तर्देशमें प्रसुप्त रहती है। इसका जागरण तब होता है जब सत्कर्म, सत्सङ्ग और सत्सङ्कल्पोंके अखण्ड प्रवाहसे हृदय धुल जाता है और भीतरकी यह अमोलक निधि निरावरण होकर बाहर आ जाती है। शङ्खने देखा—अभी तक मेरे सामने संसार-ही-संसार है। मेरी दृष्टि बाहर जब जाती है—संसार ही दीखता है। यह दुःखागार संसार कबतक मेरे सामने रहेगा? यह क्षणभंगुर वस्तु मेरी आँखोंके सामनेसे सदाके लिए हट न

जायगी ? क्या मैं सम्पूर्ण सौन्दर्य और माधुर्यके परम आश्रय, मुनियोंके मनको चुरानेवाले करुणावरुणालय भगवान्‌को अपनी इन्हीं आँखोंसे नहीं देख पाऊँगा ? यही सोचते-सोचते शङ्खका हृदय भर आया, वे शोकाकुल हो गये।

राजा शङ्खके पास सांसारिक दृष्टिसे किसी वस्तुकी कमी नहीं थी। उन्हें विषयभोगकी सारी सुविधा प्राप्त थी, परन्तु वे उसीमें भूल जानेवाले नहीं थे। वे तो उस शाश्वत सुखको प्राप्त करना चाहते थे जिससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं। उस सुखके लिए, भगवान्‌के लिए, उनकी आतुरता इतनी बढ़ गयी कि एक क्षणका भी विलम्ब उनको असह्य हो गया। वे मन-ही-मन कहने लगे, इस संसारके चक्करमें मैं अनादि-कालसे भटक रहा हूँ। न जाने किस-किस योनिमें जन्म लेना पड़ा। कभी स्वर्गमें गया तो कभी नरकमें। कभी मनुष्य हुआ तो कभी पशु-पक्षी। न जाने कितने प्रकारके सुख-दुःख भोगे, भोगने पड़े। परन्तु अबतक भगवान्‌के, अपने प्रभुके दर्शन नहीं मिले। अवश्य ही मैं महान् पापी हूँ, मेरी आँखोंपर अभी इतना मोटा पर्दा है कि मैं भगवान्‌को देख नहीं सकता। मेरे इस दुर्भाग्यकी कोई अवधि भी है या नहीं, क्या पता! अनेक जन्मोंतक घोर तपस्या की जाय और यदि उन सबका एक ही अखण्ड फल प्राप्त हो तब भी तपस्याओंके फलस्वरूप भगवान्‌के दर्शन हो सकेंगे, इसमें सन्देह ही है। उनके दर्शन तो उनकी कृपासे ही हो सकते हैं। कब होगी उनकी कृपा, कब वे मेरी आँखोंके सामने अपनी रूप-माधुरीकी धारा प्रवाहित कर देंगे, कब मेरे हृदयकी प्यास बुझावेंगे ? मेरे कान कब उनके सुधा-वचनोंको सुनकर भाग्यवान् होंगे ? मैं तो अभागा हूँ, यदि मैं भगवान्‌के दर्शनका अधिकारी होता तो क्या अबतक उससे वञ्चित

रहता ? मुझे धिक्कार है, मेरा जीवन व्यर्थ है, मैं अपराधी हूँ। मेरे जीवनका जो एकमात्र उद्देश्य है, जिसके लिए मेरे जीवनकी समस्त चेष्टाएँ हैं, उसीसे शून्य रहकर भगवान्‌की कृपासे दूर रहकर, संसारकी उलझनोंमें पचते रहना, भला यह भी कोई जीवन है ? ऐसे जीवनको रखकर क्या करना है ? यही सोचते-सोचते शङ्ख इतने आतुर हो गये कि उनका दम घुटने लगा।

भगवान्‌की दृष्टि सब ओर रहती है, एक-एक अणुके अन्तरालमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण बनते-बिगड़ते रहते हैं; परन्तु उनका एक भी अंश भगवान्‌की दृष्टिसे ओझल नहीं रहता। जो कुछ होता है, समयसे और ठीक उनके इङ्गितके अनुसार। विश्वके ह्रास और रोदन उनकी रङ्गशालाके अद्भुत और करुण अभिनय-मात्र हैं। नटवरकी लीला सूत्रधारकी इच्छा, कठपुतली कैसे समझे ? एक बार नाम लेनेसे रीझ जानेवाले भगवान् राजा शङ्खके सम्मुख इतनी तपस्या, साधना और व्याकुलताके बाद भी प्रकट नहीं हुए। अवश्य ही इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य होगा। यही मान लें कि अभी राजा शङ्खके प्रेमको, उनकी अनासक्ति और त्यागको और भी उत्कृष्ट रूपमें जगत्‌के सामने प्रकट करना था। लोग कहते हैं कि हम अपनी अमुक वस्तुको छोड़ें क्यों ? उनसे अनासक्त रहेंगे, बस। पर यह भ्रम है। 'छोड़ें क्यों'—यही तो आसक्तिका स्वरूप है। इसलिए साधनामें साधकके जीवनमें त्यागकी भी आवश्यकता हुआ करती है। राजा शङ्खकी व्याकुलता पूर्ण थी, परन्तु उनका वैराग्य अभी पूर्णतया व्यक्त नहीं हुआ था। उनकी व्याकुलताकी दृष्टिसे भगवान्‌को दर्शन देना चाहिए था और वैराग्यको पूर्ण करनेके लिए थोड़े विलम्बकी भी अपेक्षा थी। भगवान्‌ने मध्यम-

मार्गसे काम लिया, वे राजा शङ्खके सामने प्रकट नहीं हुए, अदृश्य रूपसे ही बोले—'राजन्, तुम मेरे प्रिय भक्त हो, तुम्हें इस प्रकार शोकाकुल न होना चाहिए। तुम मेरी शरणमें हो, मेरे प्रेमी हो, भला मैं तुम्हें कैसे त्याग सकता हूँ? मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। घबराना नहीं, अभी तुम्हें दर्शन होनेमें थोड़ा विलम्ब है, परन्तु दर्शन होंगे अवश्य, इसमें सन्देह नहीं है। महर्षि अगस्त्य भी तुम्हारी भाँति मेरे दर्शन होनेके लिए अत्यन्त लालायित हैं, तुम चलो वेङ्कटाचलपर, जब वे वहाँ आयेंगे, तब तुम दोनोंको एक साथ ही दर्शन होंगे। तबतक मेरा स्मरण-चिन्तन करते हुए अपना समय व्यतीत करो।'

शङ्खने अविलम्ब आज्ञाका पालन किया। जो भगवान्के प्रेमी हैं, जिनका हृदय सचमुच भगवान्का रूप-रस पान करनेके लिए उत्सुक है, उनके लिए तीनों लोकोंकी सम्पत्तिका कोई मूल्य नहीं है। इन तुच्छ वस्तुओंके त्यागमें उन्हें किसी प्रकारका विचार नहीं करना पड़ता, यह तो प्रेमियोंकी मनचाही बात है। अवसर पाते ही वे भाग निकलते हैं। यदि भगवान्की प्रेरणा प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या है! शङ्खने पुत्र वज्रको राजसिंहासनपर बैठाया और इस महान् कार्यके लिए वे भूतलके वैकुण्ठ वेङ्कटानाथपर पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने स्वामि-पुष्करिणीमें स्नान और अमृतोपम दिव्य जलका पान किया। उस पवित्र भूमिमें शङ्खका मन रम गया, वहीं एक छोटी-सी कुटियामें रहकर वे उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे। अब कर्मोंका सम्पर्क बहुत कम हो गया था। इसलिए निरन्तर भगवन्नामका जप एवं उनकी लीला और स्वरूपका चिन्तन, यही उनका काम रहा। योगक्षेमका निर्वाह तो भगवान् करते ही थे।

उन्हीं दिनों महर्षि अगस्त्य वेङ्कटाचलकी परिक्रमा करते हुए, भगवान्‌के दर्शनकी अभिलाषासे अनेक स्थानोंमें विचरण कर रहे थे। ब्रह्माने उनसे कहा था, तुम्हें वहीं भगवान्‌के दर्शन होंगे। उनके हृदयकी भी वही दशा थी, जो राजाके हृदयकी। कुमारधारा आदि तीर्थोंमें स्नान करके वे भगवान्‌की पूजा करते, नाम-जप करते और बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा करते कि अब भगवान् आते ही होंगे। बहुत दिन बीत गये, पर भगवान् नहीं आये। किसी पेड़का पत्ता खड़कता, तो वे ससंभ्रम उठकर खड़े हो जाते, कहीं भगवान् न आ रहे हों। किसी पक्षीके उड़नेकी आहट मिलती तो आकाशकी ओर देखने लगते, शायद गरुड़पर चढ़कर भगवान् ही आ रहे हों। परन्तु उनकी यह आशा सौ-सौ बार निराशाके रूपमें परिणत हो गयी। उनके हृदयमें ऐसी हूक उठती, इतनी व्यथा होती कि वे पागल-से हो जाते। उनकी अन्तःपीडाको जानकर भगवान्‌ने ब्रह्माके हृदयमें प्रेरणा की। उन्होंने बृहस्पति, उपरिचर वसु आदिको सन्देश देकर अगस्त्यके पास भेजा। इन लोगोंने आकर अगस्त्य ऋषिसे कहा कि आपको राजा शङ्खके साथ ही भगवान्‌के दर्शन होंगे, इसलिए आप स्वामिपुष्करिणीके तटपर चलिये। हम लोग भी आपके साथ भगवान्‌के दर्शन करके कृतार्थ होंगे। भगवान्‌के दर्शन होंगे यह सुनते ही महर्षि अगस्त्यका चित्त अदम्य उत्साह, स्फूर्ति और आनन्दसे भर गया। सम्पूर्ण निराशा और उद्वेग नष्ट हो गये। वे बिना एक क्षणका भी विलम्ब किये सब-के-सब स्वामिपुष्करिणीके तटपर स्थित राजा शङ्खके पास जानेके लिए चल पड़े; रास्तेके वृक्ष-लताएँ, नदी-नद, पशु-पक्षी—सब-के-सब आज उन लोगोंको शान्ति, प्रेम और आनन्दका सन्देश दे रहे थे।

● ● ●

शङ्खने बड़े प्रमसे सबका स्वागत किया। जब सुस्थिर हुए, तब कीर्तन प्रारम्भ हुआ। एक उद्देश्य, एक अभिलाषा, एक साधनाके इतने भक्त इकट्ठे हो गये और प्रेममें पगकर ऊँचे स्वरसे नारायण नामकी ध्वनि करने लगे। समस्त पर्वतमालाएँ, सम्पूर्ण वनस्थली और अनन्ताकाश उस दिव्य ध्वनिसे मुखरित हो गया, दिशा-विदिशाएँ गूँज उठीं। मानो आनन्दके अनन्त समुद्रमें बाढ़ आगयी हो और सारा जगत् उसीमें डूब-उतरा रहा हो। सबका चित्त तल्लीन हो गया। एक दिन, दो दिन, तीन दिन बीत गये, रातके चौथे पहरमें सबको नींद आगयी। नींद क्या थी, भगवान्‌की एक लीला थी। सबने एक साथ ही स्वप्न देखा—पुरुषोत्तम भगवान्‌की सबके सामने प्रकट हुए. श्याम वर्ण, पीत वस्त्र, चार कर-कमलोंमें चार आयुध—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म। प्रसन्नमुख, होठोंमें मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, भौंहोंसे मानो अनुग्रहकी वर्षा हो रही है। बड़े प्रेमसे बोल रहे हैं—तुम्हें क्या चाहिए? मैं तुम्हारी भाव-भक्तिसे प्रसन्न हूँ, चाहे जो माँग लो, सब कुछ दे सकता हूँ।

नींद टूटी। सबको एक ही स्वप्न। बड़े आश्चर्यकी बात है। सबके हृदयसे आनन्दकी धारा छलक रही थी। आँखें प्रेमके आँसुओंसे भर रही थीं। महान् कृपा, महान् अनुग्रह! स्वप्नका ही स्मरण करते हुए लोगोंने स्वामिपुष्करिणोमें स्नान किया। आवश्यक कृत्य करके फिर सब-के-सब भगवान्‌की सेवा-पूजामें लग गये। सबके चित्तमें उल्लास था, सबके एक-एक अङ्ग फड़क-फड़ककर कह रहे थे—भगवान् आनेवाले हैं। स्तुति-प्रार्थनाके अनन्तर शङ्ख और अगस्त्य दोनों ही मन्त्र-जप करने लगे। वे 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करते थे। उसी समय उनके सामने एक अत्यन्त अद्भुत तेज प्रकट

हुआ। वह तेज कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका एक पुञ्ज था। उस ज्योतिसे सम्पूर्ण गगनमण्डल भर गया। उस दिव्य ज्योतिर्मय चैतन्यको देखकर सब-के-सब आश्चर्यचकित हो गये। सम्पूर्ण हृदयसे भगवान्का चिन्तन करने लगे। भगवान् उनके सामने प्रकट हुए बड़े भयङ्कर रूपमें, विराट्-रूपमें—मन जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, ऐसे रूपमें—हजारों नेत्र, हजारों हाथ, हजारों पैर, चमकते हुए सोनेकी तरह कान्ति, बड़े विकराल दाँत, मुखसे आगकी बड़ी-बड़ी लपटें उगलते हुए। सारा संसार भयग्रस्त। अगस्त्य, शङ्ख, बृहस्पति आदि बार-बार वन्दना करने लगे।

भगवान्के जो आयुध संसारकी रक्षाके लिए सर्वत्र विचरण किया करते हैं, वे सब उनकी सेवाके लिए आगये। चक्र, गदा, खड्ग, पुण्डरीक, पाञ्चजन्य सब-के-सब मूर्तिमान् होकर सेवा करने लगे। पाञ्चजन्यकी ध्वनिसे, जिसे सुनकर दैत्य भयभीत हो जाते हैं, सपूर्ण ब्रह्माण्ड-मण्डल परिपूर्ण हो गया और उसके द्वारा सूचना पाकर ब्रह्मा आदि देवतागण अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर वहाँ आगये। सनकादि योगीश्वर, वसिष्ठ आदि मुनीश्वर भगवान्की स्तुति करते हुए वहाँ उपस्थित हुए। साररूप मुक्तिप्राप्त श्वेतदीपवासी जय-विजय आदि पार्षद वहाँ आगये। कल्पवृक्षसे सबके मानसको आमोदित करनेवाली पुष्पवर्षा होने लगी, गन्धर्व गान करने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं। ब्रह्मा आदि देवताओंने एक स्वरसे स्तुति की—'प्रभो ! तुम्हारी जय हो ! कृपासिन्धो ! तुम्हारी जय हो ! श्यामसुन्दर ! तम्हारी जय हो ! तुम्हीं संसारके जीवनदाता हो, तुम्हीं भक्तोंके भयभञ्जन हो। स्वामिन् ! तुम्हारी जय हो, जय हो,

जय हो ! तुम आनन्द हो, शान्त हो, वाणी और मनके अगोचर हो। तुम्हारे चिदानन्दस्वरूपको भला कौन जान सकता है ? तुम अणुसे भी अणु, स्थूलसे भी स्थूल, सर्वान्तर्यामी हो। तुम्हीं जीव और प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम हो ! तुम्हारे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपको मायाधीन प्राणी नहीं जान सकता। तुम्हारे भीषण रूपको देखकर हम सब भयभीत हो गये हैं। अब कृपा करके सौम्य, शान्तरूपसे दर्शन दो।' भगवान्‌ने ब्रह्माकी प्रार्थना स्वीकार की। सबके देखते-ही-देखते भगवान्‌ने अपना भयङ्कर रूप अन्तर्हित करके बड़ा ही मधुर मनोहर स्वरूप प्रकट कर दिया। रत्नजटित विमानपर श्यामसुन्दर पीताम्बर-धारी चतुर्भुज मूर्ति, कर-कमलोंमें चारों आयुध, चन्द्रमाके समान शान्त-शीतल मुख, प्रेमभरी चितवन, मन्द-मन्द मुसकान देखकर सभी मुग्ध हो गये। जब सबने प्रणाम-स्तुति कर ली, तब भगवान्‌ने विनयावनत अगस्त्यसे कहा—'मुनीश्वर ! तुमने मेरे लिए घोर तपस्या की है, तुम्हारी भाव-भक्तिसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो माँगो, मैं तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूँगा।' अगस्त्य बार-बार भगवान्‌को प्रणाम कर रहे थे, उनका शरीर पुलकायमान था और वाणी गद्‌गद। उन्होंने रुँधे कण्ठसे कहा—'प्रभो ! तुम्हारे दर्शनसे मेरी तपस्या, स्वाध्याय, चिन्तन सब सफल हो गये। तुम मेरी आँखोंके सामने प्रकट हुए, तुमने मेरा आदर किया, इससे बढ़कर मुझे और क्या चाहिए ? तुम्हारी कृपासे मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हैं। सोचनेपर भी नहीं मालूम पड़ता कि मैं तुमसे क्या माँगूँ; फिर भी मेरा बालचापल्य यह कहनेके लिए विवश कर रहा है कि तुम मुझे अपने चरणोंकी अहैतुकी भक्ति प्रदान करो। प्रभो ! एक प्रार्थना है, देवताओंकी प्रार्थनासे संसारके कल्याणार्थं सुवर्णमुखरी नदी आ रही थी, वह

पर्वतोंमें फँस गयी है, तुम कृपा करके इसका उद्धार कर दो और इसी पर्वतपर तुम निवास करो जिससे लोग तुम्हारी सेवाका अवसर प्राप्त कर सकें।' भगवान्‌ने कहा—मुनीश्वर, मेरी भक्ति तो तुम्हारे हृदयमें पहलेसे ही निवास करती है, आगे भी रहेगी। सुवर्णमुखरी नदी भी मुक्त हो जायगी और दूसरी गङ्गाके समान जगत्‌का कल्याण करती रहेगी। तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण हो। मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करके यहाँ निवास करूँगा, जो मेरा दर्शन करेंगे, उनका कल्याण होगा।'

भगवान्‌ने राजा शङ्खको सम्बोधित करके कहा—'तुम्हारी प्रेम-भक्तिसे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जो अभिलाषा हो मैं पूर्ण करूँगा।' शङ्खने अञ्जलि बाँधकर कहा—'नाथ! तुम्हारे चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त और कौन-सी वस्तु मैं माँगूँ। तुम्हारे प्रेमी भक्त जिस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, वही मुझे भी दो।' भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण होगी। जो मेरी सेवा करते हैं उनके लिए अलभ्य कुछ भी नहीं है। तुम कल्प-पर्यन्त मेरा स्मरण करते हुए, उत्तम लोकोंमें निवास करो। अन्तमें तुम मेरे लोकमें आओगे।' भगवान्‌की आज्ञासे सब लोग, अपने-अपने लोकको गये ओर भगवान् अन्तर्धान हो गये। अगस्त्य और शङ्ख दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण हुई। दोनों कृतकृत्य हो गये।

धन्य हैं प्रेमी भक्त और उनके भगवान्।

●

भक्त पद्मनाभ

भगवान् दयामय हैं। सम्पूर्ण जगत्पर निरन्तर दयाकी वर्षा करते हैं। उनकी ओरसे किसी भी प्रकारका भेद-भाव नहीं है। उसके अनुभवमें जो कुछ विलम्ब है वह जीवकी ओरसे ही है, भगवान्की ओरसे नहीं। जीव जिस समय सच्चे दिलसे उनकी कृपाका अनुभव करनेके लिए उन्मुख हो उसी समय वे अपनी उन्नत कृपाका अनुभव करा देते हैं। जीवका सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ इसीमें है कि वह भगवान्की कृपाका अनुभव करे। इसके लिए किसी विशेष साधनाकी आवश्यकता नहीं, केवल भाव-भक्ति चाहिए। भीम कुम्हारने कौन-सी तपस्या की थी? वह तो केवल मिट्टीके तुलसीदल, फल और फूल बनाकर भगवान्को चढ़ा दिया करता था। इसीसे उसपर रीझ गये। वसु किसान कौन-सा बहुत बड़ा तपस्वी था? वह तो केवल साँवेकी खेती करता और उसीका भोग लगाकर प्रसाद पाता; केवल इतनेसे ही उसपर प्रसन्न हो गये। वह रङ्गदास शूद्र ही भगवान्के लिए कितना व्याकुल था, केवल उसके एक मानसिक अपराधके मार्जनके लिए ही आप चले आये। भगवान्की लीला विचित्र है। वे कब किसपर क्यों प्रसन्न होते हैं इसको वे ही जानते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि वे दयाकी मूर्ति हैं और जो उनको चाहता है, उसको वे अवश्य मिलते हैं।

भारतवर्ष सन्तोंकी खान है। इसमें इतने अधिक सन्त हुए हैं कि उनकी गणना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। एक-एक

तीर्थमें, तीर्थके एक-एक स्थानमें अनेक-अनेक भक्त हो गये हैं। तीर्थकी तो बात ही क्या, शायद ही कोई ऐसा गाँव बचा हो जिसमें कोई भक्त न हुआ हो। वेङ्कटाचल तो मानो भक्तोंके लिए वैकुण्ठ धाम ही है। वहाँ इतने अधिक भक्त हुए हैं कि इस गये-बीते जमानेमें भी वेङ्कटाचल इतना सुन्दर और इतना आकर्षक है कि वहाँ जानेपर एक बार तो प्रत्येक सहृदयके मनमें वहीं रह जानेकी अभिलाषा हो ही जाती है। वहाँकी हरी-भरी पर्वतमालाएँ आकाशगङ्गा, स्वामिपुष्करिणी, चक्रतीर्थ आदि ऐसे स्थान हैं, जिनमें स्वभावसे ही सात्त्विकता भरी हुई है, और उनके साथ कोई-न-कोई ऐसी स्मृति लगी हुई है जो जीवको भगवान्‌की ओर अग्रसर करती है।

प्राचीन कालकी बात है। आजकल जहाँ बालाजीका मन्दिर है, वहाँसे थोड़ी दूर एक चक्रपुष्करिणी नामका तीर्थ है। उसके तटपर श्रीवत्सगोत्रीय पद्मनाभ नामके ब्राह्मण निवास करते थे। उनके पास न कोई संग्रह था न परिग्रह। भगवान्‌के नामका जप, उन्हींका स्मरण, उन्हींका चिन्तन—बस, यही उनके जीवनका व्रत था। इन्द्रियाँ उनके वशमें थीं, हृदयमें दीन-दुःखियोंके प्रति दया थी। सत्यसे प्रेम, विषयोंके प्रति उपेक्षा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव—यही उनका जीवन था। अपने सुख-दुःखकी कल्पनासे ही उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता था। कभी वे सूखे पत्ते खा लेते थे, तो कभी पानीपर ही निर्वाह कर लेते और कभी-कभी तो भगवान्‌के ध्यानमें इतने तन्मय हो जाते कि शरीरकी सुधि ही नहीं रहती, फिर खाये-पिये कौन? परन्तु यह सब तो बाहरकी बात थी। उनका हृदय भगवान्‌के लिए छटपटा रहा था। उनके सामने अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं था। वे तो ऐसे-ऐसे सौ-सौ जीवन

निछावर करके भगवान्को, अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त करना चाहते थे। उनके हृदयमें आशा और निराशाके भयङ्कर तूफान उठा ही करते। कभी वे सोचने लगते कि 'भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही मुझे मिलेंगे, मैं उनके चरण प्रेमाश्रुसे भिगो दूँगा, वे मुझे अपने करकमलोंसे उठाकर हृदयसे लगा लेंगे, मेरे सिरपर हाथ रक्खेंगे, मुझे अपना कहकर स्वीकार करेंगे, मैं उनके चरणकमलोंपर लोट जाऊँगा। आनन्दके समुद्रमें डूबता, उतराता होऊँगा। कितना सौभाग्यमय होगा वह क्षण, कितना मधुर होगा उस समयका जीवन! वे कहेंगे 'वरदान माँगो' और मैं कहूँगा 'मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं तो तुम्हारी सेवा करूँगा, तुम्हें देखा करूँगा। तुम मुझे भूल जाओ या याद रक्खो मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा।' ऐसी भावना करते-करते पद्मनाभ आनन्द-विभोर हो जाते, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता, आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेममुग्ध अवस्था बहुत देरतक रहती। वे सारे संसारको भूलकर प्रभुकी सेवामें लगे रहते।

कभी-कभी उनके चित्तमें ठीक इसके विपरीत भावना होने लगती—'कहाँ मैं दीन-हीन, मलिनहृदय एक क्षुद्र प्राणी, कहाँ निखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति भगवान्! मेरे इस पापपूर्ण हृदयमें वे क्यों आने लगे? मैंने कौन-सी ऐसी साधना की है, जिसपर रीझकर वे मुझे दर्शन देंगे? न जप न तप, न दान न समाधि। जिस हृदयसे उनका चिन्तन करना चाहिए, उससे संसारका चिन्तन! यह तो अपराध है, इसका दण्ड मिलना चाहिए। मैं दुःखकी ज्वालामें झुलस रहा हूँ, विषयोंके लिए भटक रहा हूँ संसारमें; फिर भी भगवत्प्राप्तिकी आशा! यह मेरी दुराशा नहीं तो और क्या है? शरीरके लिए कितना चिन्तित हो जाता हूँ,

विषयोंके लिए कितनी उत्सुकता आ जाती है मेरे हृदयमें, संसारके लिए कितनी बार रो चुका हूँ मैं; पर भगवान्‌के लिए आंखोंमें दो बूंद आँसूतक नहीं आते। कैसी विडम्बना है, कितना पराङ्मुख जीवन है। क्या यही जीवन भगवत्प्राप्तिके योग्य है, इसका तो विनाश ही उचित और श्रेयस्कर है।' यही सब सोचते-सोचते इतनी वेदना होती उनके हृदयमें कि ऐसा मालूम होता मानो अब उनका हृदय फट जायगा। कई बार निराशा इतनी बढ़ जाती कि उन्हें अपना जीवन भार हो जाता, कभी कभी वे मूर्च्छित हो जाते और बेहोशीमें ही पुकारने लगते—'हे प्रभो, हे स्वामी, हे पुरुषोत्तम! क्या तुम मुझे अपना दर्शन नहीं दोगे? इसी प्रकार रोते-रोते, विलखते-बिलखते मर जाना ही मेरे भाग्यमें बदा है? मैं मृत्युसे नहीं डरता, इस बीच जीवनका अन्त हो जाय—यही अच्छा है। परन्तु मैं तुम्हें देख नहीं पाऊँगा। न जाने कितने जन्मोंके बाद तुम्हारे दर्शन हो सकेंगे। मेरी यह करुण पुकार क्या तुम्हारे विश्वव्यापी कानोंतक नहीं पहुँचती? अपना लो प्रभो! मेरी ओर न देखकर अपनी ओर देखो।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वे चेतनाशून्य हो जाते और उनका शरीर घण्टोंतक यों ही पड़ा रहता।

लोग कहते हैं, भगवान्‌के लिए तप करो; परन्तु तपका अर्थ क्या है—इसपर विचार नहीं करते। जेठकी दुपहरीमें जब सूर्य बारहों कलासे तप रहे हों, पाँच अथवा चौरासी अग्नियोंके बीचमें बैठना, अथवा घोर सर्दीमें पानीमें खड़े रहना—तपकी केवल इतनी ही व्याख्या नहीं है। तपका अर्थ है अपने किये हुए प्रमादके लिए पश्चात्ताप। अपने जीवनकी निम्न स्थितिसे असन्तोष और भगवान्‌के विरहकी वह ज्वाला जो जीवनकी सम्पूर्ण कलुषताओंको जलाकर उसे सोनेकी भाँति चमका दे—वास्तवमें

यही तपका अर्थ है। यही ताप देवदुर्लभ तप है। पद्मनाभका जीवन इसी तपस्यासे परिपूर्ण था और वे सच्चे अर्थमें तपस्वी थे। एक दिन उनकी यह तपस्या पराकाष्ठाको पहुँच गयी। उन्होंने सच्चे हृदयसे, सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान्‌से प्रार्थना की—'हे प्रभो, अब मुझे अधिक न तरसाओ। तुम्हारे दर्शनकी आशामें अब मैं और कितने दिनोंतक जीवित रहूँ? एक-एक पल कल्पके समान बीत रहा है, संसार सूना दीखता है और मेरा यह दग्ध जीवन, यह प्रभुहीन जीवन विषसे भी कटु मालूम हो रहा है। वे आँखें किस कामकी, जिन्होंने आजतक तुम्हारे दर्शन नहीं किये? अब इनका फूट जाना ही अच्छा है। यदि इस जीवनमें तुम नहीं मिल सकते तो इसे नष्ट कर दो। मुझे स्त्री-पुत्र, धन-जन, लोक-परलोक कुछ नहीं चाहिए। मुझे तो तुम्हारा दर्शन चाहिए, तुम्हारी सेवा चाहिए। एक बार तुम मुझे अपना स्वीकार कर लो, बस इतना ही चाहिए। गज, ग्राह, गणिका और गीधपर जैसी कृपा तुमने की, क्या उसका पात्र मैं नहीं हूँ? तुम तो बड़े कृपालु हो, कृपापरवश हो; कृपालुता ही तुम्हारा विरद है। मेरे ऊपर भी अपनी कृपाकी एक किरण डालो।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते पद्मनाभ भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके स्मरणमें तन्मय हो गये।

भगवान्‌के धैर्यकी भी एक सीमा है। वे अपने प्रेमियोंसे कबतक छिप सकते हैं। वे तो सर्वदा, सब जगह, सबके पास ही रहते हैं, केवल प्रकट होनेका अवसर ढूँढ़ा करते हैं। जब देखते हैं कि मेरे प्रकट हुए बिना अब काम नहीं चल सकता, तब तत्क्षण प्रकट हो जाते हैं। वे तो पद्मनाभके पास पहलेसे ही थे; उनके ताप, उत्कण्ठा और प्रार्थनाको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। जब उनकी अवधि पूरी हो गयी, तब वे पद्मनाभ ब्राह्मणके सम्मुख

प्रकट हो गये। सारा स्थान भगवान्की दिव्य अङ्गज्योतिसे भर गया। पद्मनाभकी पलकें खुल गयीं। सहस्र-सहस्र सूर्यके समान दिव्य प्रकाश और उसके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्! हृदय शीतल हो गया। आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। पद्मनाभका सम्पूर्ण हृदय उन्मुक्त होकर भगवान्के कृपापूर्ण नेत्रोंसे बरसती हुई प्रेम-धारामें डूबने-उतराने लगा। जन्म-जन्मकी अभिलाषा पूरी हुई। कुछ कहा नहीं जाता था। भगवान्ने एकाएक ऐसे अनुग्रहकी वर्षा की कि वे चकित-स्तम्भित रह गये। भगवान् केवल मुस्करा रहे थे।

कुछ क्षणोंतक निस्तब्ध रहकर गद्गद वाणीसे पद्मनाभने स्तुति की—प्रभो! आप ही मेरे, निखिल जगत्के और जगत्के स्वामियोंके भी स्वामी हैं; सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य आपके ही आश्रित हैं। आप पतितपावन हैं, आपके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश हो जाता है। आप घट-घटमें व्यापक हैं, जगत्के वाहर और भीतर केवल आप ही हैं। आप विश्वातीत, विश्वेश्वर और विश्वरूप होनेपर भी भक्तोंपर कृपा करके इनके सामने प्रकट हुआ करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता भी आपका रहस्य नहीं जानते, केवल आपके चरणोंमें भक्तिभावसे नम्र होकर प्रणाम करते हैं। आपकी सुन्दरता, आपकी कोमलता और आपकी प्रेमवशता किसे आपकी ओर आकृष्ट नहीं कर लेती? आप क्षीरसागरमें शयन करते रहते हैं, फिर भी अपने भक्तोंकी विपत्तिका नाश करनेके लिए सर्वत्र चक्रधारी रूपमें विद्यमान रहते हैं। भक्त आपके हैं और आप भक्तोंके। जिसने आपके चरणोंमें अपना सिर झुकाया, उसको आपने समस्त विपत्तियोंसे वचाकर परमानन्दमय अपना धाम दिया। आप योगियोंके

समाधिगम्य हैं, वेदान्तियोंके ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं, और भक्तोंके सर्वस्व हैं। मैं आपका हूँ, आपके चरणोंमें समर्पित हूँ—नत हूँ।' इतना कहकर पद्मनाभ मौन हो गये, और कहना ही क्या था?

अब भगवान्‌की बारी आयी। वे जानते थे कि पद्मनाभ निष्काम भक्त हैं, इनके चित्तमें संसारके भोगोंकी तो बात ही क्या—मुक्तिकी भी इच्छा नहीं है। इसलिए उन्होंने पद्मनाभसे वर माँगनेको नहीं कहा। उनके चित्तकी स्थिति जानकर उनको सुधामयी वाणीसे सींचते हुए भगवान्‌ने कहा—'हे महाभाग ब्राह्मणदेव, मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें केवल मेरी सेवाकी इच्छा है। तुम लोक-परलोक, मुक्ति और मेरे धामतक-का परित्याग करके मेरी पूजा-सेवामें ही सुख मानते हो और वही करना चाहते हो; तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। कल्पपर्यन्त मेरी सेवा करते हुए यहीं निवास करो। अन्तमें तो तुम्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और पद्मनाभ भगवान्‌की शारीरिक तथा मानसिक सेवा करते हुए अपना सर्वश्रेष्ठ एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे। भगवान्‌की सेवा-पूजासे बढ़कर और ऐसा कर्तव्य ही कौन-सा है, जिसके लिए भगवान्‌के प्रेमी भक्त जीवन धारण करें? पद्मनाभकी प्रत्येक क्रिया, उनकी प्रत्येक भावना भगवान्‌के लिए ही होती थी और स्वभावसे ही उनके द्वारा जगत्‌का कल्याण सम्पन्न होता था। ऐसे भक्त एकान्तमें रहकर भी, भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहकर भी अपने शुद्ध सङ्कल्पसे संसारकी जितनी सेवा कर सकते हैं, उतनी सेवा काममें लगे रहकर बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ भी नहीं कर सकते।

इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा-पूजा करते हुए पद्मनाभको अनेक वर्ष बीत गये। वे एक दिन भगवान्‌का स्मरण करते

हुए उनकी पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर रहे थे, इसी समय एक भयङ्कर राक्षसने उनपर आक्रमण किया। उन्हें अपने शरीरका मोह नहीं था। मरनेके बाद किसी दुःखमय स्थानमें जाना पड़ेगा, यह आशङ्का भी उनके चित्तमें नहीं थी। परन्तु राक्षस खा जायेगा, इस कल्पनासे उनके चित्तमें यह प्रश्न अवश्य उठा कि तब क्या भगवान्‌ने मुझे अपनी सेवा-पूजाका जो अवसर दिया है, वह आज ही, इसी क्षण समाप्त हो जायगा? मेरे इस सौभाग्यकी यहीं इस प्रकार पूर्णाहुति हो जायगी? भगवान्‌ने मुझे जो एक कल्पतक पूजा करनेका वरदान दिया है, वह क्या झूठा हो जायगा? यह तो बड़े दुःखकी बात है। ऐसा सोचकर वे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—'हे दयासागर! हे दीनोंके एकमात्र आश्रय! हे अन्तर्यामी! हे चक्रपाणे! आप मेरी रक्षा करें, मेरी रक्षा करें। जो भी आपकी शरणमें आया, आपने उसकी रक्षा की। मैं आपका शरणागत हूँ, आपका अपना हूँ; क्या आपके देखते-देखते यह राक्षस मुझे खा जायगा? जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया था, दुर्वासाकी कृत्या अम्बरीषको खा जाना चाहती थी, तब आपने अपना चक्र भेजकर उनकी रक्षा की थी। प्रह्लादकी रक्षाके लिए स्वयं आप ही पधारे थे। इस राक्षसका साहस तो इतना बढ़ गया है कि यह आपके वरदानको ही खा जाना चाहता है। प्रभो! अपने विरदकी रक्षा कीजिये, मुझे इस राक्षससे बचाइये।'

तीखी सुईसे कमलका कोमल दल वेधनेमें विलम्ब हो सकता है, परन्तु सच्ची प्रार्थनाके भगवान्‌तक पहुँचनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं हो सकता। अन्तर्यामी भगवान् भक्त पद्मनाभकी प्रार्थनाके पहले ही जान गये थे कि उनपर सङ्कट आया है। भगवान् जानते तो सब कुछ हैं और करते भी सब कुछ ठीक

ही हैं; लोग उनके विधानपर निर्भर नहीं रह पाते, इसीसे कुछ कहने या सोचने लगते हैं। भगवान्‌ने भक्त पद्मनाभकी रक्षाके लिए अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको भेजा। चक्रका तेज कोटि-कोटि सूर्यके समान है। भक्तोंके भयको भस्म करनेके लिए आगकी भीषण लपटें उससे निकला करती हैं। चक्रकी तेजोमय मूर्ति देखकर वह राक्षस भयभीत हो गया और ब्राह्मणको छोड़कर बड़े वेगसे भागा। परन्तु सुदर्शन चक्र उसे कब छोड़नेवाले थे? उन्हें इस राक्षसका भी तो उद्धार करना था।

यह राक्षस आजसे सोलह वर्ष पहले गन्धर्व था। इसका नाम सुन्दर था। एक दिन श्रीरङ्गक्षेत्रमें अपनी स्त्रियोंके साथ कावेरी नदीमें जलविहार कर रहा था। उसी समय उधरसे श्रीरङ्गनाथके परमभक्त महर्षि वसिष्ठ निकले, उन्हें देखकर स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं। उन्होंने जल्दीसे बाहर निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। परन्तु मदान्ध सुन्दर जहाँ-का-तहाँ उच्छृङ्खलभावसे खड़ा रहा। महर्षि वसिष्ठने उसके इस अनुचित कृत्यको देखकर डाँटा और कहा—'नीच गन्धर्व! तू इस पवित्र क्षेत्रमें, इस पावन नदीमें, इतना गर्हित कृत्य कर रहा है! तू गन्धर्व रहने योग्य नहीं है; जा राक्षस हो जा।' वसिष्ठके शाप देते ही उसकी स्त्रियोंने दौड़कर महर्षिके चरण पकड़ लिये। उन्होंने प्रार्थना की कि हे महर्षे! आप बड़े शक्तिमान्, धर्मज्ञ और दयालु हैं। आप हम लोगोंकी ओर देखकर हमारे पतिदेवपर क्रोध न करें। पति ही स्त्रियोंका शृङ्गार है, पति ही सती स्त्रियोंका जीवन है; यदि सौ पुत्र हों तो भी पतिके बिना स्त्री विधवा कही जाती है। पतिके बिना स्त्रीका जीवन शून्य है। हे दयासागर, आप हमपर प्रसन्न हों। हम स्त्रियोंके

सम्मानके लिए हमारे स्वामीपर कृपा करें। उनका यह एक अपराध आपकी दयालुतासे हमारी ओर देखकर क्षमा करें; वे आपके सेवक हैं, आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें हैं।, महर्षि वसिष्ठ प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा—'देवियो, तुम्हारा पतिप्रेम आदर्श है, परन्तु मेरी बात कभी झूठी नहीं होती, मैं जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलता, इसलिए अनजानमें कही हुई बात भी सत्य हो जाती है। इसलिए सुन्दरको राक्षस तो होना ही पड़ेगा; परन्तु आजके सोलहवें वर्ष जब यह भगवान्‌के भक्त पद्मनाभपर आक्रमण करेगा, तब सुदर्शन चक्र इसका उद्धार कर देंगे?'

आज वही सोलहवाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। राक्षस बड़े वेगसे भाग रहा था, परन्तु सुदर्शन चक्रसे बचकर कहाँ जा सकता था? देखते-ही-देखते, सुदर्शन चक्रने उसका सिर काट लिया और तत्क्षण वह राक्षस गन्धर्व हो गया। दिव्य शरीर, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभूषणोंसे युक्त होकर सुन्दरने सुदर्शन चक्रको प्रणाम करते हुए स्तुति की—'हे भगवान्‌के परम प्रिय आयुध! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका तेज कोटि-कोटि सूर्यसे भी अधिक है। आप भक्तोंके द्रोहियोंका संहार करते हैं। आपने कृपा करके मुझे राक्षसयोनिसे मुक्त किया! अब मैं गन्धर्व होकर अपने लोकमें जा रहा हूँ, आप सर्वदा मुझपर कृपा रखिये। मुझे आप ऐसा वरदान दीजिये कि मैं आपको कभी न भूलूँ और सर्वदा आपका स्मरण करता रहूँ। मैं चाहे जहाँ रहूँ, मेरा मन आपकी सन्निधिमें रहे।' सुदर्शन चक्रने 'तथास्तु' कहकर उसकी अभिलाषा पूर्ण की। उसने दिव्य विमानपर बैठकर अपने लोककी यात्रा की।

भक्त पद्मनाभने सुन्दरके गन्धर्वलोक में चले जानेपर सुदर्शन

चक्रकी स्तुति की—'हे सुदर्शन, मैं तुम्हें बार-बार प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे जीवनका व्रत है संसारकी रक्षा। इसीसे भगवान्ने तुम्हें अपने करकमलोंका आभूषण बनाया है। तुमने समय-समयपर अनेक भक्तोंको महान् विपत्तियोंसे बचाया है, मैं तुम्हारी इस कृपाका ऋणी हूँ। तुम सर्वशक्तिमान् हो, मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम यहीं रहो और सारे संसारकी रक्षा करो।' सुदर्शन चक्रने भक्त पद्मनाभकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा—'भक्तवर, तुम्हारी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि भगवान्के तुम परम कृपा-पात्र हो। मैं यहीं तुम्हारे समीप ही सर्वदा निवास करूँगा। तुम निर्भय होकर भगवान्की सेवा-पूजा करो। अब तुम्हारी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ सकता।' भक्त पद्मनाभको इस प्रकारका वरदान देकर सुदर्शन चक्र सामनेकी पुष्करिणीमें प्रवेश कर गये। इसीसे उसका नाम चक्रतीर्थ हुआ।

भगवान्की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त पद्मनाभका हृदय प्रेम और आनन्दसे भर गया। वे और भी तन्मयता तथा तत्परतासे भगवान्की सेवा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसे प्रेमी भक्तोंका जीवन ही धन्य है, क्योंकि वे पल-पलपर और पग-पगपर भगवान्की अनन्त कृपाका अनुभव करके मस्त रहा करते हैं।

धन्य हैं प्रेमी भक्त और उनके प्रियतम प्रभु!

•

भक्त किरात और नन्दी वैश्य

आशुतोष भगवान् शंकर औढरदानीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनकी मूर्ति वैराग्य, शान्ति, ज्ञान, कृपा और शक्तिकी प्रतीक है। वे सर्वेश्वर होकर श्मशानवासी हैं, कर्पूरधवल होनेपर भी सारे शरीरमें भस्म लपेटे रहते हैं, अर्द्धनारीश्वर होनेपर भी ऊर्ध्वरेता हैं, धनाधीश कुबेर उनकी आज्ञाकी बाट देखते रहते हैं, फिर भी वे कृत्तिवासा हैं। स्वार्थ और परमार्थसे ऊपर उठे होनेपर भी जगत्के आदर्शके लिए वे तपस्यामें संलग्न रहते हैं। भगवान् विष्णुकी मूर्ति आनन्दमय है तो शङ्करकी ज्ञानमयी शङ्कर विष्णुके हृदय हैं तो विष्णु शङ्करके। दोनोंके स्वरूप दोनों हैं इसलिए दोनों ही एक एवं ज्ञानानन्दघन हैं। किसी भी एककी उपासना कीजिये, फल एक ही है। वास्तवमें उनकी उपासना ही जीवनका फल है। जैसे विष्णुके अनेक भक्त हो गये हैं, वैसे ही शिवके भी। जैसे भगवान् शङ्कर दिव्य हैं, वैसे ही उनके भक्त और उनकी भक्ति भी। वे कब, किसपर, क्यों रीझते हैं—यह कहा नहीं जा सकता। इस सम्बन्धमें अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। यहाँ शिवभक्त किरात और नन्दी वैश्यकी कथाका उल्लेख किया जाता है।

प्राचीनकालमें नन्दी नामके वैश्य अवन्ती नगरीके एक धनी-मानी और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे बड़े सदाचारी थे, अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके पालनमें उनकी बड़ी निष्ठा थी। प्रतिदिन शिवपूजा करनेका तो उन्होंने नियम ही ले रखा था। प्रतिदिन

प्रातःकाल उठते, विधि-विधान जाननेवाले ब्राह्मणोंके साथ मन्दिरमें जाते और अपनी शक्तिके अनुसार भगवान् शङ्करकी पूजा करते। पञ्चामृतसे स्नान कराकर नाना प्रकारके रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प चढ़ाते और उपहारमें मणि, मोती और हीरे समर्पित करते। नैवेद्यके लिए अनेक प्रकारकी सामग्री नित्य तैयार करवाते और बड़े उत्साहसे उसका भोग लगाते। उनका यह नित्यनियम बहुत वर्षोंतक चलता रहा।

यद्यपि भगवान् शंकर केवल पूजासे भी प्रसन्न होते हैं, इन्द्रसेन राजापर तो जो अपने सैनिकोंसे 'आहर-प्रहर' कहा करता था उसके 'हर-हर' इस उच्चारणपर ही प्रसन्न हो गये—तथापि वे अपने भक्तमें कोई त्रुटि नहीं रहने देना चाहते; इसलिए कभी-कभी प्रसन्न होनेमें विलम्ब भी कर दिया करते हैं। यह विलम्ब भी उनकी अतिशय कृपासे परिपूर्ण ही होता है। उन्होंने वहाँ एक ऐसी घटना घटित की जिससे यह मालूम हो जाय कि भगवान् केवल नियमपालनसे ही प्रसन्न नहीं होते, उनके लिए और भी कुछ आवश्यक है और वह है भाव-भक्ति, प्रेम एवं आत्मसमर्पण।

जिस मन्दिरमें नन्दी वैश्य पूजा करते थे, वह बस्तीसे कुछ दूर जंगलमें था। एक दिनकी बात है कि कोई किरात शिकार खेलता हुआ उधरसे निकला। प्राणियोंकी हिंसामें, जो कि अत्यन्त गर्हित है, उसे रस मिलता था। उसकी बुद्धि जड़प्राय थी, उसमें विवेकका लेश भी नहीं था। दोपहरका समय था, वह भूख प्याससे व्याकुल हो रहा था। मन्दिरके पास आकर वहाँके सरोवरमें उसने स्नान किया और जल-पानकर अपनी तृषा शान्त की। जब वहाँसे लौटने लगा, तब उसकी दृष्टि मन्दिरपर पड़ी। पूर्वजन्मके न जाने कौन-से संस्कार उसके

चित्तमें उग आये और उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मन्दिरमें जाकर भगवान्‌का दर्शन कर लूँ। जब उसने मन्दिरमें जाकर भगवान् शङ्करका दर्शन किया तो उसके चित्तमें पूजा करनेका संकल्प उठा और उसने अपनी बुद्धिके अनुसार पूजा की।

उसने कैसे पूजा की होगी इसका अनुमान सहज ही लग सकता है। न उसके पास पूजाकी सामग्री थी और न वह उसे जानता ही था। किस सामग्रीका उपयोग किस विधिसे किया जाता है, यह जाननेकी भी उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उसने देखा, लोगोंने स्नान कराकर बिल्वपत्र आदि चढ़ाये हैं। उसने एक हाथसे बिल्वपत्र तोड़ा, दूसरे हाथमें मांस पहलेसे ही था। गण्डूष-जलसे स्नान कराकर उसने बिल्वपत्र और मांस चढ़ा दिया। वह मांसभोजी भील था, उसको इस बातका पता नहीं था कि देवताको मांस नहीं चढ़ाना चाहिए। यही काम यदि कोई जान-बूझकर करे तो वह दोषका भागी होता। परन्तु उसने तो भावसे अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार पूजा की थी। बड़ा आनन्द हुआ उसे, प्रेममुग्ध होकर वह शिवलिंगके सम्मुख साष्टाङ्ग दण्डवत् करने लगा। उसने दृढ़तासे यह निश्चय किया कि आजसे मैं प्रतिदिन भगवान् शङ्करकी पूजा करूँगा। उसका यह निश्चय अविचल था, क्योंकि यह उसके गम्भीर अन्तस्तलकी प्रेरणा थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल नन्दी वैश्य पूजा करने आये। मन्दिरकी स्थिति देख वे अवाक् रह गये। कलकी पूजा इधर-उधर बिखरी पड़ी थी, मांसके टुकड़े भी इधर-उधर पड़े थे। उन्होंने सोचा—'यह क्या हुआ? मेरी पूजामें ही कोई त्रुटि हुई होगी, जिसका यह फल है। इस प्रकार मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला विघ्न तो कभी नहीं हुआ था। अवश्य ही यह मेरा दुर्भाग्य है।' यही सब

सोचते हुए उन्होंने मन्दिर साफ किया और पुनः स्नानादि करके भगवान्की पूजा की। घर लौटकर उन्होंने पुरोहितसे सारा समाचार कह सुनाया और बड़ी चिन्ता प्रकट की। पुरोहितको क्या मालूम था कि इस काममें भी किसीका भक्ति-भाव हो सकता है। उन्होंने कहा—'अवश्य ही यह किसी मूर्खका काम है, नहीं तो रत्नोंको इधर-उधर बिखेरकर भला कोई मन्दिरको अपवित्र एवं भ्रष्ट क्यों करता? चलो, कल हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे और देखेंगे कि कौन दुष्ट ऐसा काम करता है?' नन्दी वैश्यने बड़े दुःखसे वह रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते-न-होते नन्दी वैश्य अपने पुरोहितको लेकर शिव-मन्दिर पहुँच गया। देखा, वही हालत आज भी थी जो कल थी। वहाँ मार्जन आदि करके नन्दीने शिवजीको पञ्चोपचार पूजा की और रुद्राभिषेक किया। ब्राह्मण स्तुतिपाठ करने लगे। वेद-मन्त्रोंकी ध्वनिसे वह जंगल गूँज उठा, सबकी आँख लगी हुई थी कि देखें मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला कब किधरसे आता है।

दोपहरके समय किरात आया। उसकी आकृति बड़ी भयङ्कर थी। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए था। शङ्कर भगवान्की कुछ ऐसी लीला ही थी कि किरातको देखकर सब-के-सब डर गये और एक कोनेमें जा छिपे। उनके देखते-देखते किरातने उनकी की हुई पूजा नष्ट-भ्रष्ट कर दी एवं गण्डूष-जलसे स्नान कराकर बिल्वपत्र और मांस चढ़ाया। जब वह साष्टाङ्ग नमस्कार करके चला गया, तब नन्दी वैश्य और ब्राह्मणोंके जीमें जी आया और सब बस्तीमें लौट आये। नन्दीके पूछनेपर ब्राह्मणोंने यह व्यवस्था दी कि यह उपासनाका विघ्न है। बड़े-बड़े देवता भी इसका निवारण नहीं कर सकते। इसलिए उस

लिङ्गमूर्तिको ही अपने घर ले आना चाहिए। उन विद्वानोंके चित्तमें यह बात कब आ सकती थी कि वह किरात नन्दी वैश्यकी अपेक्षा भगवान्‌का श्रेष्ठ भक्त है और वह भी अपनी जानमें भगवान्‌की उपासना ही करता है। ब्राह्मणोंकी व्यवस्थाके अनुसार शिवलिङ्ग वहाँसे उखाड़ लाया गया और नन्दी वैश्यके घरपर विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी। उनके घर सोने और मणि-रत्नोंकी कमी तो थी ही नहीं, संकोच छोड़कर उनका उपयोग किया गया; परन्तु भगवान्‌को धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए।

प्रतिदिनके नियमानुसार किरात अपने समयपर शङ्करकी पूजा करने आया; परन्तु मूर्तिको न पाकर सोचने लगा—'यह क्या, भगवान् तो आज हैं ही नहीं।' मन्दिरका एक-एक कोना छान डाला, एक-एक छिद्रको ध्यानपूर्वक देखा, मन्दिरके आस-पास भी यथासम्भव ढूँढ़नेकी चेष्टा की; परन्तु सब व्यर्थ। उसके भगवान् उसे नहीं मिले। किरातकी दृष्टिमें वह मूर्ति नहीं थी, स्वयं भगवान् थे। अपने प्राणोंके लिए वह भगवान्‌की पूजा नहीं करता था। अपने जीवनसर्वस्व प्रभुको न पाकर वह विह्वल हो गया और बड़े आर्तस्वरसे पुकारने लगा—'महादेव, शम्भो, मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये? प्रभो, अब एक क्षणका भी विलम्ब सहन नहीं होता। मेरे प्राण तड़फड़ा रहे हैं, छाती फटी जा रही है, आँखोंसे कुछ सूझता नहीं। मेरी करुण पुकार सुनो, मुझे जीवनदान दो। अपने दर्शनसे मेरी आँखें तृप्त करो! जगन्नाथ, त्रिपुरान्तक, यदि तुम्हारे दर्शन नहीं होंगे तो मैं जीकर क्या करूँगा? मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ और सच कहता हूँ, तुम्हारे विना मेरी क्या दशा हो रही है, मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता। क्या तुम देख नहीं रहे हो आशुतोष, कि यह निष्ठुरता

तुम्हारे अनुरूप नहीं है ? क्या तुमने समाधि लगा ली ? क्या कहीं जाकर सो गये ? मेरी करुण पुकार क्या तुम्हारे कानोंतक नहीं पहुँच रही है ?' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते किरातकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा अविरल रूपसे बहने लगी। वह विकल हो गया, अपने हाथोंको पटकने तथा शरीरको पीटने लगा। उसने कहा—'अपनी जानमें मैंने कोई अपराध नहीं किया है, फिर क्या कारण है कि तुम चले गये ? अच्छा यही सही; मैं तो तुम्हारी पूजा करूँगा ही। किरातने अपने हाथसे बहुत-सा मांस काटकर उस स्थानपर रक्खा जहाँ पहले शिवलिङ्ग था। स्वस्थ हृदयसे, क्योंकि अब उसने प्राणत्यागका निश्चय कर लिया था, सरोवरमें स्नान करके सदाकी भाँति पूजा की और साष्टाङ्ग प्रणाम करके ध्यान करने बैठ गया।

ध्यान तो बहुत-से लोग करते हैं, परन्तु वे तो कुछ समय तक कर्तव्यपालनके लिए ध्यान करते हैं। इसीसे वे अपने अन्तर्देशमें प्रवेश नहीं कर पाते, क्योंकि ध्यानके बादके लिए बहुत-सी वासनाओंको वे सुरक्षित रक्खे रहते हैं। किरातके चित्तमें अब एक भी वासना अवशिष्ट नहीं थी, वह केवल भगवान्का दर्शन चाहता था। ध्यान अथवा मृत्यु यही उसकी साधना थी। यही कारण है कि विना किसी विक्षेपके उसने लक्ष्यवेध कर लिया और उसका चित्त भगवान्के लीलालोकमें विचरण करने लगा। उसकी अन्तर्दृष्टि भगवान्के कर्पूरोज्ज्वल भस्मभूषित, गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापसे शोभित एवं सर्पपरिवेष्टित अङ्गोंकी सौन्दर्यसुधाका पान करने लगी और वह उनकी लीलामें सम्मिलित होकर विविध प्रकारसे उनकी सेवा करने लगा। उसे बाह्य जगत्, शरीर अथवा अपने-आपकी सुधि नहीं थी; वह केवल अन्तर्जगत्की अमृतमयी सुरभिसे

छक रहा था, मस्त हो रहा था। बाहरसे देखनेपर उसका शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंसे आँसूकी बूँदें ढुलक रही थीं, रोम-रोमसे आनन्दकी धारा फूटी पड़ती थी। उस क्रूरकर्मा किरातके अन्तरालमें इतना माधुर्य कहाँ सो रहा था, इसे कौन जान सकता है।

किरातकी तन्मयता देखकर शिवने अपनी समाधि भङ्ग की। वे उसके हृदयदेशमें नहीं, इन चर्मचक्षुओंके सामने—जिनसे हम लोग इस संसारको देखते हैं—प्रकट हुए। उनके ललाटदेश-स्थित चन्द्रने अपनी सुधामयी रश्मियोंसे किरातकी काया उज्ज्वल कर दी। उसके शरीरका अणु-अणु बदलकर अमृतमय हो गया। परन्तु उसकी समाधि ज्यों-की-त्यों थी। भगवान्‌ने मानो अपनी अनुपस्थितिके दोषका परिमार्जन करते हुए किरातसे कहा—'हे महाप्राज्ञ, हे वीर, मैं तुम्हारे भक्तिभाव और प्रेमका ऋणी हूँ। तुम्हारी जो बड़ी-से-बड़ी अभिलाषा हो, वह मुझसे कहो; मैं तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकता हूँ।' भगवान्‌की वाणी और सङ्कल्पने किरातको बाहर देखनेके लिए विवश किया; परन्तु जब उसने जाना कि मैं जो भीतर देख रहा था वही बाहर भी है, तब तो उसकी प्रेमभक्ति पराकाष्ठाको पहुँच गयी और वह सर्वाङ्गसे नमस्कार करता हुआ श्रीभगवान्‌के चरणोंमें लोट गया। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक उठानेपर और प्रेरणा करनेपर उसने प्रार्थना की—'भगवन्, मैं आपका दास हूँ; आप मेरे स्वामी हैं—मेरा यह भाव सदा बना रहे और मुझे चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े, मैं तुम्हारी सेवामें संलग्न रहूँ। प्रतिक्षण मेरे हृदयमें तुम्हारा प्रेम बढ़ता ही रहे। प्रभो! तुम्हीं मेरी दयामयी माँ हो और तुम्हीं मेरे न्यायशील पिता हो। मेरे सहायक बन्धु और प्राणप्रिय सखा भी तुम्हीं हो। मेरे

गुरुदेव, मेरे इष्टदेव और मेरे मन्त्र भी तुम्हीं हो। तुम्हारे अतिरिक्त तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं है, केवल तुम्हीं हो।' किरातकी निष्काम प्रेमपूर्ण प्रार्थना सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सर्वदाके लिए उसे अपना पार्षद बना लिया। उसे पार्षदरूपमें प्राप्त करके शङ्करको बड़ा आनन्द हुआ और वे अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिए डमरू बजाने लगे।

भगवान्के डमरूके साथ ही तीनों लोकमें भेरी, शंख, मृदङ्ग और नगारे बजने लगे। सर्वत्र 'जय-जय'की ध्वनि होने लगी। शिवभक्तोंके चित्तमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यह आनन्द-कोलाहल तत्क्षण नन्दी वैश्यके घर पहुँच गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अविलम्ब वहाँ पहुँचे। किरातके भक्तिभाव और भगवत्-प्रसादको देखकर उनका हृदय गद्गद हो गया और जो कुछ अज्ञानरूप मल था उनके चित्तमें कि भगवान् धन आदिसे प्राप्त हो सकते हैं वह सब धुल गया, वे मुग्ध होकर किरातकी स्तुति करने लगे—'हे तपस्वी, तुम भगवान्के परम भक्त हो; तुम्हारी भक्तिसे ही प्रसन्न होकर भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। अब तुम्हीं मुझे भगवान्के चरणोंमें अर्पित करो! नन्दीकी बातसे किरातको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्क्षण नन्दीका हाथ पकड़कर भगवान्के चरणोंमें उपस्थित किया। उस समय भोले बाबा सच-मुच भोले बन गये। उन्होंने किरातसे पूछा—'ये कौन सज्जन हैं? मेरे गणोंमें इन्हें लानेकी क्या आवश्यकता थी?' किरातने कहा—'प्रभो, ये आपके सेवक हैं, प्रतिदिन रत्न-माणिक्यसे आपकी पूजा करते थे। आप इनको पहचानिये और स्वीकार कीजिये।' शङ्करने हँसते हुए कहा—'मुझे तो इनकी बहुत कम याद पड़ती है। तुम तो मेरे प्रेमी हो, सखा हो; परन्तु ये कौन हैं? देखो

भाई, जो निष्काम हैं, निष्कपट हैं और हृदयसे मेरा स्मरण करते हैं, वे ही मुझे प्यारे हैं, मैं उन्हींको पहचानता हूँ।' किरातने प्रार्थना की—'भगवन्, मैं आपका भक्त हूँ और यह मेरा प्रेमी है। आपने मुझे स्वीकार किया और मैंने इसे, हम दोनों ही आपके पार्षद हैं।' अब तो भगवान् शङ्करको बोलनेके लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। भक्तकी स्वीकृति भगवानकी स्वीकृतिसे बढ़कर होती है। किरातके मुँहसे यह बात निकलते ही सारे संसारमें फैल गयी। लोग शत-शत मुखसे प्रशंसा करने लगे कि किरातने नन्दी वैश्यका उद्धार कर दिया।

उसी समय बहुत-से ज्योतिर्मय विमान वहाँ आगये। भगवान् शङ्करका सारूप्य प्राप्त करके दोनों भक्त उनके साथ कैलास गये और माँ पार्वतीके द्वारा सत्कृत होकर वहीं निवास करने लगे। यही दोनों भक्त भगवान् शङ्करके गणोंमें नन्दी और महाकालके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार नन्दीकी भक्तिके द्वारा किरातकी भक्तिको उत्तेजित करके और किरातकी भक्तिके द्वारा नन्दीकी भक्तिको पूर्ण करके आशुतोष भगवान् शङ्करने दोनोंको स्वरूप-दान किया और कृतकृत्य बनाया।

धन्य हैं ऐसे दयालु भगवान् और उनके प्रेमी भक्त!

भक्त राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशमें पाण्डय और चोलवंशियोंके राज्य चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। उनके प्रजापालनकी बात आज भी बड़े प्रेमसे कही-सुनी जाती है। वे प्रजाको सगे पुत्रसे बढ़कर मानते थे और प्रजा भी उन्हें मनुष्यके रूपमें परमेश्वर ही समझती थी। सब सुखी थे, सर्वत्र शान्ति थी। जिन दिनों पाण्डयवंशकी राजधानी मधुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं, उसके एकच्छत्र अधिपति थे राजा पुण्यनिधि। पुण्यनिधिका नाम सार्थक था; वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी, उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्यप्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते थे। उनके पास सेना प्रजाकी रक्षाके लिए ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुःखियोंकी सहायता करते। सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि वे जो कुछ भी करते थे, भगवान्के लिए, भगवान्की प्रसन्नताके लिए और भगवान्के प्रेमके लिए।

उनके चित्तमें न तो इस लोकके लिए कामना थी न परलोकके लिए। वे शुद्ध भावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर उन्हींकी शक्तिसे, उन्हींकी प्रसन्नताके लिए अपने कर्तव्योंका पालन करते थे।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार उनकी यह इच्छा थी कि समुद्रके पवित्र तटपर गन्धमादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक निवास किया जाय। इसलिए राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया और आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वे वहीं निवास करने लगे।

वैसे तो मथुरा भी एक परम पावन तीर्थ ही है। भगवती मीनाक्षी और भगवान् सोमसुन्दरकी क्रीड़ास्थली होनेके कारण उसकी महिमा भी कम नहीं है। परन्तु रामेश्वर तो रामेश्वर ही है। वहाँ भगवान् रामने शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा की है। सब तीर्थ मूर्तिमान् होकर वहाँ निवास करते हैं। वहाँका समुद्र, वहाँके जङ्गल—सभी मोहक हैं, तपोमय हैं और सात्त्विकताका सञ्चार करनेवाले हैं। राजा पुण्यनिधिका मन वहीं रम गया। वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये। उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वे जहाँ जाते, जहाँ रहते वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया करते। मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसलिए उनका अन्तःकरण शुद्ध था। शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी सङ्कल्प उठता है वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए होता है और उस सङ्कल्पके अनुसार जो क्रिया होती है वह भी भगवान्‌के लिए ही होती है। राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेदभाव नहीं था। वे कभी जङ्गलोंमें घूम-घूमकर भगवान् रामकी लीलाओंका अनुसन्धान करते। एक बार उनके मनमें आया कि

एक महान् यज्ञ करके भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त की जाय। बड़ी तैयारीके साथ यज्ञकी समाप्तिपर अवभृथ स्नान करनेके लिए राजा धनुष्कोटि तीर्थमें गये। रामेश्वर तीर्थसे बारह-तेरह मीलकी दूरीपर समुद्रमें धनुष्कोटि तीर्थ है। वहांका समुद्र धनुषाकार है। कहते हैं कि लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् राम लौटकर आ रहे थे तब उन्होंने यहाँ धनुषका दान किया था अथवा धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी थी। उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान्‌की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्ददायक होता है।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्‌की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली। वह कन्या क्या थी सौन्दर्यकी प्रतिमा थी। उसकी आँखोंमें पवित्रता थी और उसका सम्पूर्ण शरीर एक अद्भुत कोमलतासे भर रहा था मानो भगवान्‌की प्रसन्नता ही मूर्तिमान् होकर आयी हो। वास्तवमें वह भगवान्‌की प्रसन्नता ही थी। न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो उन्होंने वात्सल्य-स्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी! तुम कौन हो। किसकी कन्या हो, यहाँ किसलिए आयी हो?' कन्याने कहा—'मेरे माँ-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथ हूँ। मैं आपकी पुत्री बननेके लिए आयी हूँ। मैं आपके महलमें रहूँगी; आपको देखा करूँगी; लेकिन एक शर्त है, यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा। यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोंतक मैं आपके पास रहूँगी।'

राजा पुण्यनिधि यह नहीं समझ रहे थे कि मेरे अक्षय

पुण्योंका फल ही मूर्तिमान् होकर आया है। उन्हें इस बातका बिल्कुल पता नहीं था कि भगवान्‌की अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी ही मुझपर कृपा करनेके लिए भगवान्‌की इच्छासे उनसे प्रेम-कलह करके मेरे घर आयी हैं। उन्हें इस बातका अनुमान भी नहीं था कि ये मेरे धर्मकी, सत्यकी, प्रतिज्ञाके पालनकी परीक्षा लेकर मेरे जीवनको और भी उज्ज्वल रूपमें जगत्‌के सामने रखनेके लिए, भगवान्‌को प्रकट करनेके लिए, मेरे सामने प्रकट हुई हैं। भगवान्‌के प्यारे भक्त तो यों ही परम दयालु होते हैं, अनाथकी सेवा करनेके लिए उत्सुक रहते हैं; क्योंकि जो किसीका नहीं है, वह भगवान्‌का है। जो उसकी सेवा करता है, वह भगवान्‌के अपने जनकी सेवा करता है। राजा इस अनाथ लड़कीको कैसे छोड़ सकते थे। उनकी दृष्टिमें तो यह एक अनाथ लड़की ही नहीं थी, अस्पष्ट रूपमें उनके हृदयके किसी कोनेमें यह बात अवश्य थी कि इसका मेरे इष्टदेवसे सम्बन्ध है। हो-न-हो यह उन्हींकी कोई लीला है। राजाने कहा—'बेटी, तुम जो कह रही हो वह सब मैं करूँगा। मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है, तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो। जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी तब तुम जैसा चाहोगी वैसा कर दूँगा।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ समयपर राजधानीमें गयी। राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थी। अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थी। उनकी प्रसन्नताके लिए ही प्रत्येक चेष्टा करती थी। उसका मन राजाका मन था, उसका जीवन राजाका जीवन था। यह कन्या पाकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाने कहा यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके

साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिए। विन्ध्यावलीने प्रेमसे इस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपने पुत्रके समान ही इसका पालन-पोषण करने लगी। इस प्रकार कुछ दिन बीते।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब, किस बहाने किसपर कृपा करते हैं, यह उनके सिवा और कोई नहीं जानता। राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिए ही तो यह लीला रची गयी थी। अब वह अवसर आ पहुँचा। एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी। एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं, हँस-खेलकर आपसमें मनोरञ्जन कर रही थीं। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। उसके कन्धेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था। एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था, मानो अभी गङ्गास्नान करके लौट रहा हो। उसके शरीरमें भस्म लगा हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र था। हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शंकरका नाम। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या स्तब्ध-सी हो गयी। वह पहचान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है। यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूंढ़ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और आकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ आ पहुँचे और पूछा—'बेटी, तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है? किसने तुम्हारा अपमान किया है?' कन्याकी आँखोंमें आँसू थे, वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी, उसने कहा—'पाण्ड्यनाथ, इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी वह निडर

होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद आ गयी। वे सोचने लगे कि मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो उसे मैं दण्ड दूँगा। इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही ब्राह्मणको दण्ड देना चाहिए। उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें मुझपर कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और वे ब्राह्मण पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया। कन्या प्रसन्न होकर अन्तःपुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा—जिस ब्राह्मणको कैद किया गया है वह तो ब्राह्मण नहीं है। साक्षात् भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छबि, चारों करकमलोंमें शंख-चक्र गदा-पद्म, शरीरपर पीताम्बर एवं वक्षःस्थलपर कौस्तुभ-मणि और वनमाला धारण किये हुए हैं, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मुखमें-से दाँतोंकी किरणें निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। मकराकृति कुण्डलोंकी छटा निराली ही है। गरुड़के ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी वह कन्या लक्ष्मीके रूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। काले-काले घुँघराले बाल हैं। हाथमें कमल है, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण-कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विष्वक्सेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित—स्तम्भित हो गये। स्वप्न टूटते ही

वे अपनी कन्याके पास गये। परन्तु यह क्या ? कन्या कन्याके रूपमें नहीं है। स्वप्नमें जो रूप देखा था वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टांग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथ मन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके वे मूर्च्छित-से हो गये। त्रिलोकीके नाथको मैंने कैदमें डाल दिया; जिसकी पूजा करनी चाहिए, उसीको बेड़ीसे जकड़ दिया। धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है! बड़े-बड़े योगी लोग जिन्हें अपने हृदयके सिंहासनपर विराजमान करके अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं, अपने-आपको जिनका समझकर कृतार्थ हो जाते हैं, उन्हींके हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी। मुझसे बड़ा अपराधी भला और कौन हो सकता है? राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था, इतनेमें ही उन्हें भगवान्‌की कृपाका स्मरण हो आया। ऐसी अद्भुत लीला! भला उन्हें कौन बाँध सकता है! यशोदाने बांधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा शक्तिके घमण्डसे, अपने रोषसे, पर मुझसे भी बँध गये प्रभो! यह तुम्हारी कृपा-परवशता नहीं तो और क्या है?

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्‌गद कण्ठसे, आँसूभरी आँखोंसे, सिर झुकाकर, रोमाञ्चित शरीरसे हाथ जोड़कर स्तुति की 'प्रभो! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ। आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों; मैंने अनजानमें यह अपराध किया है; परन्तु अपराध चाहे जैसे किया गया हो, है अपराध हो। हे कमलनयन! हे कमलाकान्त! आपने रामावतार लेकर रावणका नाश किया, नृसिंहावतार ग्रहण करके

प्रह्लादको बचाया। आप सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त रहनेपर भी भक्तोंके लिए समय-समयपर प्रकट हुआ करते हैं। आपकी मूर्ति कृपामयी है। आप यदि अपनेको प्रकट नहीं करें तो संसारी लोग भला अपनेको कैसे पहचान सकते हैं। हे दयामूर्ते! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है। यदि आप मुझपर कृपा नहीं करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है। मैं आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर देखकर कहा—'हे देवि! हे जगद्धात्री! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका निवास भगवान्का वक्षःस्थल है। मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है। आपकी महिमाका भला कौन वर्णन कर सकता है? सिद्धि, सन्ध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा, आत्मविद्या आदि आप हीके नाम हैं, उन रूपोंमें आप ही प्रकट हो रही हैं। हे ब्रह्मस्वरूपिणी! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्से प्रार्थना की—'हे प्रभो! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये। यह सम्पूर्ण संसार और इसमें रहनेवाले सब जीव आपके नन्हें-नन्हें शिशु हैं। आप सबके एक मात्र पिता हैं। हे मधुसूदन! शिशुओंका अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं। प्रभो! जिन दैत्योंने अपराध किया था उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया। भगवन्! आप मेरे इस अपराधको भी क्षमा करें। हे नाथ! कृष्णावतारमें पूतना आपको मार डालनेकी इच्छासे आयी थी। उसे आपने अपने चरणकमलोंमें स्थान दिया। हे लक्ष्मीकान्त! आप अपनी कृपा-कोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें।'

● ● ●

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने कहा—'हे राजन्! मुझे कैद करनेके कारण भयभीत होना उचित नहीं है। मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका कैदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ। तुमने मेरी प्रसन्नताके लिए यज्ञ किया था। जो मेरी प्रसन्नताके लिए कर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं। तुम्हारे यज्ञमें मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें बँधा हूँ। मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता। इसलिए डरनेकी कोई बात नहीं है। ये महालक्ष्मी मेरी अर्धाङ्गिनी शक्ति हैं। तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिए ही मेरी सम्मतिसे यह तुम्हारे पास आयी थीं। तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी, इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे सन्तुष्ट किया है। ये मुझसे अभिन्न हैं, जगत्‌की आदिजननी हैं; इनका सेवक मेरा सेवक है। इनकी पूजा करके तुमने मेरी पूजा की है। तुमने अपराध नहीं किया है, मुझे प्रसन्न किया है। इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षाके लिए मुझे कैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। तुमने इनकी रक्षा की है, इसलिए मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। अपनी प्राणप्रियाके लिए अपने प्यारे भक्तके हाथसे बँध जाना मेरे लिए कितना प्रियकर है, इसे मैं ही जानता हूँ। ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं, ऐसा ही समझो। यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं।'

महालक्ष्मीने कहा—'राजन्! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिए मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। भगवान् और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिए प्रेम-कलहका बहाना बनाया था और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए। तुमने कोई अपराध नहीं किया। हम तुमपर प्रसन्न हैं।

हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे। सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हो। जबतक जीवित रहो, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहे। तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जाय, सदा धर्ममें ही लगी रहे। तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रसमें डूबा रहे। इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करो।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्‌के वक्षःस्थलमें समा गयीं। भगवान्‌ने कहा—'राजन्! यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है। मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊं और इसकी स्मृति यहीं लुप्त हो जाय। इसलिए अब मैं यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा।' इतना कहकर भगवान् चुप हो गये।

राजा पुण्यनिधिने भगवान्‌की इस अर्चा-मूर्तिकी पूजा की और रामनाथ-लिङ्गकी सेवा करके अपने घर गये। जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहे। अन्तमें दोनों भगवान्‌की सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करके भगवान्‌से एक हो गये। इस प्रकार अद्‌भुत प्रेममयी लीला करके भगवान्‌ने अपने भक्तोंको अपनाया और भक्तके द्वारा जो बन्धन प्राप्त हुआ था, उसको सर्वदाके लिए स्वीकार करके अपनी कृपा और प्रेमकी परवशताको स्पष्टरूपसे प्रकट कर दिया।

धन्य हैं ऐसे परम दयालु भगवान् और उनके परमप्रिय कृपापात्र भक्त!

●

माँकी गोदमें

श्रीवृन्दावनधाममें बड़ा ही सुन्दर स्थान है वह। दूर तक घनी झाड़ियाँ हैं और हरी-भरी लताओंसे आलिङ्गित करीलोंके कुञ्ज, पुष्पोंपर रक्तिमा, पीतिमा और कहीं-कहीं श्वेतिमा भी है। सौरभ इतना है कि भौरोंका उन्मत्त सङ्गीत कभी बन्द ही नहीं होता। उसपर भी कोयलोंकी कुहू और मयूरोंका मधुर नृत्य। बड़ी कोमल स्निग्ध और दिव्य भूमि है। यमुनाकी मन्द-मन्द बहती हुई धारा भी वहाँसे दूर नहीं है। मैं कभी-कभी वहाँ स्नान करने जाया करता था। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर श्रीगोपालजीका एक मन्दिर भी है जहाँ मैंने एक दिन छाछ माँगकर पी थी। पुजारीजी प्रायः लोगोंको छाछ पिलाया करते हैं।

एक दिन प्रातःकाल ही पहुँच गया मैं उस पावन प्रान्तमें। मुझे कुछ ठंड मालूम हो रही थी, स्नानके लिए धूपकी प्रतीक्षा थी, मैं एक वृक्षके नीचे बैठ गया। एक दूध-सी सफेद गाय वहाँ आयी। उसके साथ फुदकता हुआ एक बछड़ा भी था। वह थोड़ी दूर दौड़कर आता और फिर अपनी माँका दूध पीने लगता। कभी-कभी उसके थनमें हिब्बा भी मारता और कभी-कभी उसकी ललरियोंके साथ सटकर खड़ा हो जाता। मातृ-स्पर्शका रस लेता। सूर्योदय हो रहा था। उन दोनोंका रोआँ-रोआँ प्रसन्नतासे चमक रहा था। हाँ, जब कभी वह दूर भाग जाता तब वह हुंकार भरती और वह पलक मारते उसके पास

आ जाता। मैं कुछ देरतक देखता रहा। मुझे अपनी बचपनकी स्मृति हो आयी जब मैं अपनी माँकी गोदमें था।

मुझमें दो गुण वचपनसे ही हैं—आलस्य और निद्रा। अपने बचपनकी याद करते-करते मैं सो गया, अलसाया हुआ तो था ही। परन्तु वह सोना क्या था? एक देहसे सोकर दूसरे देहसे जागना। शायद वह स्वप्न ही था; पर था कुछ अवश्य। मैं दो वर्षका बालक होकर अपनी माँकी गोदमें खेल रहा था। मैं था और मेरी माँ थी। सामने विशाल आकाश था, परन्तु उस समय मैं उसकी विशालतासे अपरिचित था। नीला-नीला, सुन्दर-सुन्दर देखते रहनेकी चीज थी। पर मैं अधिकतर अपनी माँकी ओर देखता। वह मुझे अपने हृदयसे लगा लेती, मेरा सिर सूँघती और आँख चूम लेती। जितना आनन्द होता था मुझे उस समय इतना आज कोई मुझे एकच्छत्र सम्राट् बना दे तो भी नहीं हो सकता; क्योंकि मैं माँकी गोदमें था। मेरे हित-अनहित और भले-बुरेका भार मेरे ऊपर नहीं था। मैं एकटक देखता ही रह जाता। कहीं मैं मुस्करा देता था तो मेरी माँ मानो अमृतके समुद्रमें डूब जाती। मैं सोचता, मैं भी कहीं माँ हो जाता और माँ मेरे जैसा नन्हा-सा शिशु हो जाती तो मैं भी उसे अपनी गोदमें लेकर खिलाता, हँसाता, प्यार करता, दुलारता और पुचकारता। परन्तु मैं मन ही मन सोचता था, बोल नहीं सकता था। सोचते-सोचते मैं सो गया; क्योंकि मैं माँकी गोदमें था और उससे बढ़कर सोनेके लिए अच्छी जगह हो नहीं सकती।

शायद वह भी स्वप्न ही होगा। सम्भव है मेरे मनकी कल्पना ही हो। मेरी गोदमें एक सुन्दर साँवरा-सलोना नन्हा-सा शिशु था और मैं बड़े प्यारसे उसकी ओर देख रहा था।

इतना कोमल था उसका शरीर कि छूनेमें डर लगता था—कहीं खून न छलछला आवे। चिकनाई और चमक इतनी थी कि मानो आर-पार दिखता हो। मुखड़ेपर मन्द-मन्द मुस्कराहट थी और कपोलोंपर काली-काली अलकें खेल रही थीं। ऐसा मादक आकर्षण था उसमें कि मेरे प्राण मानो उसके शरीरमें भी हों; मेरा हृदय उसके हृदयसे इतना एक हो गया था कि यह निर्णय करनेमें मैं असमर्थ था कि मेरी आत्मा शिशु शरीरमें है या मातृशरीरमें। और तो क्या मुझे यह भी स्मरण नहीं था कि मैं माता हूँ या शिशु। दोनोंकी आँखें दोनोंको देख रही थीं। शिशु माताके हृदयसे सटा हुआ था। उनके प्राण एक गतिमें सञ्चारित हो रहे थे, उनका मन एक मन हो गया था। उस समय मैं कौन था, मुझे स्मरण ही नहीं था कि मैं कौन हूँ। मैं ही माता था, माता ही शिशु थी, मैं माता और शिशु—तीनों तीन नहीं, एक थे। क्या इसीका नाम प्रेम है? मैं नहीं जानता।

उस एकत्वमें द्वैत विलीन हो गया। वह नन्हा-सा शिशु मातामें समा गया—समा गया नहीं, जब माताका मातृत्व जागरित हुआ तब वह शिशुको नहीं देख सकी। उसने आधे क्षणमें ही चारों ओर ढूँढ़ डाला, अपनी गोदकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी। उसका कलेजा धक्‌से बैठ गया। मुँहसे आवाज आयी—'मेरे मोहन! मेरे प्यारे कन्हैया! तुम कहाँ हो मेरे प्राण, मेरे सर्वस्व! मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकती।' आवाज आयी—मेरे बेटा, तुम तो अपनी माँकी गोदमें हो, और मैं, सचमुच अपनी माँकी गोदमें था। मेरी धड़कन तेज चल रही थी, मुँह लाल हो गया था और मेरा शरीर अब भी काँप रहा था। माँने समझा—मेरा लल्ला कोई स्वप्न देखता रहा

होगा। डर गया है। वह पुचकारने लगी—'मेरे लल्ला, वह तो सपना था। तुम मेरी गोदमें हो, डर काहेका ?' मैं स्वप्नका तत्त्व नहीं समझता था। हाँ, इतना तो समझ ही गया कि डरनेकी बात नहीं है।

माँके हृदयका स्पर्श पाया, उसके मूर्तिमान् स्नेहका पान किया। उस अमृत-रसके सामने कोई भी स्वर्गीय सुधाका उपहास कर सकता है। मुझे एक-एक घटनाका स्मरण होने लगा। मैं भी तो अपने नन्हे-से शिशुसे प्रेम करता था। वही मेरी आँखोंकी ज्योति था, मेरे हृदयका धन था, मेरे जीवन-का सर्वस्व था। कितना मोहक था, कितना मधुर था ! कितना सौन्दर्य था उसके अङ्ग-अङ्गमें ! मेरे हृदयमें अब भी रसकी धारा बह रही है। उसकी मादकता खेल रही है आँखोंके सामने। प्राण छटपटा रहे हैं उसको पानेके लिए। वह मेरा अपना था। तब क्या मैं अपनी माँके लिए वैसा ही हूँ ? अवश्य वैसा ही हूँ। मैं ही क्यों ? सभी अपनी माँके लिए वैसे ही हैं। सब माताओंकी माँ भी तो कोई होगी। वह भी सबके लिए वैसी ही होगी। जो सब माताओंकी माँ है, जिसकी स्नेह-धाराकी एक-एक बूँद समस्त माताओंके हृदयमें प्रकट हुई है—कितनी दयामयी होगी वह माँ ! मैंने तो कभी उसका स्मरण नहीं किया, उसकी सेवा नहीं की, उसको पुकारा भी नहीं। तब क्या वह भी हमें अपनी गोदमें ही रखती होगी ? जैसे मेरी यह माँ मुझसे प्यार करती है वैसे ही वह भी करती होगी ? तब तो मैं अपराधी हूँ। मैं पुकार उठा, 'माँ, माँ, तुम कहाँ हो ? मैं तुम्हें देखूँगा। मेरे न पुकारनेसे क्या तुम रूठ गयी हो ? मेरी सच्ची माँ, आओ, मुझे अपनी गोदमें उठा लो।' मैं उत्सुकता-मिश्रित व्याकुलताके आवेशमें था। मेरी आँखोंसे

आँसू गिरने लगे। आवाज आयी 'बेटा, तुम गोदमें ही तो हो। आज बार-बार स्वप्न क्यों देखने लगते हो? आज ही तुम बोले, केवल दो बार बोले, सो भी स्वप्नमें डरते हुए ही। मेरी गोदमें रहकर डरना क्यों?' मेरा आवेश टूट गया था, परन्तु मेरी भावधारा अवच्छिन्न बह रही थी। मैं अपनी सच्ची माँको पानेके लिए व्याकुल हो रहा था।

मेरी व्याकुलता बढ़ती ही गयी। मेरी वाणी बन्द थी, परन्तु मेरी आत्मा बोल रही थी। मैंने कहा, 'मेरी प्यारी माँ, तुम अवश्य ही मुझसे प्रेम करती हो। कभी एक क्षणके लिए भी मैं तुम्हारे प्रेमसे वञ्चित नहीं हुआ। भूलसे भी तुमने अपने कर-कमलोंको मेरे सिरपर-से नहीं हटाया है। मेरी भूलको भी तुमने एक खिलवाड़ समझा है और उससे प्रसन्नताका अनुभव किया है। तुमने मेरे ऊपर अनन्त प्रेमकी अजस्र वर्षा की है। मैं तुम्हारे प्रेम और वरदानके अतिरिक्त हूँ ही क्या? परन्तु तुम्हारा तो मैं सब कुछ हूँ, मेरी तुम कौन हो? मैंने अपनी माँको माँके रूपमें नहीं पहचाना, स्मरण नहीं किया, ढूँढ़ा नहीं—और तो क्या, पुकारा भी नहीं। जिसने अपनी दया और स्वीकृतिसे मुझे अस्तित्व दिया, उज्जीवित किया, मैंने उसीकी ओरसे मुँह फेर लिया। क्या इस अपराधका भी कोई प्रायश्चित्त है? नहीं, किसी भी प्रायश्चित्तसे इसका परिमार्जन नहीं हो सकता। ऐसे कृतघ्न जीवनसे क्या लाभ है? माँ, माँ, तुम क्या इस अपराधीको अपने दर्शनसे वञ्चित ही रक्खोगी? माँ, मुझे दर्शन दो, अपनी गोदमें उठा लो।' यह सोचते-सोचते मैं सचमुच बोल उठा, 'माँ, मुझे अपनी गोदमें उठा लो।' और मेरे कानमें ये शब्द आये, 'बेटा, तुम मेरी गोदमें ही हो।' मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि माताकी गोद

और भी कोमल हो गयी है और मुझे वह हृदयसे सटाये हुए है।

मेरी भावनाएँ उभरती ही गयीं। मैं सचमुच माँकी गोदमें ही हूँ। उसकी स्वीकृति मेरा अस्तित्व है, उसका प्रेम मेरा हृदय है और उसका वरदान ही मेरा जीवन है—मेरा ही नहीं, सारे जगत्का। एक परदा पड़ गया था मेरी बुद्धिपर—पड़ क्या गया था, मेरी माँने ही मेरे और अपने बीचमें एक झीना-सा परदा डालकर एक ऐसी लीला रची थी कि मानो मैं उससे अलग होऊँ, वह मुझे देख सके और मैं उसे न देख सकूँ। गोदमें रहनेपर भी यह दूरी मालूम होने लगी थी और मैं अपनेको दूर समझने लगा था। आज उसने वह परदा फाड़ डाला। मैं सचमुच अपनी माँकी गोदमें हूँ, गोदमें ही हूँ। मेरा चित्त एक दिव्य प्रसादसे भर गया, मेरी आत्मा एक अद्भुत रससे आप्लावित हो गयी। मेरा यह आनन्द अन्तःकरणमें ही छिपा नहीं रह सका। शायद चेहरेपर भी प्रकट हो गया। तभी तो मेरे कानोंमें ये शब्द सुनायी पड़े—'बेटा, आज तुम बहुत स्वप्न देखते हो! क्या हो गया है तुम्हें? उठो, हँसो, बोलो, खेलो, मेरे प्राणोंको तृप्त करो।' मैंने देखा सचमुच मैं माँकी ही गोदमें हूँ।

मैं माँकी ही गोदमें था। परन्तु यह गोद वैसी नहीं थी जैसी गोदमें मैं पहले था। मेरी वह स्वप्नकी माँ जिसे अपनी गोदके रूपमें जान रही थी और जिस गोदमें जगनेके लिए वह मुझे सचेत कर रही थी, अब मैं उसी गोदमें नहीं था। बल्कि मेरी माँ भी उसी गोदमें थी जिसमें मैं था। यों भी कह सकते हैं कि सारा संसार उसी गोदमें था और माँ उसे सन्तानके रूपमें नहीं, अपने ही रूपमें देख रही थी। और जब मैंने यह जाना कि माँ किस दृष्टिसे देखती है, तब मेरे कौतूहलको पूर्ण करनेके

लिए माँने अपनी दृष्टि मुझे दे दी और मैंने जो कुछ देखा, इतना अद्भुत देखा कि वैसा देखना बिना वह दृष्टि प्राप्त किये किसीकी कल्पनामें आ ही नहीं सकता। मैंने वह दृष्टि माँको लौटा दी! माँ, तुम्हीं सँभालो इसे। मैं तुम्हारी गोदमें हूँ, मैं माँकी गोदमें हूँ।

मैं माँकी गोदमें हूँ, यह बात मैंने इतनी दृढ़ता और आवेगसे कही कि वह मुँहके बाहर निकल ही गयी। मेरी माँने, जिसकी गोदमें मैं सोया हुआ था, बड़े प्रेमसे पुचकारकर कहा—'हाँ, बेटा, सचमुच मेरी गोदमें ही हो।' मैंने आँखें खोलीं और अपनेको माँकी गोदमें पाया। मेरी प्रसन्नता और खिले हुए चेहरेको देखकर जब उसने मुझे अपने वक्षःस्थलसे लगाया, तब मेरा सारा शरीर हिल गया और मैंने आश्चर्य-चकित दृष्टिसे देखा कि मैं यमुनातटपर एक वृक्षके नीचे पूर्ववत् सोया हुआ हूँ। गाय और बछड़े वहाँ नहीं थे। धूप हो गयी थी। जब मैंने स्नान करनेके लिए यमुनामें प्रवेश किया, तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यमुनाकी प्रत्येक तरङ्ग कह रही है, 'तुम अपनी माँकी गोदमें हो', और मेरा रोम-रोम इस सत्यका साक्षात्कार कर रहा है कि मैं माँकी गोदमें हूँ।



भूतशुद्धि

भूतशुद्धिका अर्थ है अव्यय ब्रह्मके संयोगसे शरीरके रूपमें परिणत पञ्चभूतोंका शोधन। भावनाशक्ति और मन्त्रशक्तिके संयोगसे क्रियाविशेषद्वारा शरीरस्थ मलिन भूतोंको भस्म करके, नवीन दिव्य भूतोंका निर्माण करने और स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरके शोधनमें ही इस क्रियाका तात्पर्य है। चित्तशुद्धिके लिए जितनी क्रियाओंका निर्देश किया गया है, उनमें इस क्रियाका स्थान सर्वोपरि है। वसिष्ठसंहितामें तो यहाँतक कहा गया है कि इसके बिना जप-पूजादि कृत्य निरर्थक हो जाते हैं। वास्तवमें ऐसी ही बात है। जबतक शरीर अशुद्ध रहेगा, मनमें पापभावनाएँ रहेंगी, तबतक एकाग्रभावसे किसीकी पूजा, ध्यान आदि कैसे किये जा सकते हैं ? भूतशुद्धिके संक्षेप और विस्तार-भेदसे कई प्रकार हैं। उनमें-से कुछ थोड़े-से यहाँ लिखे जाते हैं।

स्नान, सन्ध्या आदि नित्य कृत्योंसे निवृत्त होकर ध्यानके स्थानपर आवे और वहाँ आसनपर बैठकर आचमनादि आवश्यक कृत्य करके अपने चारों ओर जल छिड़के और अग्निबीज 'रं'का जप करे। साथ ही ऐसी भावना करे कि 'मेरे चारों ओर अग्निकी चहारदीवारी है, मेरा आसन दृढ़ एवं शरीर स्थिर है, परमात्माकी कृपासे कोई विघ्न-बाधा मुझे अपने संकल्पसे विमुख नहीं कर सकेगी।' इसके पश्चात् भूतशुद्धिका संकल्प करे—

ॐ अद्येत्यादि······देवपूजाद्यधिकारसिद्धये भूतशुद्ध्याद्यहं करिष्ये।

• • •

तत्पश्चात् कुण्डलिनीका चिन्तन करे। कुण्डलिनी सहस्र-सहस्र विद्युत्की कान्तिके समान देदीप्यमान है और कमल-नालगत तन्तुके समान सूक्ष्म एवं सर्पाकार है। वह मूलाधार-चक्रमें सोती रहती है। अब वह जग गयी है और क्रमशः स्वाधिष्ठान और मणिपूरकचक्रका भेदन करके सुषुम्णामार्गसे हृदयस्थित अनाहतचक्रमें आ गयी है। हृदयमें दीपशिखाके समान आकारवाला जीव निवास करता है। उसे उसने अपने मुखमें ले लिया और कण्ठस्थ विशुद्धचक्र तथा भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्रका भेदन करके पूर्वोक्त मार्गसे ही सहस्रारमें पहुँच गयी। सहस्रारमें परमात्माका निवास है। 'हंसः' मन्त्रके द्वारा वह कुण्डलिनी जीवात्माके साथ ही परमात्मामें विलीन हो गयी।

इसके बाद ऐसी भावना करनी चाहिए कि शरीरमें पैरके तलवेसे लेकर जानुपर्यन्त पृथिवीमण्डल है। वह चौकोन है और उसका रंग पीला है। उसीमें पादेन्द्रिय, चलनेकी क्रिया, गन्तव्य स्थान, गन्ध, घ्राण, पृथिवी, ब्रह्मा, निवृत्ति-कला एवं समान वायु निवास करते हैं। इनका स्मरण करके—'ॐ ह्रां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए कुण्डलिनीके द्वारा उन्हें जलस्थानमें विलीन कर देना चाहिए। जानुसे नाभिपर्यन्त श्वेतवर्णका अर्द्धचन्द्राकार जलमण्डल है। उसीमें हस्त इन्द्रिय, दानक्रिया, दातव्य, रस, रसनेन्द्रिय, जल, विष्णु, प्रतिष्ठाकला और उदान वायु निवास करते हैं। उनका स्मरण करके—'ॐ ह्रीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके कुण्डलिनीके द्वारा उन सबको अग्निस्थानमें विलीन कर देना चाहिए। नाभिसे लेकर हृदयपर्यन्त रक्तवर्णका

त्रिकोण अग्निमण्डल है। उसमें पायु-इन्द्रिय, विसर्ग-क्रिया, विसर्जनीय—रूप, चक्षु, तेज, रुद्र, विद्याकला एवं व्यानवायु निवास करते हैं। उनका स्मरण करके—'ॐ ह्रूं रुद्राय तेजोधिपतये विद्याकलात्मने हुं फट् स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके कुण्डलिनीके द्वारा वायुमण्डलमें विलीन कर देना चाहिए। हृदयसे भ्रूपर्यन्त काले रंगका गोलाकार छः बिन्दुओंसे चिह्नित वायुमण्डल है। उसमें उपस्थ-इन्द्रिय, आनन्द-क्रिया, उस इन्द्रियका विषय, स्पर्शका विषय और वायु, ईशान, शान्तिकला एवं अपानवायुका निवास है। उनका स्मरण करके—'ॐ हैं ईशानाय वाय्वधिपतये शान्तिकलात्मने स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके आकाशमण्डलमें उनको विलीन कर देना चाहिए। भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त स्वच्छ आकाशमण्डल है। उसमें वाग्-इन्द्रिय, वचनक्रिया, वक्तव्य, शब्द, श्रोत्र, आकाश, सदाशिव, शान्त्यतीतकला और प्राणवायुका निवास है। उनका स्मरण करके—'ॐ ह्रौं सदाशिवाय आकाशाधिपतये शान्त्यतीतकलात्मने हुं फट् स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके उन सबको कुण्डलिनीके द्वारा अहंकारमें विलीन कर दे। अहंकारका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शब्दब्रह्मरूपा हृदयशब्दके सूक्ष्मतम अर्थ प्रकृतिमें विलीन कर दे। और प्रकृतिको नित्यशुद्धबुद्धस्वभाव, स्वयंप्रकाश, सत्यज्ञान, अनन्त आनन्दस्वरूप, परम कारण, ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें विलीन कर दे।

इसके पश्चात् पापपुरुषका शोषण करनेके लिए विनियोग करे—'ॐ शरीरस्यान्तर्यामी ऋषिः सत्यं देवता प्रकृतिपुरुषश्छन्दः पापपुरुषशोषणे विनियोगः।' पहले पापपुरुषका चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए—मेरी वाम कुक्षिमें अनादिकालीन पाप मूर्तिमान् पुरुषके रूपमें निवास करता है। उसका शरीर

अंगूठेके बराबर है। वह कान्तिहीन है। पाँच महापापोंसे ही उसके शरीरका निर्माण हुआ है। ब्रह्महत्या उसका सिर है, स्वर्णस्तेय (सोनेकी चोरी) दोनों हाथ हैं, सुरापान हृदय है, गुरुतल्पगमन कटि है और इन पापोंसे युक्त पुरुषोंका संसर्ग दोनों पैर हैं; अङ्ग-प्रत्यङ्ग पापसे ही बने हैं—रोम-रोम उपपातक है, दाढ़ी और आँखें लाल हैं, उसके हाथोंमें अविवेकका खड्ग और अहंताकी ढाल है, असत्यके घोड़ेपर सवार है, चेहरेसे पिशुनता प्रकट हो रही है, क्रोधके दाँत हैं, कामकी कवच है। गदहेके समान रेंकता है। ऐसा मूढ़ पापपुरुष व्याधिग्रस्त होनेके कारण मरणासन्न हो रहा है। इस प्रकार पापपुरुषका चिन्तन करके उसके शोषणका विनियोग करना चाहिए। ॐ 'यं'—यह वायु-बीज है। इसके किष्किन्ध ऋषि हैं, वायु देवता हैं और जगती छन्द है। पापपुरुषके शोषणमें इनका विनियोग है। नाभिके मूलमें षड्बिन्दुचिह्नित एक मण्डल है। उसपर धूम्रवर्णका वायु-बीज 'यं' रहता है, उसकी ध्वजाएँ चञ्चल होती रहती हैं और उसमें-से 'घूँ-घूँ' शब्द निकलता रहता है। सबको सुखा डालना उसका काम है। इस प्रकार 'यं' बीजका चिन्तन करके और पूरकके द्वारा सोलह बार उसकी आवृत्ति करके उस बीजसे उठे हुए वायुके द्वारा पाप-पुरुषको सशरीर सूखा हुआ देखना चाहिए। इसके पश्चात् अग्नि-बीज 'रं' का चिन्तन करना चाहिए। इसके कश्यप ऋषि, अग्नि देवता और त्रिष्टुप् छन्द हैं। हृदयमें रक्तवर्णका अग्नि-मण्डल है। उसके देवता रुद्र हैं, विद्याकलाका उसीमें निवास है। उसीमें बीज है 'रं'। ऐसा चिन्तन करके कुम्भकके द्वारा ६४ या ५० बार 'रं' की आवृत्ति करके पापपुरुषके सूखे हुए शरीरको भस्म कर दे। इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकारसे वायु-बीज

'यं' को ३२ बार आवृत्ति करके रेचक प्राणायामके द्वारा पाप-पुरुषका भस्म उड़ा दे। इसके पश्चात् वरुण-बीज 'वं' का चिन्तन करे। इसके हिरण्यगर्भ ऋषि हैं, हंस देवता हैं और त्रिष्टुप् छन्द है। सिरमें अर्धचन्द्राकार दो श्वेत पद्मवाले वरुण-दैवत वरुण-बीज 'वं' का चिन्तन करना चाहिए और उससे प्रवाहित होनेवाले अमृतसे पिण्डीभूत भस्मको आप्लावित अनुभव करना चाहिए। इसके पश्चात् पृथिवी-बीज 'लं' का चिन्तन करे। इसके ऋषि ब्रह्मा हैं, देवता इन्द्र हैं और छन्द गायत्री। आधारमण्डलमें वज्रलाञ्छित पृथिवी है—चौकोनी, कड़ी, पीली और इन्द्रदैवत। उसपर 'लं' बीजका चिन्तन करना चाहिए। उसके प्रभावसे शरीरको दृढ़ एवं कठिन चिन्तन करके आकाश बीज 'हं' का चिन्तन करना चाहिए! आकाशमण्डल वृत्ताकार, स्वच्छ, शान्त्यतीतकलासे युक्त, आकाशदैवत एवं 'हं' रूप है। इसकी भावनासे शरीर सावकाश एवं व्यूहित हो जाता है। इसको अपना दिव्य शरीर भावित करके पूर्वोक्त प्रक्रियासे परमात्मामें विलीन तत्त्वोंको पुनः अपने-अपने स्थान-पर स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार जब सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीरकी दिव्यता सम्पन्न हो जाय, तब 'ॐ सोऽहम्' इस मन्त्रसे परमात्माकी सन्निधिसे जीवको हृदयकमलमें ले आवे और ऐसा अनुभव करे कि मैं परमात्माकी सत्ता, शक्ति, कृपा, सान्निध्य और सायुज्यका अनुभव करके परम पवित्र और दिव्य हो गया हूँ। मेरा शरीर पापरहित, नूतन, निर्मल और इष्ट देवताकी आराधनाके योग्य हो गया है। इसके पश्चात् आगेका कार्यक्रम प्रारम्भ करे।

इसके अतिरिक्त एक संक्षिप्त भूतशुद्धि है, उसका प्रकार निम्नलिखित है—

अथवान्यप्रकारेण भूतशुद्धिर्विधीयते ।
धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभितम् ॥
ऐश्वर्याष्टदलोपेतं परवैराग्यकर्णिकम् ।
स्वीयहृत्कमले ध्यायेत्प्रणवेन प्रकाशितम् ॥
कृत्वा तत्कर्णिकासंस्थं प्रदीपकलिकानिभम् ।
जीवात्मानं हृदि ध्यात्वा मूले सञ्चिन्त्य कुण्डलीम् ॥
सुषुम्णावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत् ।

इस प्रकारसे भूतशुद्धि की जाती है। 'हृदयमें एक कमल है, उसका मूल धर्म है और नाल ज्ञान है। आठ प्रकारके ऐश्वर्य उसके दल हैं और परवैराग्य ही कर्णिका है। वह प्रणवके द्वारा उद्भासित हो रहा है। उस कर्णिकापर दीपशिखाके समान ज्योतिःस्वरूप जीवात्मा स्थित है। ऐसा ध्यान करके मूलाधारमें कुण्डलिनीका चिन्तन करे। वहाँसे आकर कुण्डलिनी जीवात्माको अपने मुखमें ले लेती है। और सुषुम्ण मार्गसे आकर परमात्मामें मिल जाती है।' कुछ समयतक इसी अवस्थाका अनुभव करके पुनः जीवात्माको हृदयमें ले आना चाहिए और आगेका विधान करना चाहिए। यह संक्षिप्त भूतशुद्धि है।

भूतशुद्धिकी ये दोनों प्रणालियाँ साधन-सम्प्रदायमें प्रचलित हैं और मैं ऐसे कई साधकोंको जानता हूँ, जिन्हें इनसे बहुत लाभ हुआ है। एक मित्रने मुझसे कहा था कि भूतशुद्धि करते-करते मेरा चित्त शुद्ध होकर परमात्मामें इस प्रकार लीन हो जाता है और इतने आनन्दका अनुभव करता है कि मैं घण्टों उसी स्थितिमें बैठा रहता हूँ, और दूसरी क्रियाका स्मरण ही नहीं होता। एक वयोवृद्ध बाबू साहबने बतलाया था कि इस क्रियाके द्वारा मेरा शरीर निरोग और अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। जिस दिन मेरी भूतशुद्धि ठीक-ठीक सम्पन्न हुई थी

• • •,

उसके बाद मेरे चित्तमें कभी विकार नहीं आया। उन्हें स्पष्ट अपने शरीरकी दिव्यताका अनुभव होता है। एक स्वामीजीको तो एकमात्र यही साधना है। उनकी दिव्यताका अनुभव तो उनके दर्शनमात्रसे ही होता है। शरीरके अणु-अणु बदल जाते हैं, इस क्रियाकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने स्वयं कहा था।

इन दो प्रणालियोंके अतिरिक्त एक तीसरी प्रणाली भी है जो एक महात्मासे प्राप्त हुई थी। मैं नहीं जानता, किस ग्रन्थमें उसका उल्लेख है, परन्तु उससे बड़ा लाभ होता है। यह सत्य है कि उपर्युक्त प्रणालियोंमें राजयोगकी अनुभूति, लययोगकी भावना, मन्त्रयोगकी शक्ति और हठयोगकी क्रियाएँ विद्यमान हैं। परन्तु इसमें केवल मन्त्रशक्ति ही है। भगवान्‌का सुन्दर पुट है। राजयोगमें उसकी परिणति है। परन्तु हठयोग बिलकुल नहीं है। इसके चार मन्त्र निम्नलिखित हैं—

१. ॐ भूतभृङ्गाटात् शिरःसुषुम्णापथेन जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा।
२. ॐ यं लिङ्गशरीरं शोषय शोषय स्वाहा।
३. ॐ रं सङ्कोचशरीरं दह दह स्वाहा।
४. ॐ परमशिव सुषुम्णापथेन मूलभृङ्गाटम् उल्लस उल्लस ज्वल, ज्वल प्रज्वल प्रज्वल सोऽहं हंसः स्वाहा।

मन्त्रोक्त अर्थकी भावना करते हुए उपर्युक्त मन्त्रोंकी आवृत्ति कर लेनी चाहिए। कुछ दिनोंतक लगातार श्रद्धापूर्वक अभ्यास करनेसे बड़े विचित्र-विचित्र अनुभव होते हैं और अपनी दिव्यता प्रकट हो जाती है।

इष्टदेव और श्रीगुरुदेवके ध्यानमें जब चित्त तन्मय हो जाता है और उनकी कृपाका अनुभव करके इसीमें उन्मज्जन-

निमज्जन करने लगता है तब पवित्रता, शक्ति, शान्ति और आनन्दकी शत-शत धाराएँ उसके सम्पूर्ण 'स्व' को और यही क्यों, निखिल जगत्को आप्यायित आप्लावित, अथ च अत्यन्त दिव्य बना देती हैं। जो धीर भावसे साधन करते हैं, उनके जीवनमें ये सब बातें प्रत्यक्ष होती हैं। इसलिए विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

●●●

न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा

न्यासका अर्थ है स्थापना। बाहर और भीतरके प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता और मन्त्रका स्थापन ही न्यास है। इस स्थूल शरीरमें अपवित्रताका ही साम्राज्य है इसलिए इसे देवपूजाका तबतक अधिकार नहीं जबतक यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय। जबतक उसकी अपवित्रता बनी रहती है तबतक इसके स्पर्श और स्मरणसे ग्लानिका उदय चित्तमें होता रहता है। ग्लानि-युक्त चित्त प्रसाद और भावोद्रेकसे शून्य होता है, विक्षेप और अवसादसे आक्रान्त होनेके कारण बार-बार प्रमाद, तन्द्रासे अभिभूत हुआ करता है। यही कारण है कि न तो वह एकतार स्मरण ही कर सकता है और न विधि-विधानके साथ किसी कर्मका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही। इस दोषको मिटानेके लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीरके प्रत्येक अवयवमें जो क्रियाशक्ति मूर्च्छित है उसको जगानेके लिए न्यास अव्यर्थ महौषधि है।

न्यास कई प्रकारके होते हैं। मातृकान्यास स्वर और वर्णोंका होता है। मन्त्रन्यास पूरे मन्त्रका, मन्त्रके पदोंका, मन्त्रके एक-एक अक्षरका और एक साथ ही सब प्रकारका होता है। देवतान्यास शरीरके बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गोंमें अपने इष्ट-देव अथवा अन्य देवताओंके यथास्थान न्यासको कहते हैं। तत्त्वन्यास वह है जिसमें संसारके कार्य-कारणके रूपमें परिणत और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वोंका शरीरमें यथास्थान न्यास

किया जाता है। यही पीठन्यास भी है। जो हाथोंकी सब अंगुलियोंमें तथा करतल और करपृष्ठमें किया जाता है वह करन्यास है। जो त्रिनेत्र देवताओंके प्रसंगमें षडङ्ग और अन्य देवताओंके प्रसङ्गमें पञ्चाङ्ग होता है उसे अङ्गन्यास कहते हैं। जो किसी भी अङ्गका स्पर्श किये बिना सर्वाङ्गमें मन्त्रन्यास किया जाता है वह व्यापकन्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यासके छः अंग होते हैं—सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द, हृदयमें देवता, गुह्यस्थानमें बीज, पैरोंमें शक्ति और सर्वाङ्गमें कीलक। और भी बहुत-से न्यास हैं जिनका वर्णन प्रसंगानुसार किया जा सकता है।

न्यास चार प्रकारसे किये जाते हैं। मनसे उन-उन स्थानोंमें देवता, मन्त्र वर्ण, तत्त्व आदिकी स्थितिको भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवल मनसे ही होता है। बहिर्न्यास केवल मनसे भी होता है और उन-उन स्थानोंके स्पर्शसे भी। स्पर्श दो प्रकारसे किया जाता है—किसी पुष्पसे अथवा अंगुलियोंसे। अंगुलियोंका प्रयोग दो प्रकारसे होता है—एक तो अंगुष्ठ और अनामिकाको मिलाकर सब अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न-भिन्न अङ्गोंके स्पर्शके लिए भिन्न-भिन्न अंगुलियोंका प्रयाग किया जाता है। विभिन्न अंगुलियोंके द्वारा न्यास करनेका क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनीसे हृदय, मध्यमा और तर्जनीसे सिर, अंगूठेसे शिखा, दसों अंगुलियोंसे कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे नेत्र, तर्जनी और मध्यमासे करतल-करपृष्ठमें न्यास करना चाहिए। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे और द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनीसे नेत्रमें न्यास करना चाहिए। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो पंचाङ्गन्यास नेत्रको छोड़कर होता है। वैष्णवोंके लिए इसका क्रम भिन्न प्रकारका है। ऐसा कहा गया है कि

अंगूठेको छोड़कर सीधी अंगुलियोंसे हृदय और मस्तकमें न्यास करना चाहिए। अंगूठेको अन्दर करके मुट्ठी बाँधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिए। सब अंगुलियोंसे कवच, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र, नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अंगूठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतल-ध्वनि करनी चाहिए। कहीं-कहीं अंगन्यासका मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थानमें देवताके नामके पहले अक्षरमें अगन्यास करना चाहिए।

शास्त्रमें यह बात बहुत जोर देकर कही गयी है कि केवल न्यासके द्वारा ही देवत्वकी प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है। हमारे भीतर-बाहर, अंग-प्रत्यंगमें देवताका निवास है, हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया है—इस भावनासे ही अदम्य उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतनाका जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है तब तो भावनासे एकत्व स्वयंसिद्ध है। न्यासका कवच पहनकर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते जब कि बिना न्यासके जप-ध्यान आदि करनेपर अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मन्त्रके, प्रत्येक पदके और प्रत्येक अक्षरके अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं। मन्त्रसिद्धिके लिए इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायताकी अपेक्षा होती है। जिस ऋषिने भगवान् शङ्करसे मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्रकी साधना की थी, वह उसका ऋषि है। वह गुरुस्थानीय होनेके कारण मस्तकमें स्थान पाने योग्य है। मन्त्रके स्वर—वर्णोंकी विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थं और मन्त्रतत्त्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुखके द्वारा होता है, छन्द है और वह

मुखमें ही स्थान पानेका अधिकारी है। मन्त्रका देवता जो अपने हृदयका धन है, जीवनका सञ्चालक है, समस्त भावोंका प्रेरक है, हृदयका अधिकारी है, हृदयमें ही उसके न्यासका स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास किये जायँ तो शरीर और अन्तःकरणको दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमाका अनुभव करा देते हैं। अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है—गंगा और सरयूके सङ्गमके पास ही एक ब्रह्मचारी रहते थे, जिनका साधन ही न्यास था। दिनभर वे न्यास ही करते रहते थे। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं और उन्हें बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यहाँ संक्षेपसे कुछ न्यासोंका विवरण दिया जाता है—

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृका-सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्लीं कीलकं मातृकान्यासे विनियोगः।

—यह विनियोग करके जल छोड़ दे और ऋष्यादिका न्यास करे। सिरमें—ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः। मुखमें—ॐगायत्रीछन्दसे नमः। हृदयमें—ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः। गुह्य-स्थानमें—ॐ हलभ्यो बीजेभ्यो नमः। पैरोंमें—ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः। सर्वाङ्गमें—ॐ क्लीं कीलकाय नमः। इसके पश्चात् करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अंगुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः करतल-करपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर इस प्रकार अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।

ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अंगन्यासके पश्चात् अन्तर्मातृकान्यास करना चाहिए। शरीरमें छः चक्र हैं; उनमें जितने दल होते हैं, उतने ही अक्षरोंका न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न-भिन्न है। यहाँ वैष्णवोंकी प्रणाली लिखी जाती है।

पायु इन्द्रिय और जननेन्द्रियके बीचमें सिवनीके पास मूलाधारचक्र है। इसका वर्ण सोनेका-सा है और उसमें चार दल हैं। उन चारों दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिए—ॐ वं नमः, शं नमः, षं नमः, सं नमः। जननेन्द्रियके मूलमें विद्युत्के समान षड्दल स्वाधिष्ठान कमल हैं, उसके छः दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिए—ॐ बं नमः, भं नमः, मं नमः, यं नमः, रं नमः, लं नमः। नाभिके मूलमें नील मेघके समान दशदल मणिपूरकचक्र है, उसमें इन वर्णोंका न्यास करना चाहिए—ॐ डं नमः, ढं नमः, णं नमः, तं नमः, थं नमः, दं नमः, धं नमः, नं नमः, पं नमः, फं नमः। हृदयमें स्थित मूँगेके समान लाल द्वादशदल अनाहतचक्रमें— ॐ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं नमः, चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः, ञं नमः, टं नमः,

ठं नमः। कण्ठमें धूम्रवर्ण षोडशदल विशुद्धचक्र है, इसमें—ॐ अं नमः, आं नमः, इं नमः, ईं नमः, उं नमः, ऊं नमः, ऋं नमः, ॠं नमः, लृं नमः, ॡं नमः, एं नमः, ऐं नमः, ओं नमः, औं नमः, अं नमः, अः नमः। भ्रूमध्यस्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञा-चक्रमें—ॐ हं नमः, क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रारपर, जो कि स्वर्णके समान कान्तिमान् और स्वर-वर्णोंसे भूषित है, त्रिकोणका ध्यान करना चाहिए। उसके प्रत्येक कोणपर ह, ल, क्ष,–ये तीनों वर्ण लिखे हुए हैं। उसकी तीनों रेखाएँ क्रमशः 'अ' से, 'क' से और 'थ' से शुरू हुई है। इस त्रिकोणके बीचमें सृष्टि-स्थिति-लयात्मक बिन्दुरूप परमात्मा विराजमान है। इस प्रकारके ध्यानको अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

बहिर्मातृकान्यास

इस न्यासमें पहले मातृकासरस्वतीका ध्यान होता है, वह निम्नलिखित है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥

'पचास स्वर-वर्णोंके द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, सूर्यके समान चमकीले मुकुटपर चन्द्रखण्ड शोभायमान है, वक्षःस्थल बड़ा और ऊँचा है, करकमलोंमें मुद्रा, रुद्राक्षमाला, सुधापूर्ण कलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं, अंग-अंगसे दिव्य ज्योति बिखर रही है, उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृकासरस्वतीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।' ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिए। इस न्यासमें अंगुलियोंका नियम अनिवार्य है। इसलिए उन-उन स्थानोंके

साथ ही अंगुलियोंकी संख्या भी लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिए। संख्याका संकेत इस प्रकार है—१-अंगूठा, २-तर्जनी, ३-मध्यमा, ४-अनामिका और ५-कनिष्ठा। जहाँ जितनी अंगुलियोंका संयोग करना चाहिए वहाँ उतनी संख्या लिख दी गयी है।

ललाटमें—ॐ अं नमः ३, ४। मुखपर—ॐ आं नमः २, ३, ४। आँखोंमें—ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १, ४। इसी प्रकार पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थानमें न्यास करना चाहिए। कानोंमें उं, ऊं १। नासिकामें—ऋं, ॠं १, ५। कपोलोंपर लृं लॄं २, ३, ४। ओष्ठमें—एं ३। अधरमें ऐं ३। ऊपरके दाँतोंमें—ॐ ओं ४। नीचेके दाँतोंमें औं ४। ब्रह्मरन्ध्रमें—अं ३। मुखमें—अः ४। दाहिने हाथके मूलमें—कं ३, ४, ५। कोहनीमें—खं ३, ४, ५। मणिबन्धमें गं। अंगुलियोंकी जड़में—घं। अंगुलियोके अग्रभागमें ङं। इसी प्रकार बायें हाथके मूल, कोहनी, मणिबन्ध, अंगुलीमूल और अंगुल्यग्रमें—चं छं जं झं ञं। दाहिने पैरके मूलमें, दोनों सन्धियोंमें, अंगुलियोंके मूलमें और उनके अग्रभागमें—टं ठं डं ढं णं। बायें पैरके उन्हीं पाँच स्थानोंमें—तं थं दं धं नं। दाहिने बगलमें—पं, बायेंमें—फं और पीठमें—बं (यहाँतक अंगुलियोंकी संख्या कोहनीवाली ही समझनी चाहिए) नाभिमें भं १, ३, ४, ५। पेटमें—मं १ से ५। हृदयमें—यं। दाहिने कंधेपर—रं। गलेके ऊपर—लं। बायें कन्धेपर—वं। हृदयसे दाहिने हाथतक—शं। हृदयसे बायें हाथतक—षं। हृदयसे दाहिने पैरतक—सं। हृदयसे बायें पैरतक—हं। हृदयसे पेटतक—ळं। हृदयसे मुखतक—क्षं। हृदयसे अन्ततक हथेलीसे न्यास करना चाहिए।

● ● ●

संहारमातृकान्यास

बाह्यमातृकान्यास जहाँ समाप्त होता है, वहींसे संहार-मातृकान्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदयसे लेकर मुखतक—ॐ क्षं नमः। मुखसे पेटतक—ॐ लं नमः। इस प्रकार उलटे चलकर ललाटतक पहुँच जाना—यह संहारमातृकान्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है—

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणाक्षरविन्दरामां
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम्॥

'जो अपने चार करकमलोंमें सदा रुद्राक्षकी माला, हरिण-शावक, पत्थर फोड़नेकी तीखी टाँकी और पुस्तक लिये रहती हैं, जिनके तीन आँखें हैं और मुकुटपर अर्द्ध चन्द्रमा है, शरीरका रंग लाल है, कमलपर बैठी हुई हैं, स्तनोंके भारसे झुकी हुई उन वर्णेश्वरीको नमस्कार करो।' संहारमातृकान्यासके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी ऐसी सम्मति है कि यह केवल संन्यासियोंको ही करना चाहिए। बाह्यमातृकान्यासमें अक्षरोंका उच्चारण चार प्रकारसे किया जा सकता है। केवल बिन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और बिन्दु-विसर्गयुक्त अक्षर। विशिष्ट-कामनाओंके अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरोंके पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक्सिद्धिके लिए ऐं, श्रीवृद्धिके लिए श्रीं, सर्वसिद्धिके लिए नमः, वशीकरणके लिए क्लीं और मन्त्र-प्रसादनके लिए अः जोड़ा जाता है। मन्त्रशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यासके बिना मन्त्रसिद्धि अत्यन्त कठिन है।

पीठन्यास

देवताके निवासयोग्य स्थानको 'पीठ' कहते हैं। जैसे कामा-

इत्यादि स्थानविशेष पीठके नामसे प्रसिद्ध हैं। जैसे बाह्य आसन-विशेष शास्त्रीय विधिके अनुष्ठानसे पीठके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही पीठन्यासके प्रयोगसे साधकका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवताके निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युगमें जो दो प्रकारके पीठ प्रचलित हैं—समन्त्रक और अमन्त्रक, उन दोनोंकी अपेक्षा यह पीठन्यास उत्तम है, क्योंकि इसमें बाह्य आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। यह साधकके शरीरमें ही मन्त्रशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी-शक्तिके सम्मिश्रणसे उत्पन्न हो जाता है। विचारदृष्टिसे देखा जाय तो पीठन्यासमें जितने तत्त्वोंका न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीरमें पहलेसे ही विद्यमान हैं। स्मृति और मन्त्रके द्वारा उन्हें अव्यक्तसे व्यक्त किया जाता है, उनके सूक्ष्मरूपको स्थूलरूपमें लाया जाता है। यह सृष्टिक्रमके इतिहासके सर्वथा अनुकूल है और यह साधकको देवताका पीठ बना देनेमें समर्थ है। इसका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे होता है—

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पदके साथ जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर यथास्थान न्यास करना चाहिए—जैसे ॐ आधारशक्त्यै नमः। इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ॐ और नमः जोड़कर न्यासका विधान है।

हृदयमें—आधारशक्त्यै, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीरसमुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमण्डपाय, कल्पवृक्षाय, मणिवेदिकायै, रत्नसिंहासनाय।

दाहिने कन्धेपर—धर्माय	बायें कन्धेपर — ज्ञानाय
बायें ऊरुपर—वैराग्याय	दाहिने ऊरुपर—ऐश्वर्याय
मुखपर — अधर्माय	बायें पार्श्वमें—अज्ञानाय
नाभिमें — अवैराग्याय	दाहिने पार्श्वमें अनैश्वर्याय

फिर हृदयमें—अनन्ताय, पद्माय, अं सूर्यमण्डलाय द्वादश-कलात्मने, उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने, मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे, तं तमसे, आं आत्मने, अं अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने।

सबके साथ पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेनेके पश्चात् हृदयकमलके पूर्वादि केसरोंपर इष्टदेवताकी पद्धतिके अनुसार पीठशक्तियोंका न्यास करना चाहिए। उनके बीचमें इष्टदेवताका मन्त्र, जो कि इष्टदेवस्वरूप ही है, स्थापित करना चाहिए। इस न्याससे साधकके हृदयमें ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है जो अपने देवताको आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन उन-उन मन्त्रोंके प्रसङ्गमें आता है। उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं है, वैष्णवोंका एक केशवकीर्त्यादिन्यास है, उसमें भगवान्‌की केशव, नारायण, माधव आदि मूर्तियोंको उनकी शक्तियोंके साथ शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यासके फलमें कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करनेमात्रसे साधकको भगवान्‌के समान बना देता है। वास्तवमें न्यासोंमें ऐसी ही शक्ति है।

न्यासके प्रकारभेदोंकी चर्चा न करके यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सृष्टिके गम्भीर रहस्योंकी दृष्टिसे न्यास भी एक अतुलनीय साधन है। वर्णोंके न्याससे वर्णमयी सृष्टिका उद्बोध होकर परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी, तब प्रथम कम्पनके रूपमें प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणवसे ही समस्त स्वर-वर्णोंका विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी-संघटनसे वेद और वेदसे समस्त

सृष्टि। इस क्रमसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये समस्त महान् और अणु, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूपमें वर्ण ही हैं। वर्णोंके न्यास और इनकी वर्णनात्मकताके ध्यानसे इनका वास्तविक रूप, जो कि दिव्य है, दृष्टिगोचर हो जाता है और फिर तो सर्वत्र दिव्यता-ही-दिव्यता छा जाती है। समस्त नाम-रूपात्मक जगत्में अव्यक्तरूपसे रहनेवाली दिव्यताको व्यक्त करनेके लिए वर्णन्यास अथवा मन्त्रन्यास सर्वोत्तम साधनोंमें-से एक है।

पीठन्यास, योगपीठन्यास अथवा तत्त्वन्यासके द्वारा भी हम उसी परिणामपर पहुँचते हैं, जो साधनाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। अधिष्ठान परब्रह्ममें आधारशक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीरसागरमें मणिमण्डल, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदिकी भावना करते-करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्टदेवताका ध्यान करते-करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रमका ज्ञान होनेसे बुद्धि अधिष्ठानतत्त्वकी ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्टदेवताको प्राप्त करके उन्हींमें लय होने लगता है। इस प्रकार परमानन्दमयी अवस्थाका विकास होकर सब कुछ भगवान् ही है और भगवान्के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्यका साक्षात्कार हो जाता है।

सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द और हृदयमें इष्टदेवताका न्यास करनेके अतिरिक्त जब सर्वाङ्गमें—यों कहिये कि रोम-रोममें सशक्तिक देवताका न्यास कर लिया जाता है, तो मनको इतना अवकाश ही नहीं मिलता और इससे मधुर अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीरके रोम-रोममें देवता, अणु-अणुमें देवता, और देवतामय शरीर! ऐसी

स्थितिमें यह मन भी दिव्य हो जाता है। जड़ताके चिन्तनसे और अपनी जड़तासे यह संसार मनको जड़रूपमें प्रतीत होता है। इसका वास्तविक स्वरूप तो चिन्मय है ही, यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मयके ध्यानसे इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मयके रूपमें ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयताका बोध हो जाता है, तब अन्तर्देशमें रहनेवाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मयसे एक हो जाता है और केवल चैतन्य-ही-चैतन्य अवशेष रहता है।

यहाँ न्यासके सम्बन्धमें बहुत ही संक्षेपसे लिखा गया है।

पूजाके विविध उपचार

संक्षेप और विस्तार-भेदसे अनेक प्रकारके उपचार हैं—चौंसठ, अठारह, सोलह, दस और पांच।

६४ उपचार

देवीकी पूजाके चौंसठ उपचार यहां लिखे जाते हैं। इष्ट-मन्त्रसे इनका समर्पण होता है। मानस-पूजामें इनकी भावना होती है। वाग्बीज, मायाबीज और लक्ष्मीबीजके साथ भी इनका समर्पण होता है, जैसे पाद्यके समय—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पाद्यं कल्पयामि नमः। प्रत्येक उपचारका नाम जोड़कर यही मन्त्र बोल सकते हैं। उपचारोंके नाम ये हैं—१. पाद्यम्, २. अर्घ्यम्, ३. आसनम्, ४. सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, ५. मज्जनशालाप्रवेशनम्, ६. मज्जनमणिपीठोपवेशनम्, ७. दिव्यस्नानीयम्, ८. उद्वर्तनम्, ९. उष्णोदकस्नानम्, १०. कनककलशस्थितसर्वतीर्थाभिषेकम्, ११. धौतवस्त्रपरिमार्जनम्, १२. अरुणदुकूलपरिधानम्, १३. अरुणदुकूलोत्तरीयम्, १४. आलेपमण्डपप्रवेशनम्, १५. आलेपमणिपीठोपवेशनम्, १६. चन्दनागुरुकुङ्कुममृगमद-कर्पूरकस्तूरीरोचनादिदिव्यगन्धसर्वाङ्गानुलेपनम्, १७. केश-भारस्य कालागुरुधूपमल्लिकामालतीजातीचम्पकाशोकशत-पत्रपूगकुहरीपुन्नागवह्लारयूथी - सर्वर्तुकुसुममालाभूषणम्, १८. भूषणमण्डपप्रवेशनम्, १९. भूषणमणिपीठोपवेशनम्, २०. नवरत्नमुकुटम्, २१. चन्द्रशकलम्, २२. सीमन्तसिन्दूरम्, २३. तिलकरत्नम्, २४. कालाञ्जनम्, २५. कर्णपालीयुगलम्,

२६. नासाभरणम्, २७, अघरयावकम्, २८. ग्रथनभूषणम्, २९. कनकचित्रपदकम्, ३०. महापदकम्, ३१. मुक्तावलीम्, ३२. एकावलीम्, ३३. देवचछन्दकम्, ३४. केयूरयुगलचतुष्कम्, ३५. वलयावलीम्, ३६. ऊर्मिकावलीम्, ३७. काञ्चीदामकटिसूत्रम्, ३८. शोभाख्याभरणम्, ३९. पादकटकयुगलम्, ४०. रत्ननूपुरम्, ४१. पादांगुलीयकम्, ४२. एककरे पाशम्, ४३. अन्यकरे अंकुशम्, ४४. इतरकरेषु पुण्ड्रेक्षुचापम्, ४५. अन्यकरे पुष्पबाणान्, ३६. श्रीमन्माणिक्यपादुकाम्, ४७. स्वसमानवेशास्त्रावरणदेवताभिः सह सिंहासनारोहणम्, ४८. कामेश्वरपर्यङ्कोपवेशनम्, ४९. अमृताशनम्, ५०. आचमनीयम्, ५१. कर्पूरवटिकाम्, ५२. आनन्दोल्लासविलासहासम्, ५३. मङ्गलरात्रिकम् ५४. श्वेतच्छत्रम्, ५५. चामरयुगलम्, ५६. दर्पणम्, ५७. तालवृन्तम्, ५८. गन्धम्, ५९. पुष्पम्, ६०. धूपम्, ६१. दीपम्, ६२. नैवेद्यम्, ६३. पानम्, ६४. पुनराचमनीयम्; इसके पश्चात् ताम्बूलम्, नमस्कारम्—इत्यादि इन सबके साथ पूर्वोक्त बीज पहले जोड़कर पीछे 'कल्पयामि नमः' कहना चाहिए। मानस पूजामें तो ये उपचार ही पूरा ध्यान करा देते हैं। बाह्यपूजामें उपचारोंका अभाव होनेपर भी स्थिरभावसे इन मन्त्रोंका पाठ कर लेनेपर पूजाका ही फल मिलता है।

१८ उपचार

अष्टादशोपचार—१. आसन, २. स्वागत, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमनीय, ६. स्नानीय, ७. वस्त्र, ८. यज्ञोपवीत, ९. भूषण, १०. गन्ध, ११. पुष्प, १२. धूप, १३. दीप, १४. अन्न, १५. दर्पण, १६. माल्य, १७. अनुलेपन, १८. नमस्कार।



१६ उपचार

षोडशोपचार ये हैं—१. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचमनीय, ४. स्नानीय, ५. वस्त्र, ६. आभूषण, ७. गन्ध, ८. पुष्प, ९ धूप, १०. दीप, ११. नैवेद्य, १२. आचमनीय, १३. ताम्बूल, १४ स्तवपाठ, १५. तर्पण और १६. नमस्कार।

५ उपचार

पञ्चोपचार ये हैं—१. गन्ध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप और ५. नैवेद्य।

आसन समर्पणमें आसनके ऊपर पाँच पुष्प भी रख लेने चाहिए। छः पुष्पोंसे स्वागत करना चाहिए। पाद्यमें चार पल जल और उसमें श्यामा घास, दूब, कमल और अपराजिता देनी चाहिए। अर्घ्यमें चार पल जल और गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, दूब, चार तिल, कुशाका अग्रभाग तथा सरसों देना चाहिए। आचमनीयमें छः पल जल और उसमें जायफल, लवंग और कङ्कोलका चूर्ण देना चाहिए। मधुपर्कमें कांस्यपात्रस्थित घृत, मधु और दधि देना चाहिए। मधुपर्कके पश्चात्‌वाले आचमनमें केवल एक पल विशुद्ध जल ही आवश्यक होता है। स्नानके लिए पचास पल जलका विधान है। वस्त्र बारह अंगुलसे ज्यादा, नवीन और जोड़ा होना चाहिए। आभरण स्वर्ण-निर्मित हों और उनमें मोती आदि जड़े हों, गन्ध-द्रव्यमें चन्दन, अगर कपूर आदि एकमें मिला दिये गये हों। एक पलके लगभग उनका परिमाण कहा गया है। पुष्प पचाससे अधिक हों, अनेक रंगके हों। धूप गुग्गुलका हो और कांस्य पात्रमें निवेदन किया जाय। नैवेद्यमें एक पुरुषके भोजन योग्य वस्तु होनी चाहिए। चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय—चारों प्रकारकी सामग्री हो। दीप कपासकी बत्तीसे कपूर आदि मिलाकर बनाया जाय। बत्तीकी

लम्बाई चार अंगुलके लगभग हो और दृढ़ हो। दीपकके साथ शिलापिष्टका भी उपयोग करना चाहिए। इसीको श्री अथवा आक कहते हैं, जो आरतीके समय सात बार घुमाया जाता है। दूर्वा और अक्षतकी संख्या सौसे अधिक समझनी चाहिए। एक-एक सामग्री अलग-अलग पात्रोंमें रक्खी जाय; वे पात्र सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल या मिट्टीके हों। अपनी शक्तिके अनुसार ही करना चाहिए। जो वस्तु अपने पास नहीं हो, उसके लिए चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं और अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार जो मिल सकते हों, उनके प्रयोगमें आलस्य, प्रमाद और संकीर्णता नहीं करनी चाहिए।

पूजाके मन्त्र

भगवान् विष्णु, कृष्ण आदिकी पूजामें जिन मन्त्रोंका उपयोग होता है, वे लिखे जाते हैं—

आसन

सर्वान्तर्यामिणे देव सर्वबीजमयं ततः।
आत्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम्॥

'हे देव, आप सबके अन्तर्यामी और आत्मरूपसे स्थित हैं; इसलिए आपका मैं सर्वबीजस्वरूप उत्तम और शुद्ध आसन समर्पित कर रहा हूँ।'

स्वागत

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवा ब्रह्महरादयः।
कृपया देवदेवेश मदग्रे सन्निधीभव॥
तस्य ते परमेशान स्वागतं स्वागतं प्रभो।

'ब्रह्मा, शिव आदि जिसके दर्शनके लिए लालायित रहते हैं, हे देवदेवेश, वे ही सबके आराध्य आप दया करके मेरे सम्मुख आवें। परमेश्वर, प्रभो, आपका स्वागत है, स्वागत है।'

आवाहन

कृतार्थोऽनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं तु मे।
यदागतोऽसि देवेश चिदानन्दमयाव्यय ॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च।
यदपूर्णं भवेत् कृत्यं तथाप्यभिमुखो भव ॥

'हे विज्ञानानन्दघन, हे अविनाशी, हे देवेश, आपने जो पदार्पण किया, इससे मैं कृतार्थ हो गया; बड़ा अनुग्रह किया आपने। मेरा जीवन सफल हो गया। अज्ञान, असावधानी और साधनोंकी कमीके कारण मैं आपकी पूजा पूर्णतः नहीं कर सकता; तथापि आप कृपा करके मेरे सामने रहें।'

पाद्य

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात् परमानन्दसम्भवः।
तस्मै ते परमेशान पाद्यं शुद्धाय कल्पये ॥

'जिनकी बिन्दुमात्र भक्तिका संस्पर्श हो जानेसे हृदय परमानन्द धाराका उद्गम बन जाता है, हे परमेश्वर ! आपके उसी विशुद्ध स्वरूपको मैं पाद्य समर्पित कर रहा हूँ।'

आचमनीय

देवानामपि देवाय देवानां देवतात्मने।
आचामं कल्पयामीश सुधायाः स्तुतिहेतवे ॥

'हे ईश, आप समस्त देवताओंके भी देवता—आराध्य देव हैं। और तो क्या, स्वयं आप ही देवताओंमें देवत्वरूपसे प्रकट हैं। आप सुधाके मूलस्रोत हैं, अतः आपसे सुधाक्षरणके लिए मैं आचमनीय समर्पित कर रहा हूँ।'

अर्घ्य

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम्।
तापत्रयविमोक्षाय तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम् ॥

'हे प्रभो, आपका अर्घ्य तीनों तापोंको हरनेवाला, दिव्य एवं परमानन्दरूप है; इसलिए तीनों तापोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए मैं आपको अर्घ्य समर्पित करता हूँ।'

मधुपर्क

सर्वकल्मषहीनाय परिपूर्णसुधात्मकम्।
मधुपर्कमिमं देव कल्पयामि प्रसीद मे॥

'हे देव, आप समस्त पापों और उनके कारणोंसे मुक्त हैं; आपके लिए मैं यह परिपूर्णसुधात्मक मधुपर्क समर्पित करता हूँ। आप अनुग्रह करके इसे स्वीकार करें।'

पुनराचमनीय

उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम्॥

'जिसके स्मरण करनेमात्रसे उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भी पवित्र हो जाता है, वही आप हैं। आपके लिए मैं आचमन समर्पित करता हूँ।'

स्नान

परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्तये।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते॥

'हे ईश, आप अपने परमानन्दस्वरूप ज्ञान-समुद्रमें स्वयं निमग्न हैं। आपके लिए साङ्गोपाङ्ग स्नानार्थं जल मैं समर्पित करता हूँ।'

वस्त्र

मायाचित्रपटाच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे।
निरावरणविज्ञान वासस्ते कल्पयाम्यहम्॥

'आपने अपना परमज्योतिर्मय स्वरूप मायाके विचित्र वस्त्रमें ढक रक्खा है, वास्तवमें आप आवरणरहित विज्ञान-

स्वरूप हैं। ऐसे आपके लिए, हे देव, मैं वस्त्र समर्पित कर रहा हूँ।'

उत्तरीय

यमाश्रित्य महामाया जगत्सम्मोहनी सदा।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम्॥

'जिसका आश्रय करके महामाया जगत्को मोहित करती है, आप वे ही परमेश्वर हैं। आपके लिए मैं उत्तरीय समर्पित करता हूँ।'

यज्ञोपवीत

यस्य शक्तित्रयेणेदं सम्प्रोतमखिलं जगत्।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये॥

'जिसको सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप तीन शक्तियोंके द्वारा यह जगत् गुँथा हुआ है, जो स्वयं यज्ञसूत्र हैं, उन्हींके लिए मैं यज्ञोपवीत समर्पित कर रहा हूँ।'

आभूषण

स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते।
भूषणानि विचित्राणि कल्पयामि सुरार्चित॥

'हे सुरपूजित, आपका एक-एक अङ्ग स्वभावसे ही परम सुन्दर परम मनोहर है, आप स्वयं समस्त शक्तियोंके आश्रय हैं। आपके लिए मैं विचित्र भूषण समर्पित करता हूँ।'

जल

समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम्।
अखण्डानन्दसम्पूर्ण गृहाण जलमुत्तमम्॥

'हे देवदेवेश्वर, हे अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण, आपके लिए मैं सबको तृप्ति देनेवाला यह उत्तम जल समर्पित करता हूँ, कृपया इसे स्वीकार करें।'

गन्ध

परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णदिगन्तरम् ।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर ॥

'हे परमेश्वर, जिसकी परमानन्दमय सुरभिसे दिग्-दिगन्त परिपूर्ण हो रहे हैं—आपके लिए वही परम गन्ध मैं समर्पित करता हूँ। आप कृपा करके स्वीकार करें।'

पुष्प

तुरीयं गुणसम्पन्नं नानागुणमनोहरम् ।
आनन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तमम् ॥

'त्रिगुणातीत, गुणयुक्त, अनेक गुणोंसे मनोहर, आनन्दसौरभ-सम्पन्न, यह उत्तम पुष्प आपको समर्पित है; स्वीकार करें।'

धूप

वनस्पतिरसो दिव्यगन्धाढ्य सुमनोहरः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

'वनस्पतियोंके रससे संगृहीत दिव्य, सुगन्धपूर्ण निखिल देवताओंके आघ्राण करने योग्य यह सुमनोहर धूप मैं आपको समर्पित करता हूँ, कृपया स्वीकार करें।'

दीप

सुप्रकाशो महादीप सर्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

'परम तेजसे सम्पन्न, भीतर और बाहर ज्योतिर्मय, सब ओरसे अन्धकारको दूर करनेवाला जो उत्तम आलोकमय दीपक है, वह आप स्वीकार करें।'

नैवेद्य

सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि देवेश सानुगाय गृहाण तत् ॥

'हे देवेश, पवित्र पात्रमें बनाये हुए, अनेक प्रकारकी खाद्य-सामग्रियोंसे युक्त यह उत्तम नैवेद्य अनुचरोंके सहित आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ; आप कृपा करके इसे स्वीकार करें।'

भोजनके पश्चात् जल आदि पूर्वोक्त मन्त्रोंसे ही देने चाहिए। आगेकी विधि दूसरे प्रसङ्गमें देखनी चाहिए।

शास्त्रोंमें पूजाके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। देवताके स्थानको साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना—ये सब कर्म अभिगमनके अन्तर्गत हैं। गन्ध, पुष्प आदि पूजा-सामग्रीका संग्रह उपादान है। इष्टदेवकी आत्मरूपसे भावना करना योग है। मन्त्रार्थका अनुसन्धान करते हुए जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदिका पाठ करना, गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन करना, वेदान्तशास्त्र आदिका अभ्यास करना—ये सब स्वाध्याय हैं। उपचारोंके द्वारा अपने आराध्यदेवकी पूजा इज्या है। ये पाँच प्रकारकी पूजाएँ क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तिको देने वाली हैं।

माला और उसके संस्कार

साधकोंके लिए माला बड़े महत्त्वकी वस्तु है। माला भगवान्के स्मरण और नामजपमें बड़ी ही सहायक होती है, इसलिए साधक उसे अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं और उसे गुप्त धनकी भाँति सुरक्षित रखते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जपकी संख्या आवश्यक होनी चाहिए। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिए सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने पाती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं या कितने समयतक जप बन्द रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि कभी कहीं मन चला भी जाता है तो मालाका चलना बन्द हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती, और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य चलती ही रहेगी और यह दोनों कुछ ही समयमें मनको खींच लानेमें समर्थ हो सकेंगी। जो यह कहते हैं कि मैं जप तो करता हूँ, पर मेरा मन कहीं अन्यत्र रहता है उन्हें यह विश्वास रखना चाहिए कि यदि जीभ और माला दोनों घूमती रहीं—क्योंकि बिना कुछ-न-कुछ मन रहे ये घूम नहीं सकतीं, तो बाहर घूमनेवाला मन कहीं भी आश्रय न पाकर अपने उसी स्थिर अंशके पास लौट आयेगा जो मूर्च्छित-

रूपसे मालाकी गतिमें कारण हो रहा है। मालाके फिरनेमें जो श्रद्धा और विश्वासकी शक्ति काम कर रही है वह एक दिन व्यक्त हो जायगी और सम्पूर्ण मनको आत्मसात् कर लेगी।

मालाके द्वारा जब इतना काम हो सकता है तब आदर-पूर्वक उसका विचार न करके यों ही साधारण-सी वस्तु समझ लेना भूल नहीं तो और क्या है? उसे केवल गिननेको एक तरकीव समझकर अशुद्ध अवस्थामें भी पास रखना, बायें हाथसे गिन लेना, लोगोंको दिखाते फिरना, पैरतक लटकाये रहना, जहाँ कहीं रख देना, जिस किसी चीजसे बना लेना तथा चाहे जिस प्रकार गूँथ लेना सर्वथा वर्जित हैं। ऐसी बातें समझदारी और श्रद्धाकी कमीसे होती हैं, विशेषकर उन लोगोंसे जिन्होंने किसी गुरुसे विधिपूर्वक दीक्षा न लेकर मालाके विधि-विधानपर विचार ही नहीं किया है। शास्त्रोंमें मालाके सम्बन्धमें बहुत विचार किया गया है। यहाँ संक्षेपसे उसका कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

माला प्रायः तीन प्रकारकी होती है—करमाला, वर्णमाला और मणिमाला। अंगुलियोंपर जो जप किया जाता है वह करमाला-जप है। यह दो प्रकारसे होता है—एक तो अंगुलियोंसे ही गिनना और दूसरा अंगुलियोंके पर्वोंपर गिनना। शास्त्रतः दूसरा प्रकार ही स्वीकृत है। इसका नियम यह है कि अना-मिकाके मध्यभागसे नीचेकी ओर चले, फिर कनिष्ठाके मूलसे अग्रभागतक और फिर अनामिका और मध्यमाके अग्रभागपर होकर तर्जनीके मूलतक जाय। इस क्रमसे अनामिकाके दो, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका एक, मध्यमाका एक और तर्जनीके तीन पर्व—दस संख्या होती है। मध्यमाके दो पर्व सुमेरुके रूपमें छूट जाते हैं। साधारण करमालाका यही क्रम

है; परन्तु अनुष्ठानभेदसे इसमें अन्तर भी पड़ता है—जैसे, शक्तिके अनुष्ठानमें अनामिकाके दो पर्व, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका अग्रभाग एक, मध्यमाके तीन पर्व और तर्जनीका एक मूलपर्व—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। श्रीविद्यामें इससे भिन्न नियम है। मध्यमाका मूल एक, अनामिकाका मूल एक, कनिष्ठाके तीन, अनामिका और मध्यमाके अग्रभाग एक-एक और तर्जनीके तीन, इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। करमालासे जप करते समय अंगुलियाँ अलग-अलग नहीं होनी चाहिए। थोड़ी-सी हथेली मुड़ी रहनी चाहिए। मेरुका उल्लङ्घन और पर्वोंकी सन्धि (गाँठ)का स्पर्श निषिद्ध है। यह निश्चित है कि जो इतनी सावधानी रखकर जप करेगा उसका मन अधिकांश अन्यत्र नहीं जायगा। हाथको हृदयके सामने लाकर अंगुलियोंको कुछ टेढ़ी करके वस्त्रसे उसे ढककर दाहिने हाथसे ही जप करना चाहिए। जप अधिक संख्यामें करना हो तो इन दशकोंको स्मरण नहीं रखा जा सकता। इसलिए उनको स्मरण रखनेके लिए एक प्रकारकी गोली बनानी चाहिए। लाक्षा, रक्तचन्दन, सिन्दूर और गौके सूखे कंडेको चूर्ण करके सबके मिश्रणसे वह गोली तैयार करनी चाहिए। अक्षत, अंगुली, अन्न, पुष्प, चन्दन अथवा मिट्टीसे उन दशकोंका स्मरण रखना निषिद्ध है। मालाकी गिनती भी इनके द्वारा नहीं करनी चाहिए।

वर्णमालाका अर्थ है—अक्षरोंके द्वारा संख्या करना। यह प्रायः अन्तर्जपमें काम आती है। परन्तु बहिर्जपमें भी इसका निषेध नहीं है। वर्णमालाके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि पहले वर्णमालाका एक अक्षर बिन्दु लगाकर उच्चारण कीजिये और फिर मन्त्रका—इस क्रमसे अवर्गके सोलह, कवर्गसे

पवर्गतकके पचीस और यवर्गके हकारतक आठ और पुनः एक लकार— इस प्रकार पचासतक गिनते जाइये; फिर ळकारसे लौटकर अकारतक आ जाइये—सौकी संख्या पूरी हो जायगी। क्षको सुमेरु मानते हैं। उसका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिए। संस्कृतमें त्र और ज्ञ स्वतन्त्र अक्षर नहीं, संयुक्ताक्षर माने जाते हैं। इसलिए उनकी गणना नहीं होती। वर्ग भी सात नहीं, आठ माने जाते हैं। आठवाँ शकारसे प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा अं कं चं टं तं पं यं शं, यह गणना करके आठ बार और जपना चाहिए—ऐसा करनेसे जपकी संख्या एक सौ आठ हो जाती है। ये अक्षर तो मालाके मणि हैं। इनका सूत्र है कुण्डलिनी शक्ति। वह मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त सूत्ररूपसे गुँथे हुए हैं। इन्हींके द्वारा आरोह और अवरोह क्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जप करना चाहिए। इस प्रकार जो जप होता है, वह सद्यः सिद्धिप्रद होता है।

जिन्हें अधिक संख्यामें जप करना हो, उन्हें तो मणि-माला रखना अनिवार्य है। मणि (मनिया) पिरोये होनेके कारण इसे मणिमाला कहते हैं। यह माला अनेक वस्तुओंकी होती है। रुद्राक्ष, तुलसी, शङ्ख, पद्मबीज, जीवपुत्रक, मोती, स्फटिक, मणि, रत्न, सुवर्ण, मूँगा, चाँदी, चन्दन और कुशमूल—इन सभीके मणियोंसे माला तैयार की जा सकती है। इनमें वैष्णवोंके लिए तुलसी और स्मार्त, शैव, शाक्त आदिकोंके लिए रुद्राक्ष सर्वोत्तम माना गया है। माला बनानेमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि एक चीजकी मालामें दूसरी चीज न लगायी जाय। विभिन्न कामनाओंके अनुसार भी मालाओंमें भेद होता है और देवताओंके अनुसार भी। उनका विचार कर लेना चाहिए। मालाके मणि (दाने) छोटे-बडे न हों। एक सौ आठ दानोंकी

माला सब प्रकारके जपोंमें काम आती है। ब्राह्मण-कन्याओंके द्वारा निर्मित सूतसे माला बनायी जाय तो सर्वोत्तम है। शान्ति-कर्ममें श्वेत, वशीकरणमें रक्त, अभिचारमें कृष्ण और मोक्ष तथा ऐश्वर्यके लिए रेशमी सूतकी माला विशेष उपयुक्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिए क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्णके सूत्र श्रेष्ठ हैं। रक्त वर्णका प्रयोग सब वर्णोंके लोग सब प्रकारके अनुष्ठानोंमें कर सकते हैं। सूतको तिगुना करके फिरसे तिगुना कर देना चाहिए। प्रत्येक मणिको गूँथते समय प्रणवके साथ एक-एक अक्षरका उच्चारण करते जाना चाहिए—जैसे 'ॐ अं' कहकर प्रथम मणि तो 'ॐ आं' कहकर दूसरी मणि। बीचमें जो गाँठ देते हैं, उसके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे तो गाँठ दें और चाहे तो न दें। दोनों ही बातें ठीक हैं। माला गूँथनेका मन्त्र अपना इष्टमन्त्र भी है। अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि देकर सुमेरु गूँथे और पुनः ग्रन्थि लगाये। स्वर्ण आदिके सूत्रसे भी माला पिरोयी जा सकती है। रुद्राक्षके दानोंके मुख और पुच्छका भेद भी होता है। मुख कुछ ऊँचा होता है और पुच्छ नीचा। पोहनेके समय यह ध्यान रखना चाहिए कि दानोंका मुख परस्परमें मिलता जाय अथवा पुच्छ। गाँठ देनी हो तो तीन फेरेकी अथवा ढाई फेरेकी लगानी चाहिए। ब्रह्मग्रन्थि भी लगा सकते हैं। इस प्रकार निर्माण करके उसका संस्कार करना चाहिए।

पीपलके नौ पत्ते लाकर एकको बीचमें और आठको अगल-बगल इस ढंगसे रक्खे कि वह अष्टदल कमल-सा मालूम हो। बीचवाले पत्तेपर माला रक्खे और 'ॐ अं आं' इत्यादिसे लेकर 'हं क्षं' पर्यन्त समस्त स्वर-वर्णोंका उच्चारण करके पञ्चगव्यके द्वारा उसका प्रक्षालन करे और फिर 'सद्योजात' मन्त्र पढ़कर पवित्र जलसे उसको धो डाले। 'सद्योजात' मन्त्र यह है—

ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।
भवे भवे नाति भवे भवस्थ मां भवोद्भवाय नमः॥

इसके पश्चात् वामदेवमन्त्रसे चन्दन अगर, गन्ध आदिके द्वारा घर्षण करे। वामदेवमन्त्र निम्नलिखित है—

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमः।

बलाय नमो बलप्रमथनाथ नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः।

तत्पश्चात् अघोरमन्त्रसे धूपदान करे—

ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्व-सर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः।

यह अघोर-मन्त्र है। तदनन्तर तत्पुरुषमन्त्रसे लेपन करे।

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

इसके पश्चात् एक-एक दानेपर एक-एक बार अथवा सौ-सौ बार ईशानमन्त्रका जप करना चाहिए। ईशानमन्त्र यह है—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्।

फिर मालामें अपने इष्टदेवताकी प्राण-प्रतिष्ठा करे। प्राण-प्रतिष्ठाकी विधि पूजाके प्रकरणमें देखनी चाहिए। तदनन्तर इष्टमन्त्रसे सविधि पूजा करके प्रार्थना करनी चाहिए—

माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

यदि मालामें शक्तिकी प्रतिष्ठा की हो तो इस प्रार्थनाके पहले 'ह्रीं' जोड़ लेना चाहिए और रक्तवर्णके पुष्पसे पूजा करनी चाहिए।

• • •

वैष्णवोंके लिए माला-पूजाका मन्त्र है—

ॐ ऐं श्रीं अक्षमालायै नमः ।

अकारादि क्षकारान्त प्रत्येक वर्णसे पृथक्-पृथक् पुटित करके अपने इष्टमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करना चाहिए। इसके पश्चात् एक सौ आठ आहुति हवन करे अथवा दो सौ सोलह बार इष्टमन्त्रका जप कर ले। उस मालापर दूसरे मन्त्रका जप न करे। स्वयं हिले नहीं और मालाको हिलावे नहीं। आवाज नहीं होनी चाहिए और हाथसे छूटकर गिरनी नहीं चाहिए। माला टूटना मृत्यु ही है—ऐसा समझकर निरन्तर सावधान रहना चाहिए। उसे बड़े आदरसे पवित्र स्थानमें रखना चाहिए और प्रार्थना करनी चाहिए—

ॐ त्वं माले सर्वदेवानां सर्वसिद्धिप्रदा मता ।
तेन सत्येन मे सिद्धिं देहि मातर्नमोऽस्तु ते ॥

ऐसी प्रार्थना करके मालाको गुप्त रखना चाहिए। अंगुष्ठ और मध्यमाके द्वारा जप करना चाहिए और तर्जनीसे मालाका कभी स्पर्श नहीं करना चाहिए। सूत पुराना हो जाय तो फिर गूँथकर सौ बार जप करना चाहिए। प्रमादवश हाथसे गिर पड़े अथवा निषिद्ध स्पर्श हो जाय तो भी सौ बार जप करना चाहिए। टूट जानेपर फिर गूँथकर पूर्ववत् सौ बार जप करना चाहिए। मालाके इन नियमोंमें सावधानी वर्तनेसे शीघ्र ही सिद्धि-लाभ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

मालाके संस्कारकी एक और प्रक्रिया है, जिसका आगम-कल्पद्रुममें उल्लेख हुआ है। भूतशुद्धि आदि करके मालामें विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेशका आवाहन करके पूजा करनी चाहिए। फिर मालाको पञ्चगव्यमें डालकर 'ॐ हे सौः' इस मन्त्रसे निकालकर उसको सोनेके पात्रमें रक्खे। उसके

ऊपर पञ्चामृतके नियमसे दूध, दही, घी, मधु और शीतल जलसे स्नान करावे। इसके पश्चात् चन्दन, कस्तूरी और कुंकुम आदि सुगन्धद्रव्यसे मालाको लिप्त करे और 'ह्रे सौः' इस मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। इसके पश्चात् मालामें नवग्रह, दिक्पाल और गुरुदेवकी पूजा करके उस मालाको ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकारकी माला ही प्रत्येक क्षण भगवान्का स्मरण दिलाती रहती है। साधकको मालाकी आवश्यकता, उसके भेद, निर्माणपद्धति, संस्कार और प्रायश्चित्त जानकर उनके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिए।

●

मन्त्रानुष्ठान

मन्त्र शब्दका अर्थ है गुप्त परामर्श। वह श्रीगुरुदेवकी ही कृपासे प्राप्त होता है। मन्त्र प्राप्त होनेपर भी यदि उसका अनुष्ठान न किया जाय, सविधि पुरश्चरण करके उसे सिद्ध न कर लिया जाय तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिए। श्रद्धा, भक्तिभाव और विधिके संयोगसे जब मन्त्रोंके अक्षर अन्तर्देशमें प्रवेश करके एक दिव्य आहिण्डन करने लगते हैं तो उस संघर्षसे जन्म-जन्मान्तरीय पाप-तापोंके संस्कार धुल जाते हैं। जीवकी प्रसुप्त चेतनता जीवन्त, ज्वलन्त एवं जागरित-रूपमें चमक उठती है। मन्त्रार्थके साक्षात्कारसे वह कृतकृत्य हो जाता है। जबतक दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धाभावसे मन्त्रका अनुष्ठान नहीं किया जायगा, तबतक प्रेम अथवा ज्ञानके उदयकी कोई सम्भावना ही नहीं है। इस अनुष्ठानमें कुछ नियमोंकी आवश्यकता होती है। यम और नियम ही आन्तरिक एवं बाह्य शान्तिके मूल हैं। इन्हींकी नींवपर अनुष्ठानका प्रासाद प्रतिष्ठित है। इसलिए अनुष्ठान करनेके पूर्व उन्हें जान-लेना आवश्यक है। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान

मन्त्रानुष्ठान स्वयं करना चाहिए। यह सर्वोत्तम कल्प है। यदि श्रीगुरुदेव ही कृपा करके कर दें तब तो पूछना ही क्या। यदि ये दोनों सम्भव न हों तो परोपकारी, प्रेमी, शास्त्रवेत्ता,

सदाचारी ब्राह्मणके द्वारा भी कराया जा सकता है। कहीं-कहीं अपनी धर्मपत्नीसे भी अनुष्ठान करानेकी आज्ञा है; परन्तु ऐसा उसी स्थितिमें करना चाहिए, जब उसे पुत्र हो। अनुष्ठानका स्थान निम्नलिखित स्थानोंमें-से कोई होना चाहिए। सिद्धपीठ, पुण्यक्षेत्र, नदीतट, गुहा, पर्वतशिखर, तीर्थ, संगम, पवित्र जङ्गल, एकान्त उद्यान, बिल्ववृक्ष, पर्वतकी तराई, तुलसीकानन, गोशाला (जिसमें बैल न हों), देवालय, पीपल या आँवलेके नीचे, पानीमें अथवा अपने घरमें मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र फल-प्रद होता है। सूर्य, अग्नि, गुरु, चन्द्रमा, दीपक, जल, ब्राह्मण और गौओंके सामने बैठकर जप करना उत्तम माना गया है। यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। मुख्य बात यह है कि जहाँ बैठकर जप करनेसे चित्तकी ग्लानि मिटे और प्रसन्नता बढ़े, वही स्थान सर्वश्रेष्ठ है। घरसे दसगुना गोष्ठ, सौगुना जंगल, हजारगुना तालाब, लाखगुना नदीतट, करोड़गुना पर्वत, अरबोंगुना शिवालय और अनन्तगुना गुरुका सन्निधान है। जिस स्थानपर स्थिरतासे बैठनेमें किसी प्रकारकी आशङ्का-आतङ्क न हो, म्लेच्छ, दुष्ट, बाघ, साँप आदि किसी प्रकारका विघ्न न डाल सकते हों, जहाँके लोग अनुष्ठानके विरोधी न हों, जिस देशमें सदाचारी और भक्त निवास करते हों, गुरुजनोंकी सन्निद्धि और चित्तकी एकाग्रता सहजभावसे ही रहती हो, वही स्थान जप करनेके लिए उत्तम माना गया है। यदि किसी साधारण गाँव अथवा घरमें अनुष्ठान करना हो तो पहले कूर्म भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिए। जैसे कूर्म भगवान्‌की पीठपर स्थित मन्दराचलके द्वारा समुद्रमन्थन किया गया था वैसे ही मैं कूर्माकार भूमि-प्रदेशमें स्थित होकर उन्हींके आश्रयसे अमृतत्वकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए।

● ● ●

भोजनकी पवित्रता

मन्त्रके साधकको अपने भोजनके सम्बन्धमें पहलेसे ही विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि भोजनके रससे ही शरीर, प्राण और मनका निर्माण होता है। जो अशुद्ध भोजन करते हैं उनके शरीरमें रोग, प्राणोंमें क्षोभ और चित्तमें ग्लानिकी वृद्धि होती है। म्लान चित्तमें देवता और मन्त्रके प्रसादका उदय नहीं होता। इसके विपरीत जो शुद्ध अन्नका भोजन करते हैं, उनके चित्तके मल और विक्षेप शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं। अन्नका सबसे बड़ा दोष है न्यायोपार्जित न होना। जो अन्यायसे, बेईमानी, चोरी, डकैती आदि करके अपने शरीरका पालन-पोषण करते हैं उनकी उस क्रियाके मूलमें ही अशुद्ध मनोवृत्ति रहनेके कारण वह अन्न सर्वथा दूषित रहता है और उसके द्वारा शुद्ध चित्तका निर्माण असम्भवप्राय है। जो लोग अन्याय तो नहीं करते, परन्तु संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी न होनेपर भी बिना परिश्रम किये ही दूसरोंका अन्न खाते हैं, उनमें तमोगुणकी वृद्धि होती है, वे अधिकांश आलस्य और प्रमादमें पड़े रहते हैं। उनके चित्तका मल दूर होना भी बड़ा कठिन है। अपनी कमाईके अन्नमें भी, जिससे दूसरोंका चित्त दुखता है, उस अन्नसे चित्तकी शुद्धि नहीं होती। जिस गौका बछड़ा अलग छटपटा रहा है, पेटभर भोजन न मिलनेके कारण जिस गायकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हों, उसका न्यायोपार्जित दूध भी चित्तको प्रसन्न कर सकेगा—इसमें सन्देह है। इसलिए भोजनमें सबसे पहले यह बात देखनी चाहिए कि वह वर्णाश्रमोचित परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ है या नहीं? इसके उपयोगसे किसीका हक तो नहीं मारा गया है? इसको स्वीकार करनेसे किसीको कष्ट तो नहीं हुआ? कहीं इसके मूलमें

विषादका बीज तो नहीं है ? भोजनमें तीन प्रकारके दोष और माने गये हैं—जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोष। जातिदोष वह है जो स्वभावसे ही कई पदार्थोंमें रहता है। इसके उदाहरणमें प्याज, लहसुन और शलजमको रख सकते हैं। जातिदोष न होनेपर भी स्थानके कारण बहुत-सी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं। शुद्ध दूध भी यदि शराबखानेमें रख दिया जाय तो वह अपवित्र हो जाता है। यही आश्रयदोष है। शुद्ध स्थानमें रक्खी हुई शुद्ध वस्तु भी कुत्ते आदिके स्पर्शसे अशुद्ध हो जाती है। इस प्रकारके दोषका नाम निमित्तदोष है।

साधकका भोजन अवश्य ही इन तीनों दोषोंसे रहित होना चाहिए। गौके दही, दूध, घी, श्वेत तिल, मूँग, कन्द, केला, आम, नारियल, आँवला, जड़हन धान, जौ, जीरा, नारंगी आदि हविष्यान्न जो विभिन्न व्रतोंमें उपादेय माने गये हैं तथा जिस देशमें वहाँके निवासी वही भोजन कर सकते हैं। मधु, खारी नमक, तेल, पान, गाजर, उड़द, अरहर, मसूर, कोदो, चना, बासी अन्न, रूखा अन्न और वह अन्न जिसमें कीड़े पड़ गये हों, नहीं खाना चाहिए। कांसेके बर्तनमें भी नहीं खाना चाहिए।

भोजनके सम्बन्धमें एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिए। जितने भोजनकी आवश्यकता हो, उससे कम ही खाया जाय। भोज्य अन्न खूब पका हुआ हो, थोड़ा गरम हो, हृदयदाही न हो, जिससे इन्द्रियोंको अधिक बल और उत्तेजना मिले, पेट बढ़े एवं निद्रा, आलस्य आवे, वह सर्वथा वर्जित है। भगवान्‌ने एक स्थानपर पार्वतीसे कहा है कि—जिनकी जिह्वा परान्नसे जल गयी है, जिनके हाथ प्रतिग्रहसे जले हुए हैं और जिनका मन परस्त्रीके चिन्तनसे जलता रहता है, उन्हें भला

मन्त्रसिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? जिन्हें भिक्षा लेनेका अधिकार है, उन संन्यासी आदिकोंके लिए भिक्षा परान्न नहीं है। परन्तु वैदिक, सदाचारी, पवित्र एवं कुलीन ब्राह्मणोंसे ही भिक्षा लेनी चाहिए। एक ग्रन्थमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि सर्वोत्तम बात तो यही है कि अग्निके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु किसीसे न ली जाय। यदि ऐसा सम्भव न हो तो तीर्थके बाहर जाकर पर्वोंको छोड़कर न्यायोपार्जित अन्नकी भिक्षा लेनी चाहिए, सो भी एक दिन खानेभर। जो रागवश इससे अधिक भिक्षा ग्रहण करता है, उसे मन्त्रसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

कुछ आवश्यक बातें

स्त्रीसंसर्ग, उनकी चर्चा तथा जहाँ वे रहती हों वह स्थान छोड़ देना चाहिए। ऋतुकालके अतिरिक्त अपनी स्त्रीका भी स्पर्श करना निषिद्ध है। स्त्री साधिकाओंके लिए पुरुषोंके सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिए। कुटिलता, क्षौर, उबटन, बिना भोग लगाये भोजन और बिना संकल्पके कर्म नहीं करने चाहिए। केवल आँवलेसे अथवा पञ्चगव्यसे शास्त्रोक्त विधिसे स्नान करना चाहिए। स्नान, आचमन, भोजन आदि मन्त्रोच्चारणके साथ ही हों। यथाशक्ति तीनों समय, दो समय, अथवा एक समय स्नान, संध्या और इष्टदेवकी पूजा भी अवश्य करनी चाहिए। स्नान-तर्पण किये बिना, अपवित्र हाथसे, नग्न अवस्थामें अथवा सिरपर वस्त्र रखकर जप करना निषिद्ध है। जपके समय माला पूरी हुए बिना बातचीत नहीं करनी चाहिए। आवश्यक हो तो जप समाप्त करने और प्रारम्भ करनेके पूर्व आचमन कर लेना चाहिए।

यदि जप करते समय एक अन्य शब्दका उच्चारण हो जाय

तो एक बार प्रणवका उच्चारण कर लेना चाहिए। यदि वह शब्द कठोर हो तो प्राणायाम भी आवश्यक हो जाता है। यदि कहीं बहुत बात कर जाय तो आचमन, अंगन्यास करके पुनः माला प्रारम्भ करनी चाहिए। छींक और अस्पृश्य स्थानोंका स्पर्श हो जानेपर भी यही विधान है। जप करते समय यदि शौच, लघुशंका आदिका वेग हो तो उसका निरोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसी अवस्थामें मन्त्र और इष्टका चिन्तन तो होता नहीं, मल-मूत्रका ही चिन्तन होने लगता है। ऐसे समयका जप-पूजनादि अपवित्र होता है। मलिन वस्त्र, केश और मुखसे जप करना शास्त्रविरुद्ध है। जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—आलस्य, जँभाई, नींद, छींक, थूकना, डरना, अपवित्र अंगोंका स्पर्श और क्रोध।

जपमें न बहुत जल्दी करनी चाहिए और न बहुत विलम्ब। गाकर जपना, सिर हिलाना, लिखा हुआ पढ़ना, अर्थ न जानना और बीच-बीचमें भूल जाना—ये सब मन्त्रसिद्धिके प्रतिबन्धक हैं। जपके समय यह चिन्तन रहना चाहिए कि इष्टदेवता, मन्त्र और गुरु एक ही हैं।

जबतक जप किया जाय, यही बात मनमें रहे। पहले दिन जितना जपका संकल्प किया जाय उतना ही जप प्रतिदिन होना चाहिए, उसे घटाना-बढ़ाना ठीक नहीं। मन्त्रसिद्धिके लिए बारह नियम हैं—१. भूमिशयन, २. ब्रह्मचर्य, ३. मौन, ४. गुरु-सेवन, ५. त्रिकालस्नान, ६. पापकर्म-परित्याग, ७. नित्यपूजा, ८. नित्य दान, ९. देवताकी स्तुति एवं कीर्तन, १०. नैमित्तिक पूजा, ११. इष्टदेव और गुरुमें विश्वास, १२. जपनिष्ठा। जो इन नियमोंका पालन करता है, उसका मन्त्र सिद्ध ही समझना चाहिए।

● ● ●

स्त्री, शूद्र, पतित, व्रात्य, नास्तिक आदिके साथ सम्भाषण, उच्छिष्ट मुखसे वार्तालाप, असत्य भाषण और कुटिल भाषण छोड़ देना चाहिए। किसी भी अनुष्ठानके समय शपथ लेनेसे सब निरर्थक हो जाता है। अनुष्ठान आरम्भ कर देनेपर यदि मरणाशौच या जननाशौच पड़ जाय तो भी अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए। अपने आसन, शय्या, वस्त्र आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना चाहिए। किसीका गाना, बजाना, नाचना न सुनना चाहिए और न देखना ही। उबटन, इत्र, फूल-मालाका उपयोग और गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिए। एक वस्त्र पहनकर अथवा बहुत वस्त्र पहनकर एवं पहननेका वस्त्र ओढ़कर और ओढ़नेका वस्त्र पहनकर जप नहीं करना चाहिए। सोकर, बिना आसनके, चलते या खाते समय, बिना माला ढके और सिर ढककर जो जप किया जाता है, अनुष्ठानमें उसकी गिनती नहीं की जाती। जिसके चित्तमें व्याकुलता, क्षोभ, भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीरमें पीड़ा हो, स्थान अशुद्ध हो एवं अन्धकाराच्छन्न हो, उसे वहाँ जप नहीं करना चाहिए। जूता पहने हुए अथवा पैर फैलाकर जप करना निषिद्ध है। और भी बहुत-से नियम हैं, उन्हें जानकर यथाशक्ति उनका पालन करना चाहिए। ये सब नियम मानस जपके लिए नहीं हैं। शास्त्रकारोंने कहा है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा।

अर्थात् मन्त्रके रहस्यको जाननेवाला जो साधक एकमात्र मन्त्रकी ही शरण हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र, सब समय—चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते मन्त्रका अभ्यास कर सकता है। मानस जपमें किसी भी समय और

स्थानको दोषयुक्त नहीं समझा जाता। कुछ मन्त्रोंके सम्बन्धमें अवश्य ही विभिन्न विधान हैं। उनके प्रसंगमें वे नियम स्पष्ट कर दिये जायँगे।

संक्षेपमें इस बातका निर्देश किया गया है कि जप किस प्रकार सुषुप्त चेतनाको जागरित करके परम तत्त्वसे एक कर देता है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति आवश्यक नहीं है। जो लोग आधिदैविक जगत्का रहस्य जानते हैं, वे भलीभाँति इस तत्त्वसे अवगत हैं कि स्थूल जगत्की एक-एक वस्तुके पृथक्-पृथक् अधिष्ठातृ देवता होते हैं और वे जगा लिये जानेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ दे सकते हैं। केवल परमार्थ ही नहीं, इनके द्वारा स्वार्थ भी सिद्ध होता है। इन देवताओंमें अनेकों प्रकारके चमत्कारकी शक्ति रहती है और इनकी सहायतासे अर्थप्राप्ति, धर्मपालन एवं कामोपभोग पूर्णरूपसे किये जा सकते हैं। प्राचीन भारतीयोंके सम्बन्धमें जो बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं, वे किंवदन्तीमात्र नहीं हैं, पूर्ण सत्य हैं। चाहे अर्वाचीन लोग इसे न मानें परन्तु वे ही सिद्धियाँ आज भी सम्भव हैं। इन मन्त्रोंमें ऐसी ही शक्ति है, चाहे जो इनका जप करके प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर सकता है।

जपकी महिमा और भेद

शास्त्रोंमें जपकी बड़ी महिमा गायी गयी है। सब यज्ञोंकी अपेक्षा जप-यज्ञको श्रेष्ठ बतलाया गया है। जप-यज्ञमें किसी भी बाह्य सामग्री अथवा हिंसा आदिकी आवश्यकता नहीं होती। पद्म एवं नारदीय पुराणमें कहा गया है कि और समस्त यज्ञ वाचिक जपकी तुलनामें सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। वाचिक जपसे सौगुना उपांशु और सहस्रगुना मानस जपका फल होता है। मानस जप वह है, जिसमें अर्थका चिन्तन करते हुए

मनसे ही मन्त्रके वर्ण, स्वर और पदोंकी बार-बार आवृत्ति की जाती है। उपांशु जपमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानोंतक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। वाचिक जप वाणीके द्वारा उच्चारण है। तीनों ही प्रकारके जपोंमें मनके द्वारा इष्टका चिन्तन होना चाहिए। मानसिक स्तोत्र-पाठ और जोर-जोरसे उच्चारण करके मन्त्र-जप दोनों ही निष्फल हैं। गौतमीय तन्त्रमें कहा गया है कि केवल वर्णोंके रूपमें जो मन्त्रकी स्थिति है, वह तो उसकी जड़ता अथवा पशुता है। सुषुम्णाके द्वारा उच्चारित होनेपर उसमें शक्तिसंचार होता है। ऐसी भावना करनी चाहिए कि मन्त्रका एक-एक अक्षर चिच्छक्तिसे ओतप्रोत है और परम अमृतस्वरूप चिदाकाशमें उसकी स्थिति है। ऐसी भावना करते हुए जप करनेसे पूजा, होम आदिके बिना ही मन्त्र अपनी शक्ति प्रकाशित कर देते हैं। मन्त्रजप करनेकी यही विधि है कि सम्पूर्ण प्राण-बुद्धिसे सुषुम्णाके मूलदेशमें स्थित जीवरूपसे मन्त्रका चिन्तन करके मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यके ज्ञानपूर्वक उनका जप किया जाय। कुलार्णवतन्त्रमें भगवान् शङ्करने कहा है कि मन एक जगह, शिव दूसरी जगह, शक्ति तीसरी जगह और प्राण चौथी—ऐसी स्थितिमें मन्त्रसिद्धिकी क्या सम्भावना है। इसलिए इन सबका एकत्र चिन्तन करते हुए ही जप करना चाहिए।

मन्त्रमें सूतक और मन्त्रसिद्धिके साधन

मन्त्र दो प्रकारके सूतक होते हैं—एक जात-सूतक और दूसरा मृत-सूतक। एन दोनों अशौचोंका भङ्ग किये बिना मन्त्र सिद्ध नहीं होता। इसके भंग करनेकी विधि यह है कि जपके प्रारम्भमें एक सौ आठ बार अथवा असमर्थ होनेपर सात बार

ओंकारसे पुटित करके अपने इष्ट मन्त्रका जप कर लेना चाहिए। मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यका उल्लेख किया जा चुका है। उनके साथ ही योनिमुद्राका अनुष्ठान करना भी आवश्यक होता है। उसके विकल्पमें भूत-लिपिका विधान होता है, उससे अनुलोम-विलोम पुटित करके मन्त्र-जप करनेसे बहुत ही शीघ्र मन्त्र सिद्ध होता है। भूत-लिपिका क्रम निम्नलिखित है—

अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य र व ल ङ क ख घ ग ञ च छ झ ज ण ट ठ ढ ड न त थ ध द म प फ भ ब श ष स (इसके बाद इष्टमन्त्र; फिर) स ष श ब भ फ प म द ध न थ त न ड ढ ठ ट ण ज झ छ च ञ ग घ ख क ङ ल व र य ह औ ओ ऐ ए लृ ऋ उ इ अ।

इस प्रकार एक महीनेतक एक हजार जप करना चाहिए। ऐसा करनेसे मन्त्र जागरित हो जाता है। तीन प्राणायाम पहले और तीन पीछे कर लेने चाहिए। प्राणायामकी साधारण विधि यह है कि चार मन्त्रसे पूरक, सोलह मन्त्रसे कुम्भक और आठ मन्त्रसे रेचक करना चाहिए। जप पूरा हो जाने पर उसको तेजःस्वरूप ध्यान करके इष्टदेवताके दाहिने हाथमें समर्पित कर देना चाहिए। यदि देवीका मन्त्र हो तो बायें हाथमें समर्पण करना चाहिए। प्रतिदिन अथवा अनुष्ठानके अन्तमें जपका दशांश हवन, हवनका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश अभिषेक और यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए।

होम, तर्पण आदिमें-से जो अंग पूरा न किया जा सके, उसके लिए और भी जप करना चाहिए। होम न किया जा सके, तो उसके लिए और भी जप करना चाहिए। होम न कर सकनेपर ब्राह्मणोंके लिए होमकी संख्यासे चौगुना, क्षत्रियोंके लिए छःगुना, वैश्योंके लिए आठगुना जप करनेका विधान है।

स्त्रियोंके लिए वैश्योंके समान ही समझना चाहिए। शूद्र यदि किसी वर्णका आश्रित हो, तब तो उसके लिए अपने आश्रयकी संख्या ही समझनी चाहिए। यदि वह स्वतन्त्र हो तो उसे होमकी संख्यासे दसगुना जप करना चाहिए। अर्थात् एक लाखका अनुष्ठान हो तो होमके लिए भी एक लाख जप करना चाहिए। 'योगिनीहृदय'में वह संख्याका दुगुना, क्षत्रियोंके लिए तिगुना, वैश्योंके लिए चौगुना और शूद्रोंके लिए पाँचगुना है। अनुष्ठानके पाँच अङ्ग हैं—जप, होम, तर्पण, अभिषेक और ब्राह्मणभोजन। यदि होम, तर्पण और अभिषेक न हो सकें तो केवल ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे भी काम चल जाता है। स्त्रियोंके लिए तो ब्राह्मण-भोजनकी भी उतनी आवश्यकता नहीं है। उन्हें न्यास, ध्यान और पूजाकी भी छूट है, केवल जपमात्रसे उनके मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं। अनुष्ठानमें दीक्षासम्पन्न ब्राह्मणोंको ही खिलाना चाहिए।

अनुष्ठान पूरा हो जानेपर गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी अथवा उनके वंशजोंको दक्षिणा देनी चाहिए। वास्तवमें यह सब उनकी प्रसन्नताके लिए ही हैं। जबतक वे प्रसन्न न हों, तबतक परम रहस्यमय ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अपने प्रयत्न एवं विचारसे चाहे कोई कितना ही ऊपर क्यों न उठ जाय, वह पूर्णरूपसे सन्देहरहित नहीं हो सकता। इसलिए विशेष करके उपासनाके सम्बन्धमें गुरुके अतिरिक्त और कोई गति ही नहीं है। उनके बिना वह रहस्य और कौन बता सकता है, जिसमें गुरु और शिष्य एक हैं। शिष्य स्वयं गुरुका अस्तित्व कभी मिटा नहीं सकता। केवल गुरु ही अपने गुरुत्वको मिटाकर शिष्यको उसके वास्तविक स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे निगुरे नहीं जान सकते। अतः समझना

चाहिए कि अनुष्ठानकी पूर्णता गुरुकी प्रसन्नतामें है। एक बार मन्त्र सिद्ध हो जानेपर दूसरे मन्त्रोंकी सिद्धिमें किसी प्रकारका विलम्ब नहीं होता, वे निर्विघ्न सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार विधि-निषेध आदि जानकर गुरुदेवके आश्रयमें रहते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन्त्रानुष्ठान करनेसे अवश्यमेव मन्त्रसिद्धि होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

●

● ● ●

उपयोगी मन्त्रोंके जपकी विधि

शास्त्रोंमें भगवत्प्रेम एवं चारों पुरुषार्थ प्राप्त करनेके लिए अनेक मन्त्रोंका वर्णन हुआ है। मन्त्रोंके द्वारा भोग, मोक्ष एवं भगत्प्रेमकी सिद्धि हो सकती है। मन्त्रोंमें कौन-सी ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा साधकोंको सिद्धि-लाभ होता है, इसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है। यहाँ तो केवल कुछ मन्त्रोंकी जपविधि लिखी जाती है, जिनकी श्रद्धा हो, विश्वास हो वे किसीसे सलाह लेकर इनका अनुष्ठान कर सकते हैं। हाँ, इतनी बात दावेके साथ कही जा सकती है कि इन मन्त्रोंमें दैवी शक्ति है, अभिलाषा पूर्ण करनेकी अद्भुत शक्ति है। यदि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर निष्कामभावसे इनका जप किया जाय तो वे शीघ्र-से-शीघ्र अन्तःकरण शुद्ध कर देते हैं और भगवान्की सन्निधिका परमानन्द अनुभव कराने लगते हैं।

प्रायः बहुत-से लोग अपनी कुलपरम्पराके अनुसार अपने कुलगुरुओंसे दीक्षा ग्रहण करते हैं। समयके प्रभावमें अथवा अशिक्षा आदि अन्य कारणोंसे आजकलके गुरुजनोंमें भी अधिकांश मन्त्रविधिसे अनभिज्ञ ही होते हैं। उनसे दीक्षा पाये हुए शिष्योंके मनमें यदि विधिपूर्वक मन्त्रानुष्ठानकी इच्छा हो तो वे इस विधिके अनुसार जप कर सकते हैं, इस स्तम्भमें क्रमशः कई मन्त्रोंकी चर्चा होगी।

(१)

मन्त्रोंमें वासुदेव द्वादशाक्षर मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है। इसीके जपसे ध्रुवको बहुत शीघ्र भगवान्के दर्शन हुए

थे। पुराणोंमें इसकी महिमा भरी है। इसका स्वरूप है 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'। प्रातःकृत्य सन्ध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त होकर इसका जप करना चाहिए। पवित्र आसनपर बैठकर तुलसी, रुद्राक्ष अथवा पद्मकाष्ठकी मालाके द्वारा इसका जप किया जा सकता है। इसकी विधिका विस्तार तो बहुत है; परन्तु यहाँ संक्षेपमें लिखा जाता है। मन्त्रजपके पहले ऋषि, देवता और छन्दका स्मरण करना चाहिए। इस मन्त्रके ऋषि प्रजापति हैं, छन्द गायत्री है और देवता वासुदेव। इनका यथास्थान न्यास करना चाहिए। जैसे सिरका स्पर्श करते हुए 'शिरसि प्रजापतये ऋषये नमः'। मुखका स्पर्श करते हुए 'मुखे गायत्रीछन्दसे नमः'। हृदयका स्पर्श करते हुए 'हृदि वासुदेवाय देवतायै नमः'। इसके बाद करन्यास और अंगन्यास करना चाहिए। जैसे 'ॐ अंगुष्ठाभ्यां नमः'। 'ॐ नमः तर्जनीभ्यां स्वाहा'। 'ॐ भगवते मध्यमाभ्यां वषट्', 'ॐ वासुदेवाय अनामिकाभ्यां हुम्'। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय कनिष्ठाभ्यां फट्' इस प्रकार करन्यास करके इसी क्रमसे अंगन्यास भी करना चाहिए।

ॐ हृदयाय नमः। ॐ नमः शिरसे स्वाहा।
ॐ भगवते शिखायै वषट्। ॐ वासुदेवाय कवचाय हुम्।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अस्त्राय फट्।

हो सके तो सिर, ललाट, दोनों आँखें, मुख, गला, बाहु, हृदय, कोख नाभि, गुह्यस्थान, दोनों जानु और दोनों पैरोंमें मन्त्रके बारहों अक्षरोंका न्यास करना चाहिए। इस प्रकार न्यास करनेसे शरीर मन्त्रमय बन जाता है। सारी अपवित्रता दूर हो जाती है और मन अधिक एकाग्रताके साथ इष्टदेवके चिन्तनमें लग जाता है।

● ● ●

इसके पश्चात् मूर्ति-पञ्जरन्यासकी विधि है—

ललाटे	: ॐ अं केशवाय धात्रे नमः।
कुक्षौ	: ॐ नम् आम् नारायणाय अर्यम्णे नमः।
हृदि	: ॐ मोम् इम् माधवाय मित्राय नमः।
गलकूपे	: ॐ भम् ईम् गोविन्दाय वरुणाय नमः।
दक्षपार्श्वे	: ॐ गम् उम् विष्णवे अंशवे नमः।
दक्षिणांसे	: ॐ वम् मधुसूदनाय भगाय नमः।
गलदक्षिणभागे	: ॐ तेम् एम् त्रिविक्रमाय विवस्वते नमः।
वामपार्श्वे	: ॐ वाम् ऐम् वामनाय इन्द्राय नमः।
वामांसे	: ॐ सुम् ओम् श्रीधराय पूष्णे नमः।
गलवामभागे	: ॐ देम् औम् हृषीकेशाय पर्जन्याय नमः।
पृष्ठे	: ॐ वाम् अम् पद्मनाभाय त्वष्ट्रे नमः।
ककुदि	: ॐ यम् अः दामोदराय विष्णवे नमः।

इस मूर्ति-पञ्जरन्यासके द्वारा अपने सर्वांगमें भगवन्मूर्तियोंकी स्थापना करके किरीटमन्त्रसे व्यापकन्यास करते हुए भगवान्‌को नमस्कार करना चाहिए। किरीटमन्त्र यह है—

किरीटकेयूरहारमकरकुण्डलशङ्खचक्रगदाम्भोजहस्तपीताम्बरधरश्रीवत्साङ्कितवक्षःस्थलश्रीभूमिसहितस्वात्मज्योतिर्मयदीप्तकराय सहस्रादित्यतेजसे नमः।

इसके पश्चात् 'ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्', इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करके यह भावना करे कि भगवान्‌का सुदर्शन चक्र चारों ओरसे मेरी रक्षा कर रहा है। मेरा शरीर और मन पवित्र हो गया है, मेरे ध्यान और जपमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ेगी। मेरे चारों ओर, मेरे शरीरमें और मेरे हृदयमें भी भगवान्‌के ही दर्शन हो रहे हैं। इस प्रकारकी भावनामें तन्मय हो जाना चाहिए। इस मन्त्रका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है—

विष्णुं शारदचन्द्रकोटिसदृशं शंखं रथाङ्गं गदा-
मम्भोजं दधतं सिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम् ।
आबद्धाङ्गदहारकुण्डलमहामौलिं स्फुरत्कङ्कणं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम् ॥

'भगवान् वासुदेवका श्रीविग्रह शरत्कालीन करोड़ों चन्द्रमाओंके समान समुज्ज्वल, शीतल एवं मधुर है। वे अपनी चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। वे श्वेत कमलपर विराजमान हैं और उनकी शरीर-कान्तिसे तीनों लोक मोहित हो रहे हैं। वे बाजूबन्द, हार, कुण्डल, किरीट और कङ्कण आदि नाना अलंकारोंसे अलंकृत हैं। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न है और कण्ठमें कौस्तुभमणि शोभा पा रही है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि सामस्वरसे उनकी स्तुति कर रहे हैं। ऐसे वासुदेव भगवान्‌की मैं वन्दना करता हूँ।'

ध्यानमें भगवान्‌की षोडशोपचारसे पूजा करनी चाहिए। मानसपूजाके पश्चात् दक्षिणामें सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे प्रभो! यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा—जो कुछ मैं हूँ अथवा जो कुछ मेरा है—सब तुम्हारा ही है। भ्रमवश इसे मैंने अपना मान लिया था और अपनेको तुमसे पृथक् कर बैठा था। अब ऐसी कृपा कीजिये कि जैसा मैं तुम्हारा हूँ वैसा ही तुम्हारा स्मरण रखा करूँ। कभी एक क्षणके लिए भी तुम्हें न भूलूँ। तुम्हारा भजन हो, तुम्हारे मन्त्रका जप हो और तुम्हारा ही चिन्तन हो। मैं एकमात्र तुम्हारा ही हूँ।'

समय, रुचि और श्रद्धा हो तो बाह्य उपचारोंसे भी भग-वान्‌की पूजा करनी चाहिए। उसके पश्चात् स्मरण करते हुए द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करना चाहिए। जप करते समय माला

किसीको दिखनी नहीं चाहिए। तर्जनीसे मालाका स्पर्श नहीं होना चाहिए। मन्त्र दूसरेके कानमें नहीं पड़ना चाहिए। बारह लाखका एक अनुष्ठान होता है। अन्तमें दशांश हवन करनेकी विधि है और उसका दशांश तर्पण तथा तर्पणका दशांश ब्राह्मण-भोजन है। यदि हवन आदि करनेकी शक्ति और सुविधा न हो तो जितना हवन करना हो उसका चौगुना जप और करना चाहिए। इस विधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यम-नियमका पालन करते हुए अनुष्ठान करनेसे अवश्य-अवश्य मनोवाञ्छित फलकी सिद्धि होती है। भगवान्‌के दर्शनकी लालसा करनेपर भगवान् वासुदेवके दिव्य दर्शन हो सकते हैं। और निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे भगवत्प्रेम या मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(२)

'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है। यह सिद्ध मन्त्र है। इसके जपसे अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, अन्तःकरण शुद्ध होता है, कृपा करके भगवान् दर्शन देते हैं और भगवत्प्रेमकी उपलब्धि होती है। अनेक महापुरुषोंको इसके जपसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हैं। स्नान, सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर पवित्रताके साथ एक आसनपर बैठकर इसका जप किया जाता है। बोलकर जप करनेकी अपेक्षा मन-ही-मन जप करना अच्छा है। जपके पूर्व वैष्णवाचमन करनेकी विधि है। वैष्णवाचमनकी विधि इस प्रकार है—

ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः इन मन्त्रोंसे दाहिने हाथको गौके कानके समान करके एक-एक बूंद जल तीन बार पीवे।

ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ विष्णवे नमः इनसे हाथ धोवे।

ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः इनसे दोनों अँगूठे धो ले।

ॐ वामनाय नमः, ॐ श्रीधराय नमः इनसे मुख धोवे।

ॐ हृषीकेशाय नमः इससे हाथ धोवे।

ॐ पद्मनाभाय नमः इससे पैरोंपर जल छिड़के।

ॐ दामोदराय नमः इससे शिर पोंछ ले।

ॐ संकर्षणाय नमः इससे मुँहका स्पर्श करे।

ॐ वासुदेवाय नमः, ॐ प्रद्युम्नाय नमः इससे अँगूठा और तर्जनीके द्वारा नाकका स्पर्श करे।

ॐ अनिरुद्धाय नमः, ॐ पुरुषोत्तमाय नमः इनसे अँगूठा और अनामिकाके द्वारा दोनों आँखोंका स्पर्श करे।

ॐ अधोक्षजाय नमः, ॐ नृसिंहाय नमः इनसे अँगूठा और अनामिकाके द्वारा दोनों कानोंका स्पर्श करे।

ॐ अच्युताय नमः इससे अँगूठा और कनिष्ठिकाके द्वारा नाभिका स्पर्श करे।

ॐ जनार्दनाय नमः इससे हथेलीसे हृदयका स्पर्श करे।

ॐ उपेन्द्राय नमः इससे अँगुलियोंके अग्रभागसे सिरका स्पर्श करे।

ॐ हरये नमः, ॐ विष्णवे नमः इनसे दोनों हाथ टेढ़े करके एक दूसरेका पखुरा (कवच) स्पर्श करे।

श्रद्धापूर्वक किये हुए इस वैष्णवाचमनसे बाह्य और अन्तरका मैल धुल जाता है और अभ्यास हो जानेपर सर्वत्र भगवान् नारायणका स्पर्श प्राप्त होने लगता है। इसके बाद सामान्य अर्घ्यदानसे लेकर मातृकान्यासपर्यन्त विधि हो सके तो करनी चाहिए और केशवकीर्त्यादिन्यास भी करना चाहिए। केशव-कीर्त्यादिन्यास है तो कुछ लम्बा परन्तु बड़ा ही लाभदायक

है। यह न्यास सिद्ध हो जाय तो साधक बहुत शीघ्र संफल-मनोरथ हो जाता है। वह पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता है। इस न्यास में अँगुलियोंका निर्देश है। एकको अँगूठा और पाँचको कनिष्ठिका समझना चाहिए। जहाँ दो-तीन संख्याएँ एक साथ ही हों वहाँ उन सब अँगुलियोंसे एक साथ ही स्पर्श करना चाहिए।*

ललाटमें—ॐ अं केशवाय कीर्त्यै नमः। १, ४।
मुखमें—ॐ आं नारायणाय कान्त्यै नमः। २, ३, ४।
दाहिने नेत्रमें—ॐ इं माधवाय तुष्ट्यै नमः। १, ४।
बायें नेत्रमें—ॐ गोविन्दाय पुष्ट्यै नमः। १, ४।
दाहिने कानमें—ॐ उं विष्णवे धृत्यै नमः। १।
बायें कानमें—ॐ ऊं मधुसूदनाय शान्त्यै नमः। १।
दाहिने कानमें—ॐ ऋं त्रिविक्रमाय क्रियायै नमः। १, ४।
बायीं नाकमें—ॐ ॠं वामनाय दयायै नमः। १, ५।
दाहिने गालपर—ॐ ऌं श्रीधराय मेधायै नमः। २, ३, ४।
बायें गालपर—ॐ ॡं हृषीकेशाय हर्षायै नमः। २, ३, ४।
ओष्ठमें—ॐ एं पद्मनाभाय श्रद्धायै नमः। ३।
अधरमें—ॐ ऐं दामोदराय लज्जायै नमः। ३।
ऊपरके दाँतोंमें—ॐ ओं वासुदेवाय लक्ष्म्यै नमः। ३।
नीचेके दाँतोंमें—ॐ औं संकर्षणाय सरस्वत्यै नमः। ३।
मस्तक में—ॐ अं प्रद्युम्नाय प्रीत्यै नमः। ३।
मुखमें—ॐ अः अनिरुद्धाय रत्यै नमः। २, ४।
बाहुमूलसे लेकर—ॐ कं चक्रिणे जयायै नमः,—ॐ खं

---

* जिन्हें किसी सांसारिक पदार्थोंकी कामना हो, उन्हें प्रत्येक न्यास-मन्त्रमें ॐ के पश्चात् 'श्री' जोड़ लेना चाहिए।

अंगुलीतक—गदिने दुर्गायै नमः, ॐ गं शार्ङ्गिणे,
(दाहिने)—प्रभायै नमः ॐ घं खड्गिने सत्यायै नमः,
ॐ ङं शङ्खिने चण्डायै नमः । ३, ४, ५ ।
बाहुमूलसे लेकर—ॐ चं हलिने वाण्यै नमः । ॐ छं अंगुलीतक
(बायें) मुशलिने विलासिन्यै नमः, ॐ जं शूलिने
विजयायै नमः, ॐ झं पाशिने विरजायै नमः,
ॐ ञं अंकुशिने विश्वायै नमः । १ ।
पादमूलसे लेकर—ॐ टं मुकुन्दाय विनदायै नमः,
अंगुलियों तक दाहिने—ॐ ठं नन्दजाय सुनन्दायै नमः,
—ॐ डं नन्दिने स्मृत्यै नमः,
—ॐ ढं नराय ऋद्ध्यै नमः,
—ॐ णं नरकजिते समृद्ध्यै नमः । १ ।
पादमूलसे लेकर—ॐ तं हरये शुद्ध्यै नमः,
अंगुलियों तक (बायें)—ॐ थं कृष्णाय बुद्ध्यै नमः,
—ॐ दं सत्याय भक्त्यै नमः,
—ॐ धं सात्वताय मत्यै नमः ।
—ॐ नं शौरये क्षमायै नमः । १ ।
दाहिनी बगलमें—ॐ पं शूराय रमायै नमः । १ ।
बायीं बगलमें—ॐ फं जनार्दनाय उमायै नमः । १ ।
पीठमें—ॐ बं भूधराय क्लेदिन्यै नमः । १ ।
नाभिमें—ॐ भं विश्वमूर्त्यै क्लिन्नायै नमः । २, ३, ४, ५ ।
पेटमें—ॐ वैकुण्ठाय वसुदायै नमः । १,५ ।
हृदयमें—ॐ यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः । १,५ ।
दाहिने कन्धेपर—ॐ रं असृगात्मने बलिने परायै नमः । १,५ ।
गर्दनपर—ॐ लं मांसात्मने बलानुजातु परायणायै नमः । १,५ ।
बायें कन्धेपर—ॐ वं मेदात्मने बालाय सूक्ष्मायै नमः । १,५ ।

• • •

हृदयसे लेकर दाहिने—ॐ शं अस्थ्यात्मने वृषघ्नाय,
हाथ तक—सन्ध्यायै नमः। १—५।
हृदयसे लेकर बायें हाथतक—ॐ षं मज्जात्मने वृषाय प्रज्ञायै
नमः। १,५।
हृदयसे बायें पैरतक—ॐ हं प्राणात्मने वराहाय निशायै नमः।१,५।
हृदयसे पेटतक—ॐ लं जीवात्मने विमलाय अमोघायै नमः। १,५।
हृदयसे लेकर मुखतक—ॐ क्षं क्रोधात्मने नृसिंहाय विद्युतायै
नमः। १,५।

इनका यथास्थान न्यास करके ऐसा ध्यान करना चाहिए कि मेरे स्पर्श किये हुए अंगोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्यामवर्णके भगवान् नारायण पृथक्-पृथक् विराजमान हैं। उनके साथ वर्षाकालीन बादलमें चमकती हुई बिजलीके समान उनकी पृथक्-पृथक् शक्तियाँ शोभायमान हो रही हैं। कभी-कभी उनकी मुस्कराहटसे दाँत दीख जाते हैं और बड़ा ही सुन्दर सुखद शीतल प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। मेरे शरीरमें; रोम-रोममें भगवान् विष्णुका निवास है। मेरे हृदयकी एक-एक वृत्तिसे भगवान् नारायणका साक्षात् सम्बन्ध है। मेरा हृदय पवित्र हो गया है, अब इसमें स्थायी रूपसे भगवान् विष्णुके दर्शन हुआ करेंगे। अब पाप, अपवित्रता और अशान्ति मेरा स्पर्श नहीं कर सकती। इस न्यासके फलमें बतलाया गया है कि यह केशवादिन्यास न्यासमात्रसे ही साधकको अच्युत बना देता है अर्थात् वह किसी भी विघ्नके कारण साधनासे च्युत नहीं होता। भगवान्के चिन्तनमें तल्लीन होकर भगवन्मय हो जाता है।

इसके बाद नारायण अष्टाक्षर मन्त्रके जपका विनियोग करना चाहिए। हाथमें जल लेकर ॐ नारायणाष्टाक्षरमन्त्रस्य प्रजा-

पतिर्ऋषिः गायत्री छन्दः अघंलक्ष्मीहरिर्देवता भगवत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः। जल छोड़ दें। प्रजापति ऋषिका सिरमें, गायत्री छन्दका मुखमें और अघंलक्ष्मीहरिदेवताका हृदयमें न्यास कर लें। नारायण अष्टाक्षर मन्त्रका न्यास केवल श्री बीजसे ही होता है। जैसे 'ॐ श्री अंगुष्ठाभ्यां नमः।' 'ॐ श्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा' इत्यादि। करन्यासकी भाँति ही अंगन्यास भी कर लेना चाहिए। इसका ध्यान बड़ा ही सुन्दर है—

उद्यत्प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातं
पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम्।
नानारत्नोल्लसितविविधाकल्पमापीतवस्त्रं
विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकीचक्रपाणिम्॥

'भगवान् विष्णु उगते हुए सैकड़ों सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी, तपाये हुए सोनेकी भाँति अंगकान्तिवाले और दोनों ओर लक्ष्मी एवं पृथिवीके द्वारा सेवित हैं, अनेक प्रकारके रत्नजटित आभूषणोंसे भूषित हैं एवं फहराते हुए पीताम्बरसे परिवेष्टित हैं। चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान हो रहे हैं और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मेरी ओर देख रहे हैं। ऐसे भगवान् विष्णुकी मैं वन्दना करता हूँ।' इस प्रकारका ध्यान जब जम जाय तब मानस पूजा करनी चाहिए। मानस पूजामें ऐसी भावना की जाय कि सम्पूर्ण जलतत्त्वके द्वारा मैं भगवान्के चरण पखार रहा हूँ और सम्पूर्ण रसतत्त्वके द्वारा उन्हें रसीले व्यञ्जन अर्पण कर रहा हूँ। सम्पूर्ण पृथिवीतत्त्वका आसन और सम्पूर्ण गन्धतत्त्वकी दिव्य सुगन्ध निवेदन कर रहा हूँ। सम्पूर्ण अग्नितत्त्वका दीपदान एवं आरति कर रहा हूँ तथा सम्पूर्ण रूपतत्त्वसे युक्त वस्त्राभूषण भगवान्को पहना रहा हूँ।

सम्पूर्ण वायुतत्त्वसे भगवान्‌को व्यजन डुला रहा हूँ एवं सम्पूर्ण स्पर्शतत्त्वसे भगवान्‌के चरण दबा रहा हूँ। सम्पूर्ण आकाशतत्त्वमें भगवान्‌को विहार करा रहा हूँ एवं सम्पूर्ण शब्दतत्त्वसे भगवान्‌की स्तुति कर रहा हूँ। इस प्रकार पूजा करते-करते अन्तमें जो कुछ अवशेष रह जाय, मैं-मेरा, वह सब दक्षिणास्वरूप भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा देना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि यह सम्पूर्ण विश्व, मैं, मेरा जो कुछ है सब भगवान्‌का है, सब भगवान् ही हैं। दूसरे प्रकारसे भी मानस पूजा कर सकते हैं।

जब ध्यान टूटे तब सम्भव हो तो बाह्य पूजा करके, नहीं तो ऐसे ही मन्त्रका जप करना चाहिए। सोलह लाख जप करनेसे इसका अनुष्ठान पूरा होता है। यह मन्त्र सिद्ध हो जानेपर कल्पवृक्षस्वरूप बतलाया गया है। इसका दशांश हवन करना चाहिए या दशांशका चौगुना जप। बृहत् अनुष्ठान करना हो तो किसी जानकरसे सलाह भी ले लेनी चाहिए। इतनी बात अवश्य है कि चाहे जैसे भी हो, इसके जपसे हानि नहीं, लाभ-ही-लाभ है।

(३)

'ॐ रां रामाय नमः' यह षडक्षर राममन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें इसे चिन्तामणि नामसे कहा गया है। इसके जपसे भगवान् राम प्रसन्न होते हैं, सकाम साधकोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। निष्काम साधकोंको यथाधिकार भगवत्प्रेम या ज्ञान दे देते हैं। इस मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और राम देवता हैं। इनका यथास्थान न्यास कर लेना चाहिए। ॐ रां अंगुष्ठाभ्याम् नमः, ॐ रीं तर्जनीभ्याम् स्वाहा, ॐ रूं मध्यमाभ्याम् वषट् ॐ रैं अनामिकाभ्याम् हुम्, ॐ रौं कनिष्ठिकाभ्याम् वौषट्, ॐ रः करतलकरपृष्ठाभ्याम् फट्, इसी

प्रकार हृदय, सिर, शिखा, नेत्र, कवच और अस्त्रमें भी न्यास कर लेना चाहिए। फिर मन्त्रन्यास करना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्रमें ॐ रां नमः, भौंहोंके बीचमें ॐ रां नमः, हृदयमें ॐ मां नमः, नाभिमें ॐ यं नमः, लिंगमें ॐ नं नमः, पैरोंमें ॐ मं नमः, इसके पश्चात् ॐ नमो भगवते वासुदेवाय मन्त्रकी विधिमें बतलाये हुए मूर्तिपञ्जर और किरीटन्यास करना चाहिए। इस मन्त्रका ध्यान निम्नलिखित है—

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

'भगवान् श्री रामके शरीरकी कान्ति वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है। एक-एक अङ्गसे कोमलता टपक रही है। वीरासनसे बैठे हुए हैं, एक हाथ जंघेपर रखा हुआ है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रायुक्त है। हाथमें कमल लिये श्रीसीताजी पास ही बैठी हुई हैं। उनके शरीरसे बिजलीके समान प्रकाश निकल रहा है। भगवान् श्रीराम उनकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। मुकुट, बाजूबन्द आदि दिव्य सुन्दर-सुन्दर आभूषण शरीरपर जगमगा रहे हैं। ऐसे भगवान् रामकी मैं सेवा कर रहा हूँ।' ध्यानके पश्चात् मानस सामग्रीसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। पूजाकी विधि अन्यत्र देखनी चाहिए। इस मन्त्रका अनुष्ठान छः लाखका होता है, दशांश हवन होता है।

इस मन्त्रके कई भेद हैं। जैसे ॐ रां रामाय नमः, ॐ क्लीं रामाय नमः, ॐ ह्रीं रामाय नमः, ॐ ऐं रामाय नमः, ॐ श्रीं रामाय नमः, ॐ रामाय नमः, इनके ऋषि भी पृथक्-पृथक् हैं। क्रमशः ब्रह्मा, सम्मोहन, शक्ति, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य,

श्रीशिव। दूसरे मन्त्रके ऋषिके सम्बन्धमें मतभेद है, कहीं-कहीं सम्मोहनके स्थानमें विश्वामित्रका नाम आता है। इन मन्त्रोंके न्यास, ध्यान, पूजा आदि पूर्वोक्त मन्त्रके समान ही हैं। सब-के-सब सिद्ध मन्त्र हैं। इनसे अभीष्टकी सिद्धि होती है।

(४)

भगवान् रामका दशाक्षर मन्त्र है 'ॐ हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा' इसके वसिष्ठ ऋषि हैं, विराट् छन्द है, सीतानाथ भगवान् राम देवता हैं। इसका वीज हुं है और स्वाहा शक्ति है। करन्यास और अंगन्यास क्लींसे करना चाहिए। ॐ क्लीं अंगुष्ठाभ्याम् नमः इत्यादि। इसके दस अक्षरोंका न्यास शरीरके दस अङ्गोंमें होता है। जैसे मस्तकमें 'ॐ हुं नमः', ललाटमें 'ॐ जां नमः' भौंहोंके बीचमें 'ॐ नं नमः' इसी प्रकार शेष अक्षरोंका भी तालु, कंठ, हृदय नाभि, उरु, जानु और दोनों पैरोंमें न्यास कर लेना चाहिए। इसका ध्यान निम्नलिखित है—

अयोध्यानगरे रम्ये रत्नसौन्दर्यमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धवितानतोरणान्विते ॥
सिंहासनसमारूढं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः॥
संस्तूयमानं मुनिभिः सर्वज्ञैः परिशोभितम्।
सीतालंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम्॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।

'मनोहर अयोध्यानगरीमें एक अत्यन्त सुन्दर रत्नोंका बना मण्डप है। कल्पवृक्षके पुष्पोंसे उसकी चाँदनी व तोरण बने हुए हैं। सिंहासनके ऊपर बिछे हुए सुन्दर फूलोंपर भगवान् राम बैठे हुए हैं। राक्षस, वानर और देवगण दिव्य विमानोंसे आ-आकर उनकी स्तुति कर रहे हैं। सर्वज्ञ मुनिगण चारों ओर

रहकर उनकी सेवा कर रहे हैं। बायीं ओर माता सीता विराजमान हैं। लक्ष्मण निरन्तर सेवामें संलग्न हैं। भगवान् रामका शरीर श्याम वर्णका है। मुखमण्डल प्रसन्न है और वे सब प्रकारके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके पूर्वोक्त पद्धतिसे मानस पूजा और बाह्य पूजा करनी चाहिए तथा मन्त्रका जप करना चाहिए। इसका अनुष्ठान दस लाखका होता है और उसके दशांश हवनादि होते हैं।

(५)

भगवान् रामका नाम ही परम मन्त्र है। राम-राम करते रहें, किसी मन्त्रकी आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। राम मन्त्रका जप दो प्रकारसे किया जाता है—एक तो नामबुद्धिसे और दूसरा मन्त्रबुद्धिसे। नामके जपमें किसी प्रकारकी विधि आवश्यक नहीं है। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते रामनामका जप किया जा सकता है। परन्तु मन्त्रबुद्धिसे जो जप किया जाता है उसमें विधिकी आवश्यकता है। उसका केवल जप भी हो सकता है और उसमें कोई बीजाक्षर जोड़कर भी जप करते हैं; जैसे **श्रीं राम श्रीं, ह्रीं राम ह्रीं,** इनके साथ स्वाहा, नमः, हुं फट् आदि भी जोड़ सकते हैं। जैसे **श्रीं राम श्रीं स्वाहा, ह्रीं राम ह्रीं नमः, क्लीं हुं फट्,** इसी प्रकार ऐं भी जोड़ सकते हैं। इस प्रकार पृथक् योगसे त्र्यक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर आदि राममन्त्र बनते हैं। ये सब-के-सब मन्त्र चतुर्विध पुरुषार्थको देनेवाले हैं। राम शब्दके साथ चन्द्र और भद्र शब्द जोड़नेपर भी रामभद्र और रामचन्द्र ये चतुरक्षर मन्त्र बनते हैं। **रामाय नमः, श्रीं रामाय नमः, क्लीं रामाय नमः, अं रामाय नमः, आं रामाय नमः** इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णोंको जोड़कर पचासों प्रकारके राममन्त्र बनते हैं। रां यह रामका एकाक्षर

मन्त्र है। ये सब-के-सब मन्त्र भगवान्‌के प्रसादजनक हैं। इन सब मन्त्रोंके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और रामचन्द्र देवता हैं। एकाक्षर मन्त्रका अनुष्ठान बारह लाखका होता है और अन्य मन्त्रोंका छः लाखका। इनके ध्यान, पूजा आदि पूर्वोक्त षडक्षर मन्त्रके समान ही हैं। जिस साधकको भगवान्‌का जो लीलाविग्रह रुचे, उसीका ध्यान किया जा सकता है। भगवान् रामके रूपका वर्णन इस श्लोकमें बड़ा सुन्दर हुआ है—

दूर्वादलद्युतितनुं तरुणाब्जनेत्रं
हेमाम्बरं वरविभूषणभूषिताङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयकिशोरमूर्ति
पूर्तिं मनोरथभुवां भज जानकीशम्॥

'भगवान् रामका शरीर दूर्वादलके समान साँवला है, खिले हुए कमलके समान बड़े-बड़े नेत्र हैं। करोड़ों कामके समान अत्यन्त सुन्दर किशोर मूर्ति है। पीताम्बर धारण किये हुए हैं और अनेक उत्तम आभरणोंसे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग आभूषित हैं। वे सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं और माँ जानकीके जीवनधन हैं। हम प्रेमपूर्वक उनका ध्यान कर रहे हैं।'

(६)

भगवान् श्रीकृष्णके सैकड़ों मन्त्र प्रसिद्ध हैं। यहाँ केवल कुछ गिने-चुने मन्त्रोंकी ही चर्चा की जायगी। श्रीकृष्णका दशाक्षर मन्त्र बड़े ही महत्त्वका माना जाता है। दशाक्षर-मन्त्र है 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'। परन्तु इसके पूर्व 'क्लीं' जोड़नेका विधान है तथा बिना प्रणवके कोई मन्त्र होता ही नहीं है। इसलिए जपके समय 'ॐ क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इस प्रकार जप करना चाहिए। प्रातःकृत्य, वैष्णवाचमन आदि करके इस मन्त्रका विशेष प्राणायाम करना चाहिए। इस

मन्त्रका प्राणायाम दो प्रकारका होता है—एक तो क्लींके द्वारा और दूसरा दशाक्षर मन्त्रके द्वारा। दोनोंके नियम पृथक्-पृथक् हैं। एक बार क्लींका उच्चारण करके दाहिनी नासिकासे वायु निकाल दे फिर सात बार जप करते हुए वायुको बायीं नाकसे खींचे, बीस बार जप करनेतक वायुको रोक रखे और फिर एक बार उच्चारण करके बायीं नाकसे वायु छोड़ दे। फिर दक्षिणसे पूरक, दोनोंसे कुम्भक एवं दक्षिणसे रेचक इस प्रकार तीन प्रणायाम करे। यदि मन्त्रसे ही प्राणायाम करना हो तो सत्ताइस बार पूरक, कुम्भक, रेचक करना चाहिए।

इस मन्त्रके ऋषि नारद हैं, छन्द गायत्री है और देवता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसका बीज क्लीं है और स्वाहा शक्ति है। इनका क्रमशः सिर, मुख, हृदय, गुह्य और पादमें न्यास करना चाहिए। मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गा है। जप प्रारम्भ करनेके पूर्व उसका स्मरण और नमन कर लेना चाहिए। इसके न्यासकी विधि बहुत ही विस्तृत हैं। संक्षेपमें मूर्तिपञ्जरन्यास, जो कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रकी विधिमें लिखा गया है, कर लेना चाहिए। ॐ गों नमः, ॐ पीं नमः, ॐ जं नमः, इस प्रकार मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके साथ ॐ और नमः जोड़कर हृदय, सिर, शिखा, सर्वाङ्ग, दिशाएँ, दक्षिण पार्श्व, वाम पार्श्व, कटि, पीठ, मूर्धामें न्यास कर लेना चाहिए। इसका पचांगन्यास निम्नलिखित है—

ॐ आचक्राय स्वाहा हृदयाय नमः।
ॐ विचक्राय स्वाहा शिरसे स्वाहा।
ॐ सुचक्राय स्वाहा शिखायै वषट्।
ॐ त्रैलोक्यरक्षणचक्राय स्वाहा कवचाय हुम्।
ॐ असुरान्तकचक्राय स्वाहा अस्त्राय फट्।

इसके पश्चात् द्वादशाक्षरमन्त्रोक्त किरीट, केयूरादि मन्त्रसे व्यापकन्यास करके ॐ सुदर्शनाय अस्त्राय फट्, इससे दिग्बन्ध करके सम्पूर्ण बाधा-विघ्ननिवारक अपने चारों ओर रक्षकरूपसे स्थित चक्रभगवान्का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद ध्यान करना चाहिए।

रमणीय वृन्दावन-धाममें कमलनयन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण प्रेममूर्ति गोपकन्याओंकी आँखें उनके सुन्दर साँवरे मुखकमलपर लगी हैं और भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए उनका हृदय उत्सुक हो रहा है। वे इतनी प्रेममुग्ध हो गयी हैं कि उन्हें अपने तन-बदनकी सुधि नहीं है, गला रुँध गया है, बोलतक नहीं सकतीं। उनके शरीरके आभूषण जगमगा रहे हैं, वे जब प्रेमगर्भित दृष्टिसे मुस्कराकर श्रीकृष्णकी ओर देखती हैं तो उनके लाल-लाल अधरोंपर-से दाँतोंकी उज्ज्वल किरणें नाच उठती हैं। भगवान् श्रीकृष्णका मुख चन्द्रमाके समान खिले हुए नीले कमलके समान शोभायमान हो रहा है। सिरपर मुकुटमें मयूरपिच्छ लगा हुआ है, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और कौस्तुभमणि पहने हुए हैं, उनके सुन्दर शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है और शरीरकी ज्योतिसे उनके दिव्य आभूषणोंकी कान्ति भी मलिन पड़ रही है। वे बड़े ही मधुर स्वरसे बाँसुरी बजा रहे हैं। गौएँ एकटक उन्हें देख रही हैं। एक ओर ग्वाल-बाल घेरे हुए हैं तो दूसरी ओर गोपियाँ भी अपने नेत्रकमलोंसे उनकी पूजा कर रही हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्णका हम निरन्तर चिन्तन करते रहें।

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।

गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥

मानस पूजा और सम्भव हो तो बाह्य पूजा करनेके पश्चात् मन्त्रका जप करना चाहिए। इसका अनुष्ठान दस लाखका होता है। उसका दशांश हवन आदि। इतना स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ जो बातें लिखी जा रही हैं वे बहुत ही साधारण, संक्षिप्त और नित्य पूजा की हैं। जिन्हें बृहत् अनुष्ठान करना हो वे किसी जानकारसे पूरी विधि जान लें तो बहुत ही अच्छा हो। यों तो भगवान् श्रीकृष्णके मन्त्रजपसे लाभ-ही-लाभ है।

(७)

श्रीकृष्ण-दशाक्षर मन्त्रके साथ श्रीं, ह्रीं, क्लीं, जोड़ देनेपर त्रयोदशाक्षर मन्त्र बन जाता है। इन तीनोंको भिन्न-भिन्न क्रमसे जोड़नेपर त्रयोदशाक्षर मन्त्र तीन प्रकारका हो जाता है; यथा—

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

ॐ क्लीं ह्रीं श्रीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

इन तीनोंकी विधि पूर्वोक्त दशाक्षर मन्त्रकी भाँति ही है। ऋषि नारद, छन्द विराट् गायत्री और श्रीकृष्ण देवता। बीज-शक्ति और मन्त्राधिष्ठात्री देवता पूर्ववत्। इनका अनुष्ठान पाँच लाखका ही होता है। ये मन्त्र सर्वार्थसाधक, भगवत्प्रसादजनक और महापुरुषोंके द्वारा अनुभूत हैं। श्रद्धा-विश्वासके साथ उनमें लग जानेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है। इन मन्त्रोंका ध्यान भी दशाक्षर मन्त्रके समान ही करना चाहिए। किसी-किसीके मतसे दूसरे और तीसरे मन्त्रोंके ध्यान भिन्न प्रकारके हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका चिन्तन होना चाहिए। पूर्वोक्त ध्यान-पर ही अधिकांश लोग ध्यान देते हैं।

गोपालतापिनी उपनिषत्का अष्टादशाक्षर मन्त्र तो बहुत ही प्रसिद्ध सिद्ध मन्त्र है। वह है 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपी-जनवल्लभाय स्वाहा'। प्रातःकृत्यसे लेकर सम्पूर्ण क्रियाकलाप करके ऋष्यादिन्यास करना चाहिए। इसके ऋषि भी नारद हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। क्लीं बीज और स्वाहा शक्ति हैं। पूरे मन्त्रका उच्चारण करके तीन बार व्यापकन्यास कर लेना चाहिए। इसका करन्यास निम्नलिखित है—

ॐ क्लीं कृष्णाय अंगुष्ठाभ्याम् नमः।
ॐ गोविन्दाय तर्जनीभ्याम् स्वाहा।
ॐ गोपीजन मध्यमाभ्याम् वषट्।
ॐ वल्लभाय अनामिकाभ्याम् हुम्।
ॐ स्वाहा कनिष्ठाभ्याम् फट्।

इसी क्रमसे ॐ क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः आदि अंगन्यास करके अष्टादशाक्षर मन्त्रसे सिरसे पैरतक व्यापकन्यास कर लेना चाहिए। फिर ॐ क्लीं नमः, ॐ कृं नमः, ॐ ष्णां नमः इस प्रकार मन्त्रके प्रत्येक वर्णका सिर, ललाट, आज्ञाचक्र, दोनों कान, दोनों आँख, दोनों नाक, मुख, गला, हृदय, नाभि, कटि, लिंग, दोनों जानु और दोनों जाँघोंमें न्यास कर लेना चाहिए। नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य और चरणोंमें मन्त्रके प्रत्येक पदके साथ नमः जोड़कर न्यास कर लेना चाहिए। इस मन्त्रमें अंगन्यासका क्रम करन्यासके अनुरूप ही है। मूर्तिपञ्जरन्यास और किरीट-न्यास पूर्व मन्त्रोंके अनुरूप ही इसमें भी होते हैं। ध्यान दशा-क्षरमन्त्रवाला ही है। उसके पश्चात् मानस पूजा, बाह्य पूजा आदि करके जप करना चाहिए। इस मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र ही फलप्रद होता है। इस मन्त्रके साथ ह्रीं और श्रीं जोड़ देनेपर

यही मन्त्र बीस अक्षरका हो जाता है। केवल ऋषि नारदके स्थानमें ब्रह्मा हो जाते हैं और न्यासमें 'ह्रीं श्रीं क्लीं अंगुष्ठाभ्याम् नमः' इस प्रकार कहना पड़ता है।

(९)

बालगोपालके अठारह मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। किसी एकके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेसे साधकका अभीष्ट सिद्ध होता है। यहाँ उन मन्त्रोंका संक्षेपरूपसे स्वरूपनिर्देश किया जाता है—

'ॐ कृः' यह एकाक्षर मन्त्र है।

'ॐ कृष्ण' यह द्व्यक्षर मन्त्र है।

'ॐ क्लीं कृष्ण' यह त्र्यक्षर मन्त्र है।

'ॐ क्लीं कृष्णाय' यह चतुरक्षर मन्त्र है।

'ॐ कृष्णाय नमः' 'ॐ क्लीं कृष्णाय क्लीं', ये दो पञ्चाक्षर मन्त्र हैं।

ॐ गोपालाय स्वाहा', 'ॐ क्लीं कृष्णाय स्वाहा',

'ॐ क्लीं कृष्णाय नमः' ये तीन षडक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ कृष्णाय गोविन्दाय', 'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय क्लीं ये सप्ताक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय' 'ॐ दधिभक्षणाय स्वाहा',

'ॐ सुप्रसन्नात्मने नमः', ये अष्टाक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ क्लीं कृष्णाय गोवन्दिाय क्लीं', 'ॐ क्लीं ग्लौं श्यामलाङ्गाय नमः' ये नवाक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ बालवपुषे कृष्णाय स्वाहा' यह दशाक्षर मन्त्र है।

'ॐ बालवपुषे क्लीं कृष्णाय स्वाहा' यह एकादशाक्षर मन्त्र है।

प्रातःकालके सारे नित्यकृत्य समाप्त होनेके पश्चात् इनमें-से

किसी एकका जप करना चाहिए। इन सब मन्त्रोंके ऋषि नारद हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। इनका क्रमसे सिर, मुख और हृदयमें न्यास कर लेना चाहिए। करन्यास और अंगन्यास निम्नलिखित मन्त्रोंसे करना चाहिए—

ॐ क्लां अंगुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ क्लीं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ क्लूं मध्यमाभ्यां वषट्।
ॐ क्लैं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ क्लौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ॐ क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी क्रमसे 'ॐ क्लां हृदयाय नमः' इत्यादि अङ्गन्यास भी कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् पूर्वमन्त्रोक्त भावना करके बालगोपालका ध्यान करना चाहिए। इन अठारहों मन्त्रोंका ध्यान एक ही है। यथा—

अव्याद् व्याकोषनीलाम्बुजरुचिरारुणाम्भोजनेत्रोऽम्बुजस्थो
बालो जङ्घाकरीरस्थलकलितरणत्किङ्किणीको मुकुन्दः।
दोर्भ्यां हैयंगवीनं दधदतिविमलं पायसं विश्ववन्द्यो
गोगोपीगोपवीतोरुरुनखविलसत्कण्ठभूषश्चिरं वः॥

'भगवान् गोपालके अङ्गकी कान्ति खिले हुए नील कमलके समान है। नेत्र रक्तकमलके समान हैं और वे बालकवेषमें कमलके ऊपर नृत्य कर रहे हैं। उनके चरणोंमें नूपुर रुनझुन कर रहे हैं और कमरमें किङ्किणीकी ध्वनि हो रही है। एक हाथमें नवनीत लिये हुए हैं और दूसरे में अत्यन्त उज्ज्वल खीर। ये साधारण बालक नहीं, सारे संसारके वन्दनीय हैं। चारों ओरसे इन्हें गौ, ग्वाल और ग्वालिनें घेरे हुए हैं। कण्ठमें बाघके नखकी कँठुली शोभायमान है। ये सर्वदा सारे जगत्की रक्षामें

तत्पर रहते हैं।' इस प्रकार ध्यान करते हुए मन-ही-मन भगवान्‌की षोडशोपचारसे पूजा करनी चाहिए। विशेष अनुष्ठान-के लिए विशेष विधियाँ हैं। इनमें-से किसी मन्त्रका अनुष्ठान एक लाखका होता है और घी, मिश्री और खीरसे दस हजार आहुतियोंका हवन होता है। हवनकी सामर्थ्य न होनेपर चालीस हजार जप और करना चाहिए। हवनकी संख्यासे ही तर्पणका भी विधान है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करनेपर ये मन्त्र अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, भगवद्दर्शन और भगवत्प्रेमको देनेवाले हैं। जो बिना श्रद्धा-भक्तिके विधिपूर्वक जप करते हैं उनके अन्दर ये श्रद्धा-भक्तिका सञ्चार करनेवाले हैं।

(१०)

बालगोपालका एक दूसरा अष्टाक्षर मन्त्र है—

'ॐ गोकुलनाथाय नमः।'

इसके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। उनका यथास्थान न्यास करके मन्त्रका न्यास करना चाहिए—

ॐ गो कु अंगुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ ल ना तर्जनीभ्यां स्वाहा।

ॐ था य मध्यमाभ्यां वषट्।

ॐ नमः अनामिकाभ्यां हुम्।

ॐ गोकुलनाथाय नमः कनिष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार 'ॐ गो कु हृदयाय नमः' इत्यादि अंगन्यास भी कर लेना चाहिए। वैष्णव मन्त्रोंमें कई स्थानोंपर षडंग-न्यासकी जगह पञ्चाङ्गन्यास ही आता है। इसके ध्यानका प्रकार निम्नलिखित है—

पञ्चवर्षमतिदृप्तमङ्गने धावमानमतिचञ्चलेक्षणम्।
किङ्किणीवलयहारनूपुरैरञ्चितं नमत गोपबालकम्॥

भगवान् बालगोपालकी अवस्था पाँच वर्षकी है। स्वभाव बड़ा ही चञ्चल है। आँगनमें इधर-उधर दौड़ रहे हैं। आँखें बड़ी चञ्चलताके साथ अपने भक्तोंपर कृपामृतकी वृष्टि करनेके लिए दौड़ रही हैं। किंकिणी, कंकण, हार, नूपुर आदि आभूषणोंसे भूषित हैं। ऐसे बालगोपालके सामने हम बड़े प्रेमसे प्रणत होते हैं।

ऐसे ही भगवान्को नमस्कार करना चाहिए। इसी प्रकार ध्यान करके मानसपूजा करनी चाहिए। बालगोपालकी ऐसी ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके बाह्यपूजा करनी चाहिए। इसका अनुष्ठान आठ लाखका होता है और आठ हजारका हवन होता है। जो साधक इस मन्त्रका जप करता है उसकी सांसारिक अभिलाषाएँ भी पूरी होती हैं और भगवान् तो मिलते ही हैं, परन्तु जहाँतक हो सके सांसारिक अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिए इन मन्त्रोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

बालगोपालका एक दूसरा मन्त्र है—'ॐ क्लीं कृष्ण क्लीं।' इसके ऋषि आदि पूर्वोक्त मन्त्रके ही हैं और न्यास भी वैसे ही होता है। इसके ध्यानका वर्णन दूसरे प्रकारसे हुआ है—

श्रीमत्कल्पद्रुममूलोद्गतकमललसत्कर्णिकासंस्थितो यः
तच्छाखालम्बिपद्मोदरविशरदसंख्यातरत्नाभिषिक्तः।
हेमाभःस्वप्रभाभिस्त्रिभुवनमखिलं भासयन् वासुदेवः
पायाद् वः पायेसादोऽनवरतनवनीतामृताशीरसीमः॥

'कल्पवृक्षके मूलसे निकले हुए कमलकी सुन्दर कर्णिकापर श्रीगोपाल विराजमान हैं। इस कल्पवृक्षकी शाखाओंसे निकले हुए कमलोंसे असंख्य रत्न झर रहे हैं और उनसे बालगोपालका अभिषेक हो रहा है। गोपालके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान है। और उनकी अंगकान्तिसे तीनों लोक प्रकाशित हो रहे हैं।

ये गोपालरूपी वासुदेव निरन्तर पायस और मक्खनका रस लेते रहते हैं और इनका श्रीविग्रह अनन्त है। ये सर्वदा हम लोगोंकी रक्षा करें!' इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रका जप करना चाहिए। इस मन्त्रका अनुष्ठान चार लाखका होता है। चौवालीस हजार हवन होता है। इस मन्त्रके दोनों 'क्लीं' में यदि रेफ जोड़ दिया जाय तो यह मन्त्रचूड़ामणि बन जाता है। उस मन्त्रका स्वरूप होगा—'ॐ क्लीं कृष्ण क्लीं' इसके ऋषि, देवता आदि भी पूर्वोक्त मन्त्रके समान हैं। इसका न्यास 'क्लीं' बीजसे होता है—यथा ॐ क्लीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, ॐ क्लीं हृदयाय नमः इत्यादि। इसके ध्यानका प्रकार निम्नलिखित है—

आरक्तोद्यानकल्पद्रुमतलविलसत्स्वर्णदोलाधिरूढं
गोपीभ्यां प्रेक्ष्यमाणं विकसितनवबन्धूकसिन्दूरभासम्।
बालं लोलालकान्तं कटितटविलसत्क्षुद्रघण्टाघटाढ्यं
वन्दे शार्दूलकामाङ्कुशललितगणाकल्पदीप्तं मुकुन्दम्॥

'अनुरागके रागसे रञ्जित लाल उद्यानमें कल्पद्रुमके नीचे सोनेके झूलनेपर भगवान् बालगोपाल झूल रहे हैं। दो गोपियाँ दोनों ओर खड़ी होकर धीरे-धीरे उन्हें झुला रही हैं और प्रेमभरी चितवनसे देख रही हैं। उनके शरीरकी कान्ति खिले हुए बन्धूकपुष्पके समान सिन्दूरवर्णका है। उनकी घुँघराली अलकें शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुके झकोरोंसे कपोलोंपर लहरा रही हैं। कमरमें बँधे हुए घुंघरू पालनेके हिलनेसे रुनझुन कर रहे हैं। बघनहे आदिसे उनका गला बड़ा ही सुन्दर मालूम हो रहा है। ऐसे भगवान् बालगोपालकी हम बार-बार वन्दना करते हैं।'

ध्यानके पश्चात् मानसपूजा करके उपर्युक्त मन्त्रका जप करना चाहिए। इसके सब विधि-विधान पहले मन्त्रके समान हैं। अनुष्ठान भी उतनेका ही होता है!

• • •

भगवान् विष्णु, राम और कृष्णकी ही भाँति भगवान् शिवके भी अनेकों मन्त्र हैं। वास्तवमें विष्णु और शिवमें कोई भेद नहीं है। शिवके हृदय विष्णु हैं और विष्णुके हृदय शिव हैं। यदि शिव दिन-रात भगवान् विष्णुके नामका जप किया करते हैं तो भगवान् विष्णु भी शिवकी पूजा करते समय नियमित कमलोंकी संख्या पूर्ण न होनेपर अपना नेत्रतक चढ़ा देते हैं। एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न साधकोंकी रुचि भगवान्के भिन्न-भिन्न रूपोंकी ओर होती है। जिनकी रुचि विष्णुमें हो वे विष्णुका मन्त्र जपें, जिनकी रुचि शिवमें हो वे शिवके मन्त्र जपें। दोनोंके फल समान हैं, दोनोंसे ही कामनाएँ पूर्ण होती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होता है, परमज्ञान अथवा परमप्रेमका उदय होता है। यहाँ एक दो प्रधान मन्त्रोंकी ही चर्चा की जायगी। जो इन मन्त्रोंसे दीक्षित हों वे अथवा जिन्हें ये मन्त्र प्रिय हों वे दीक्षा लेकर अनुष्ठान कर सकते हैं।

'ॐ ह्रौं' यह शिवजीका एकाक्षर मन्त्र है। इसे शास्त्रोंमें प्रसादबीज कहा गया है। प्रातःकृत्यसे प्राणायामतकके कृत्य करके मातृकान्यासकी भाँति श्रीकण्ठादिन्यास करना चाहिए।

ॐ अं श्रीकण्ठपूर्णोदरीभ्यां नमः।
ॐ आं अनन्तविरजाभ्यां नमः।
ॐ इं सूक्ष्मशाल्मलीभ्यां नमः।
ॐ ईं त्रिमूर्तिलोलाक्षीभ्यां नमः।
ॐ उं अमरेश्वरवर्तुलाक्षीभ्यां नमः।
ॐ ऊं अर्घीशदीर्घघोणाभ्यां नमः।
ॐ ऋं भारभूतिसुदीर्घमुखीभ्यां नमः।
ॐ ॠं अतिथीशगोमुखीभ्यां नमः।

ॐ लृं स्थाणुकदीर्घजिह्वाभ्यां नमः ।
ॐ लॄं हरकुण्डोदरीभ्यां नमः ।
ॐ एं झिंटीशोर्ध्वमुखीभ्यां नमः ।
ॐ ऐं भूतिकेशविकृतमुखीभ्यां नमः ।
ॐ ओं सद्योजातज्वालामुखीभ्यां नमः ।
ॐ औं अनुग्रहेश्वरोल्कामुखीभ्यां नमः ।
ॐ अं अक्रूरप्सुश्रीमुखीभ्यां नमः ।
ॐ अः महासेनविद्यामुखीभ्यां नमः ।[1]
ॐ कं क्रोधीशसर्वसिद्धिमहाकालीभ्यां नमः ।
ॐ खं चण्डेशसर्वसिद्धिसरस्वतीभ्यां नमः ।
ॐ गं पञ्चान्तकगौरीभ्यां नमः ।
ॐ घं शिवोत्तमत्रैलोक्यविद्याभ्यां नमः ।
ॐ ङं एकरुद्रमन्त्रशक्तिभ्यां नमः ।
ॐ चं कूर्मात्मशक्तिभ्यां नमः ।
ॐ छं एकनेत्रभूतमातृकाभ्यां नमः ।
ॐ जं चतुराननलम्बोदरीभ्यां नमः ।
ॐ झं अब्जेशद्राविणीभ्यां नमः ।
ॐ ञं सर्वनागरीभ्यां नमः ।
ॐ टं सोमेशखेचरीभ्यां नमः ।
ॐ ठं लाङ्गलिमञ्जरीभ्यां नमः ।
ॐ डं दारुकरूपिणीभ्यां नमः ।

---

१. अकारसे लेकर षोडश स्वरोंका न्यास कण्ठमें स्थित षोडशदल कमलपर करना चाहिए ।

२. क से लेकर ठ तकके बारह वर्णोंका न्यास हृदयके द्वादशदल कमलपर करना चाहिए ।

ॐ ढं अर्धनारीश्वरवीरणीभ्यां नमः ।
ॐ णं उमाकान्तकाकोदरीभ्यां नमः ।
ॐ तं आषाढिपूतनाभ्यां नमः ।
ॐ थं दण्डिभद्रकालीभ्यां नमः ।
ॐ दं अद्रियोगिनीभ्यां नमः ।
ॐ धं मीनशङ्खिनीभ्यां नमः ।
ॐ नं मेषगर्जिनीभ्यां नमः ।
ॐ पं लोहितकालरात्रिभ्यां नमः ।
ॐ फं शिखिकुब्जिकाभ्यां नमः ।[1]
ॐ बं छगलण्डकपर्दिनीभ्यां नमः ।
ॐ भं द्विरण्डेशवज्राभ्यां नमः ।
ॐ मं महाकालजयाभ्यां नमः ।
ॐ यं त्वगात्मबालिसुमुखेश्वरीभ्यां नमः ।
ॐ रं असृगात्मभुजङ्गेशरेवतीभ्यां नमः ।
ॐ लं मांसात्मपिनाकीशमाधवीभ्यां नमः ।
ॐ वं मेदात्मखड्गीशवारुणीभ्यां नमः ।[2]
ॐ शं अस्थ्यात्मबकेशवायवीभ्यां नमः ।
ॐ षं मज्जात्मश्वेतरक्षोविदारिणीभ्यां नमः ।
ॐ सं शुक्रात्मभृग्वीशसहजाभ्यां नमः ।[3]

---

१. ड से लेकर फ तकके दस वर्णोंका न्यास नाभिके दशदल कमल-पर करना चाहिए ।

२. ब से लेकर ल तकके छः वर्णोंका न्यास लिंगमूलमें स्थित षट्दल कमलपर करना चाहिए ।

३. व से लेकर स तकके वर्णोंका न्यास मूलाधारके चतुर्दल कमलपर करना चाहिए ।

ॐ हं प्राणात्मनकुलीशलक्ष्मीभ्यां नमः।
ॐ लं बीजात्मशिवव्यापिनीभ्यां नमः।
ॐ क्षं क्रोधात्मसंवर्तकमायाभ्यां नमः।[1]

न्यास, पूजा आदिसे पवित्र होकर मन्त्रके ऋषि आदिका यथास्थान न्यास करना चाहिए। इस मन्त्रके ऋषि वामदेव हैं, पंक्ति छन्द है और सदाशिव देवता हैं। इसके करांगन्यास 'ॐ हां अंगुष्ठाभ्यां नमः' इत्यादि छः दीर्घ मात्राओंसे युक्त हकारपर बिन्दु लगाकर होते हैं। इस मन्त्रका ध्यान निम्न-लिखित है—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः
त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

'श्री महादेवजीके पाँचों मुख पाँच वर्णके हैं। एक मुक्तावर्ण है, दूसरा पीतवर्ण है, तीसरा मेघवर्ण है, चौथा शुक्लवर्ण है और पाँचवाँ जवाकुसुमके समान (रक्तवर्ण) है। पाँचों मुखोंमें तीन-तीन नेत्र हैं और सबके ललाटमें अर्ध चन्द्रमा शोभायमान है। शरीरसे करोड़ों पूर्ण चन्द्रमाओंके समान कान्ति निकलती रहती है। नौ हाथोंमें शूल, टङ्क (पत्थर तोड़नेकी टाँकी), खड्ग, वज्र, अग्नि, सर्प, घंटा, अंकुश और पाश धारण किये हुए हैं तथा दसवें हाथमें अभयमुद्रा शोभायमान है। इनके शरीरपर नाना प्रकारकी विचित्र वस्तुएँ हैं और बड़ा ही दिव्य कर्पूरके समान उज्ज्वल अंग है। मैं प्रेमसे ऐसे भगवान् शंकरका

---

१. ह से लेकर क्ष तकके वर्णोंका न्यास आज्ञाचक्रमें करना चाहिए। (कोई-कोई इस चक्रको तीन दलका मानते हैं।)

ध्यान करता हूँ।' इस प्रकार ध्यान करनेके पश्चात् मानसपूजा करनी चाहिए और अर्घ्यस्थापन करना चाहिए। शिवके अर्घ्य-स्थापनमें यह विशेषता है कि शंखका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस मन्त्रका अनुष्ठान पाँच लाखका होता है, दशांश हवन होता है। इससे भगवान् शंकरकी प्रसन्नता सम्पन्न होती है।

(१२)

भगवान् शिवका दूसरा प्रसिद्ध मन्त्र है 'ॐ नमः शिवाय।' यह ॐकारके बिना पञ्चाक्षर है और ओंकार जोड़नेपर षडक्षर कहा जाता है। इसके वामदेव ऋषि हैं, पंक्ति छन्द है और ईशान देवता हैं। इनका यथास्थान न्यास कर लेना चाहिए। इसका मूर्तिन्यास निम्न प्रकारका है—

दोनों तर्जनीमें—ॐ नं तत्पुरुषाय नमः।
दोनों मध्यमामें—ॐ मं अघोराय नमः।
दोनों कनिष्ठिकामें—ॐ शिं सद्योजाताय नमः।
दोनों अनामिकामें—ॐ वां वामदेवाय नमः।
दोनों अँगूठोंमें—ॐ यं ईशानाय नमः।

इसके बाद मन्त्रके प्रत्येक वर्णसे करन्यास और अंगन्यास कर लेना चाहिए। श्रीशिवमन्त्रका ध्यान निम्नलिखित है—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

भगवान् शिवके शरीरकी कान्ति चाँदीके पर्वतके समान उज्ज्वल है। ललाटपर अर्ध चन्द्रमा शोभायमान है एवं रत्नराशिके समान निर्मल अंग हैं। दो हाथोंमें परशु और मृग-चर्म धारण किये हुए हैं। एक हाथमें वरकी मुद्रा है और दूसरे

हाथमें अभयकी। मुखसे प्रसन्नता टपक रही है। बाघाम्बर पहने हुए कमलपर विराजमान हैं, पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुखमें तीन आँखें हैं। सबका भय दूर करनेके लिए उद्यत हैं और यही विश्वके बीज एवं मूल कारण हैं। देवतालोग चारों ओरसे स्तुति कर रहे हैं।' ऐसे भगवान् शंकरका ध्यान करना चाहिए। मानस-पूजाके पश्चात् मन्त्रका जप करना चाहिए। इस मन्त्रका अनुष्ठान छत्तीस लाखका होता है। साधक इसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र भगवान् शंकरका कृपा-प्रसाद प्राप्त करता है।

(१३)

श्रीहनुमान्‌जीके बहुत-से मन्त्र हैं, यहाँ केवल दो मन्त्रोंकी चर्चा की जाती है। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे अर्जुनने इस मन्त्रका अनुष्ठान किया था। श्रीहनुमान्‌जीने प्रसन्न होकर अर्जुनको दर्शन दिया था और युद्धके समय उनके रथपर स्थित होकर रथको भस्म होनेसे बचाया था। उन्हींके कारण कर्णके बाणोंसे अर्जुनका रथ बहुत पीछे नहीं हटता था। वह मन्त्र है—'ॐ हं हनुमते रुद्रात्मकाय हुं फट्।' यह द्वादशाक्षर मन्त्र है। नदीके तटपर, भगवान्‌के मन्दिरमें, निर्जन स्थानमें, पर्वत या वनमें इस मन्त्रकी साधना करनी चाहिए। इस मन्त्रका ध्यान निम्नलिखित है—

महाशैलं समुत्पाट्य धावन्तं रावणं प्रति।
तिष्ठ तिष्ठ रणे दुष्ट घोररावं समुत्सृजन्॥
लाक्षारसारुणं रौद्रं कालान्तकयमोपमम्।
ज्वलदग्निलसन्नेत्रं सूर्यकोटिसमप्रभम्।
अङ्गदाद्यैर्महावीरैर्वेष्टितं रुद्ररूपिणम्॥
एवंरूपं हनूमन्तं ध्यात्वा यः प्रजपेन्मनुम्।
लक्षजपात् प्रसन्नः स्यात् सत्यं ते कथितं मया॥

श्रीहनुमान्‌जी बड़ा भारी पर्वत उखाड़कर रावणकी ओर दौड़ रहे हैं कि रे दुष्ट ! युद्धमें थोड़ी देर ठहर जा। लाक्षारसके समान अरुण वर्ण और प्रलयकालीन यमराजके समान भीषण श्रीहनुमान्‌जीकी आँखें धधकती हुई आगके समान जाज्वल्यमान हो रही हैं। करोड़ों सूर्यकी भाँति चमकता हुआ शरीर है रुद्र-रूपी हनुमान्‌को अङ्गदादि महावीरोंने घेर रखा है। इसप्रकार हनुमान्‌का ध्यान करके मन्त्रका जप करना चाहिए। एक लाख जप पूरा होनेपर हनुमान्‌जी साधकपर प्रसन्न होते हैं। श्रीशिवजी कहते हैं कि हे पार्वती ! यह बात सर्वथा सत्य है। इस मन्त्रमें ध्यानकी प्रधानता है, एकमात्र ध्यानसे ही निधि प्राप्त हो जाती है।

प्रातःकाल नदीमें स्नान करके कुशासन बिछाकर तटपर बैठ जाय और प्राणायाम एवं कराङ्गन्यास करे। तत्पश्चात् मूलमन्त्रसे आठ पुष्पाञ्जलि देकर सीतासहित भगवान् राम-चन्द्रका ध्यान करते हुए ताम्रपत्रपर श्रीहनुमान्‌जीका यन्त्र अंकित करे। पहले केशरके साथ अष्टदल पद्म बनाना चाहिए। रक्तचन्दनकी कलमसे एवं घिसे हुए रक्तचन्दनसे उसका निर्माण करना चाहिए। पद्मकी कर्णिकामें श्रीहनुमान्‌जीका आवाहन करे और अर्घ्य, पाद्य आदि देकर मूलमन्त्रसे गन्ध, पुष्प आदि समर्पण करे। कमलके आठ दलोंपर पूर्वसे लेकर ईशान कोण-तक क्रमशः सुग्रीव, लक्ष्मण, अंगद, नल, नील, जाम्बवान्, कुमुद और केशरीकी पूजा करे। दलोंके अग्रभागमें वानरोंके लिए आठ पुष्पाञ्जलि दे। ध्यान करके एक लाख जप करे, जितने दिनोंतक एक लाखकी संख्या पूरी न हो जाय उतने दिनोंतक ऐसा ही करना चाहिए। आखिरी दिन महान् पूजा करनी चाहिए। उस दिन एकाग्रचित्तसे तबतक जप करे जबतक

श्रीहनुमान्‌जीके दर्शन न हो जायँ। साधककी दृढ़ता देखकर श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न होते हैं और आधी रातको साधकके सामने आकर दर्शन देते हैं। साधककी इच्छाके अनुसार वर देते हैं और उसे कृतकृत्य कर देते हैं। यह साधन बड़ा ही पवित्र और देवताओंके लिए भी दुर्लभ है।

(१४)

श्रीहनुमान्‌जीका एक दूसरा मन्त्र है 'ॐ हं पवननन्दनाय स्वाहा' यह दशाक्षर मन्त्र है। इसको कल्पवृक्षस्वरूप कहते हैं, इस मन्त्रके जपसे सारी अभिलाषाएँ पूरी होती हैं। इसकी विधि निम्नलिखित है। इसका नाम वीरसाधन है और यह अत्यन्त गोपनीय है।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर नित्यकृत्य करके नदीतटपर जाना चाहिए। वहाँ तीर्थका आवाहन करके स्नान करते समय आठ बार मूलमन्त्रका जप करना चाहिए। तत्पश्चात् बारह बार मन्त्र पढ़कर अपने ऊपर जल छिड़कना चाहिए। फिर वस्त्र पहनकर नदीके किनारे या पर्वतपर बैठकर, ॐ ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः इत्यादिसे करन्यास और ह्रा हृदयाय नमः इत्यादिसे अंग-न्यास करे। इसकी प्राणायामविधि भी अलग है। अकारसे लेकर अः तक सब स्वरोंका उच्चारण करके बायीं नासिकासे पूरक करना चाहिए। क-से लेकर म-तकके पाँच वर्गके अक्षरोंका उच्चारण करके कुम्भक करना चाहिए और य-से लेकर अव-शेष वर्णोंका उच्चारण करके दाहिनी नासिकासे रेचक करना चाहिए। इस प्रकार तीन प्राणायाम करके मूलमन्त्रके अक्षरोंसे अंगन्यास करे। इसका ध्यान निम्नलिखित है—

ध्यायेद् रणे हनूमन्तं कपिकोटिसमन्वितम्।
धावन्तं रावणं जेतुं दृष्ट्वा सत्वरमुत्थितम्॥

लक्ष्मणं च महावीरं पतितं रणभूतले।
गुरुं च क्रोधमुत्पाद्य गृहीत्वा गुरुपर्वतम् ॥
हाहाकारैः सदर्पैश्च कम्पयन्तं जगत्त्रयम्।
आब्रह्माण्डं समाव्याप्य कृत्वा भीमं कलेवरम् ॥

इति ध्यात्वा षट् सहस्रं जपेत्।

वीरवर लक्ष्मण रणक्षेत्रमें गिरे हुए हैं, यह दृश्य देखकर श्रीहनुमान्‌जी करोड़ करोड़ वानरोंके साथ रणभूमिमें आकर रावणको पराजित करनेके लिए बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे हैं। अतिशय क्रोधके कारण अपनी हुंकारध्वनिसे त्रिभुवनको कम्पित करते हुए हाथमें विशाल शैल लेकर आक्रमण करने जा रहे हैं। इस समय वे ब्रह्माण्डव्यापी भयंकर शरीर प्रकट करके स्थित हैं। ध्यानके पश्चात् मन्त्रका छः हजार जप करना चाहिए। इस मन्त्रका छः दिनतक जप करनेके पश्चात् सातवें दिन दिनरात जप करना पड़ता है। जप करनेसे रातके चौथे पहरमें बड़ा भय दिखाकर श्रीहनुमान्‌जी साधकके सामने प्रकट होते हैं। जो साधक धीर भावसे स्थित रह जाता है उसे वे उसकी इच्छाके अनुसार लौकिक सम्पत्ति अथवा पारलौकिक सम्पत्ति या दोनों देते हैं। ज्ञान देते हैं अथवा भगवत्प्राप्तिका मार्ग बताते हैं।



इन्द्रादि देवोंकी उपासना

हमारे पूर्वजोंका भी एक युग था। उनकी धन-सम्पत्ति पूर्ण थी। शरीर आरोग्य था। परिवार सुखी था। सबके हृदयमें शान्ति थी। संसारके व्यवहार उनके लिए क्रीडा-कौतुक थे। उनके स्मरण करनेसे बड़े-बड़े देवता आ जाते थे। इच्छामात्रसे उनका शरीर ब्रह्मलोकतक जा सकता था। उनके रथ और विमानोंकी गति अप्रतिहत थी। हजारों कोस दूरसे किसी भी वस्तुको वे देख लेते थे। सुन लेते थे-जान लेते थे। भविष्य और भूतका, दूर और निकटका व्यवधान उनके लिए नगण्य था। समस्त वस्तुओंका ज्ञान उनके करामलकवत् था। जिसपर प्रसन्न होते वरदान देते, जिसपर रुष्ट होते दण्ड भी देते। उनमें निग्रह-अनुग्रहकी पूर्ण क्षमता थी। स्वर्गके देवता उनकी सहायताके लिए अपेक्षा किया करते थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस बातके अनेक प्रमाण हैं। वे केवल मनगढ़न्त नहीं, ऐतिहासिक हैं, सत्य हैं।

परन्तु आज हम कहाँ हैं? हमारे पास अपनी कहनेके लिए एक बित्ता जमीन नहीं, पेट भरनेके लिए दो रोटी नहीं, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्दैव और अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आज हम सुखसे सो नहीं सकते, एक क्षणके लिए मनको समाहित करके शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते। चाहे धनी हो या गरीब, शरीरके भोगों और उपकरणोंके लिए ही इतने चिन्तित हो रहे हैं कि हम केवल स्थूलताओंके बन्धनमें ही जकड़कर

मोहग्रस्त और त्रस्त हो रहे हैं और इसमें इतने उलझ गये हैं कि इस बातका पता ही नहीं रहा कि इन स्थूलताओं और स्थूल बन्धनोंके ऊपर हमारा एक सूक्ष्म रूप है और उसके भी संगी, साथी, सहायक और भी बहुत-से लोग हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे त्राण पाया जा सकता है और जिनके साथ सम्बन्ध कर लेनेसे लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक उन्नतिको बहुत कुछ सरल बनाया जा सकता है। जो लोग केवल स्थूल शरीरको सत्य समझकर इसीको सुखी करना चाहते हैं, जो केवल स्थूल जगत्‌की उलझनोंमें लगे हुए हैं, यदि वे संसारमें एकच्छत्र सम्राट् हो जायँ तब भी वे पूर्ण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई-न-कोई अभाव उनके साथ लगा रहता है। कारण, स्थूल जगत्‌का जीवन सूक्ष्म जगत्‌की अपेक्षा बहुत न्यून है और हमारा हृदय स्थूल जगत्‌की नहीं, सूक्ष्म जगत्‌की वस्तु है।

अध्यात्मवादी हमें क्षमा करें। हम उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रार्थना करते हैं कि आप जहाँ हैं वहाँसे विचार नहीं कर रहे हैं। जहाँ आपको पहुँच जाना चाहिए, वहाँसे विचार करते हैं। इस स्थूल जगत् और भगवत्प्राप्तिके बीचमें एक सूक्ष्म जगत् भी है, जो कि आध्यात्मिक उन्नतिमें सीढ़ीका काम करता है। उसकी सहायता लिये बिना आप अध्यात्मपथपर अग्रसर हो रहे हैं, इसका यह अर्थ है कि आप बिना किसी सहारेके, बिना किसी अवलम्बनके आकाशमें विचरण करना चाहते हैं। यदि आप उस स्थानसे ही यात्रा आरम्भ करते, जहाँ कि आप वास्तवमें उलझे हुए हैं, तो आप देखते कि इन स्थूलताओंके भीतर एक महान् सूक्ष्म लोक है, जिसमें इस लोककी अपेक्षा अधिक ज्ञान, अधिक शक्ति, अधिक सुख और

अधिक सुव्यवस्था है। वहाँके शासक स्थूल जगत्पर भी आधिपत्य रखते हैं और यहाँकी प्रगति एवं प्रवृत्तियोंमें उनकी मुख्य प्रेरणा रहती है। जैसे यह स्थूलशरीर आप नहीं हैं, इसके अन्दर रहनेवाले जीव हैं; वैसे ही पृथिवीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, चन्द्रमें, सूर्यमें, प्रत्येक ग्रहमण्डल और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक-एक दिव्य जीव निवास करता है, जिसको पृथिवी-देवता, अग्निदेवता आदि नामसे कहते हैं। ये स्थूल पृथिवी-मण्डल, जलमण्डल आदि जिनके शरीर हैं, इनकी सुव्यवस्थित एक राजधानी है, सेवक हैं, सहायक हैं, न्यायाधीश हैं और राजा हैं। पृथिवीकी नियमित गति, जलकी नियमित धारा, अग्निकी उष्णता, स्थूलजगत्के रोग-शोक, इन्हींके द्वारा नियन्त्रित हैं, मर्यादित हैं। इनका एक संगठित राज्य है और उनके पद और पदाधिकारी, उनके समयकी अवधि सब कुछ नियमसे होता है। कोई प्रत्येक युगमें बदलते हैं, प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक कल्पमें बदलते हैं। कभी-कभी इन पदोंपर बड़े-बड़े तपस्वी जीव भी आ जाते हैं और कभी-कभी ब्रह्मलोकसे आधिकारिक पुरुष भी भेजे जाते हैं। देवताओंके राजा इन्द्र हैं। न्यायाधीश धर्मराज हैं। कोषाध्यक्ष कुबेर हैं। इन सबके आचार-व्यवहार, सामर्थ्य-शक्तिके वर्णन वेदोंसे लेकर काव्योंतक सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यमें और बाईबलमें, कुरान आदि अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं।

हमारे पूर्वजोंको जो ऐसी महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, वह इन्हीं देवताओंकी उपासना और सम्बन्धका फल था। यह स्थूल जगत् तो सूक्ष्म जगत्की प्रतिच्छायामात्र है। सूक्ष्म जगत्से सम्बन्ध होनेपर और उसमें अधिकार प्राप्त होनेपर स्थूल जगत्में मनमाने परिवर्तन किये जा सकते हैं। लौकिक

उन्नति करनेकी इच्छा हो तो वह सरलतासे सिद्ध हो सकती है। ये देवोपासनाके छोटे-से-छोटे फल हैं। जो लोग इससे ऊपर उठते हैं, स्थूल शरीर और स्थूल जगत्‌को क्षणिक समझकर सूक्ष्म जगत्‌में ही बिहार करना चाहते हैं, वे देवोपासनाके द्वारा स्वर्गमें कल्पभरके लिए स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी तपस्या और उपासनाके अनुसार इन्द्र हो सकते हैं और इन्द्रकी तो बात ही क्या, ब्रह्मातक हो सकते हैं। देवोपासनाके द्वारा यह सब कुछ बहुत ही सुलभ है। इस युगमें सबसे बड़ा ह्रास इस देवोपासनाका ही हुआ है। अध्यात्मवादियोंने यह कहकर कि 'हम ब्रह्मलोकतकके भोगपर लात मारते हैं' और आधिभौतिकोंने यह कहकर कि 'सूक्ष्म लोक कोई वस्तु ही नहीं है' देवोपासनाका त्याग कर दिया। वर्तमान समय इस बातका साक्षी है कि दोनों ही अपने-अपने प्रयासमें असफल हो रहे हैं। अधिकांश अध्यात्मवादियोंका वैराग्य उन लोकोंके न देखनेके कारण अथवा उनपर विश्वास न होनेके कारण है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो लोग इस जगत्‌के एक पुष्पके सौन्दर्य और सौरभपर लुभा जाते हैं, वे सूक्ष्म लोकोंके अतुलनीय भोगोंपर लात मारनेकी बात करते हैं। आधिभौतिकोंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना अप्रासङ्गिक है, क्योंकि उन बेचारोंको इस विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि वे हमारे प्राचीन इतिहासोंको सत्य मानते और श्रद्धायुक्त विवेकसे काम लेकर देवताओंके अस्तित्व एवं महत्त्वको मानते और उनकी सहायतासे शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यतक पहुँच जाते।

इस कथनका यह भाव कदापि नहीं है कि अध्यात्मवादी इन लोकोंके वैभवसे विरक्त न हों। विरक्त तो होना ही चाहिए,

परन्तु वह विरक्ति आत्मवञ्चना नहीं हो, पूर्ण हो। पूर्ण वैराग्यसे देवताओंकी उपासना बाधक नहीं साधक ही है। देवता रुष्ट हों तो इन्द्रियों और मनका संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि वे इनकी अधिष्ठातृदेवता हैं। इसीसे प्राचीन कालमें ऋषिगण यज्ञ-यागादिके द्वारा इनको सन्तुष्ट किया करते थे। देवताओंकी उपासनामें मुख्यता राजसूय, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञोंकी ही है। समस्त वेदान्ती और भक्त आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है कि ये यज्ञ, देवोपासना आदि यदि सकाम भावसे किये जाते हैं, तो इस लोककी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले होते हैं और परलोकमें इन्द्रत्व और पारमेष्ठ्यको भी देनेवाले होते हैं। और यदि ये ही कर्म निष्काम भावसे किये जाते हैं तो अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्‌की भक्ति अथवा तत्त्वज्ञानके हेतु होते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम, किसी भी अवस्थामें देवोपासना लाभदायक ही होती है। जो लोग इन्द्रियोंका संयम करके मनको एकाग्र एवं परमात्मामें स्थिर करना चाहते हैं, उनके लिए भी देवोपासना बड़ी सहायक है। सूर्यको उपासनासे, जो कि उनके सामने बैठकर गायत्रीके जपसे होती है, ब्रह्मचर्य स्थिर होता है और आँखें बुरे विषयोंपर नहीं जातीं। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें देवपूजाके जितने भी मन्त्र हैं, उनमें कहा गया है—'अमुक देवता मेरी इन्द्रियोंको संयत करें, मनको विषयोंसे विमुख करें और अपराधोंकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसी कृपा करें। सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञ-जैसे नित्यकर्म भी एक प्रकारसे देवोपासना ही हैं और देवताओंकी सहायता प्राप्त करते रहनेके लिए ही आर्य-जीवनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

• • •

वर्तमान युगमें सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार कर लिया गया है कि गीता अध्यात्मशास्त्रका एक उज्ज्वल प्रकाश है। इसकी गम्भीरता, महत्ता और तात्त्विकता सर्वमान्य है। गीता-ग्रन्थमें प्रसङ्गवश कई बार देवपूजाका उल्लेख हुआ है। सात्त्विक पुरुषोंका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं 'यजन्ते सात्त्विका देवान्'। शारीरिक तपोंमें सर्वप्रथम स्थान देवपूजाको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलोंमें जैसे यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि बतलाते हुए कहा गया है कि 'यज्ञके द्वारा तुम उन्नति करो। यज्ञ तुम्हारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करे।' वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करे और देवता मनुष्योंको उन्नत करें। इस प्रकार एक दूसरेके सहकारी बनकर परम कल्याण प्राप्त करें। आगे चलकर तो यह भी कहा गया है कि संसारकी सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति देवताओंसे ही प्राप्त होती है। इसलिए उनकी चीज उनको दिये बिना जो भोगते हैं, वे एक प्रकारसे चोर हैं—'स्तेन एव सः।' भगवान्‌की यह वाणी प्रत्येक साधकको सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए कि इस यज्ञचक्रका जो अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियोंके भोगोंमें रमनेवाला पापी व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। भगवान्‌के ये वचन इतने स्पष्ट हैं कि इनकी टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान्‌ने सकामताको हेय बतलाया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मका ही त्याग कर दिया जाय। यज्ञ करके यज्ञका फल नहीं चाहना यह गीताका सिद्धान्त है। उपासना न करने-वालेकी अपेक्षा तो उपासना करनेवाला श्रेष्ठ ही है, चाहे वह सकाम भावसे ही क्यों न करता हो। पुराणोंमें और

उपासना सम्बन्धी ग्रन्थोंमें ये बातें बहुत स्पष्ट रूपसे लिखी हुई हैं।

परमार्थदृष्टिसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होनेपर भी व्यवहारदृष्टिसे सब कुछ है और ज्यों-का-त्यों सत्य है। इसलिए यदि स्थूल लोक सत्य है, तो सूक्ष्म लोककी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर इनकी उत्पत्तिका क्रम और इनकी व्यवस्था भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। मूलतः इस सृष्टिके कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता एकमात्र ईश्वर ही हैं। यही परम देव हैं। उन्हींको कर्त्तापनकी दृष्टिसे ब्रह्मा, धर्त्तापनकी दृष्टिसे विष्णु और हर्त्तापनकी दृष्टिसे शिव कहते हैं। ये तीनों नाम एक ही ईश्वरके हैं। इसलिए ये भी परमदेव ही हैं। इन तीनोंमें-से ब्रह्माकी उपासना प्रचलित नहीं है; क्योंकि वे अपने कामको स्वाभाविक रूपसे करते रहते हैं और सृष्टिके लिए प्रार्थना करना आवश्यक नहीं है। संसारकी स्थितिके लिए अथवा संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिए उपासना की जाती है। यही कारण है कि विष्णु और शिवकी उपासना अधिक प्रचलित है। संसारकी विभिन्नताओंके स्वामीके रूपमें गणेशकी और प्रकाशके रूपमें सूर्यकी उपासना होती है। इन सबके साथ, यों कहिये कि सबके रूपमें भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है, इसलिए केवल शक्तिकी भी आराधना होती है। इस प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति ये पाँचों भगवान् ही हैं। इसलिए उपास्यदेवोंमें इन्हींका मुख्य स्थान है। जिस देवताकी जो शक्ति होती है वही उसकी पत्नी है और शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका अभेद है। सामान्य देवताओंसे विलक्षण होनेके कारण इन पाँचोंकी गिनती देवताओंमें नहीं है। समय-समयपर इन सभीके अवतार

हुआ करते हैं और इस प्रकार निखिल जगत्की रक्षा-दीक्षा होती है।

सूक्ष्म जगत्के देवताओंमें अनेक भेद हैं—ब्राह्मस्वर्गके देवता, माहेन्द्रस्वर्गके देवता और भौमस्वर्गके देवता। इनमें कुछ तो प्रजा रूपसे निवास करते हैं और कुछ अधिकारीरूपसे। उनके शरीरमें स्थूल पञ्चभूत बहुत ही न्यून परिमाणमें होते हैं और पृथिवी, जलकी मात्रा तो नहींके बराबर होती है। इसीसे उन्हें पार्थिव भोजनकी आवश्यकता नहीं होती, केवल सूँघनेसे या अमृतपान करनेसे ही उनका जीवन परिपुष्ट रहता है। ब्राह्म-स्वर्गमें तो गन्ध या पानकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिए यज्ञ-यागादिका सम्बन्ध अधिकांश माहेन्द्रस्वर्गसे ही है। भौम-स्वर्गके देवता पितर हैं।

देवता दो प्रकारके होते हैं—एक नित्य देवता और दूसरे नैमित्तिक देवता। नित्य देवताओंका पद प्रवाहरूपसे नित्य होता है। जैसे प्रत्येक प्रलयके बाद इन्द्रपद रहेगा ही। ऐसे ही दिक्पाल, लोकपाल आदिके भी पद हैं। इनके अधिकारी बद-लते रहते हैं किन्तु पद ज्यों-का-त्यों रहता है। इस समय जो बलि हैं, वे ही आगे इन्द्र हो जायँगे। इनके बदलनेका समय निश्चित रहता है। यह नियम प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चलता है। नैमित्तिक देवताका पद समय-समयपर बनता है और नष्ट हो जाता है। जैसे कोई नवीन ग्रामका निर्माण हुआ तो उसके अधिकारीके रूपमें नये ग्रामदेवता बना दिये जायँगे। नवीन गृहके लिए नवीन वास्तुदेवता भी नियुक्त कर दिये जायँगे। परन्तु उस ग्राम और गृहके टूटते ही उनका वह अधिकार नष्ट हो जायगा। ग्राम-देवताकी पूजासे ग्रामका और गृह-देवताकी पूजासे गृहका कल्याण होता है। अब भी भारतके

गाँवोंमें किसी-न-किसी रूपमें ग्राम-देवता, गृह-देवताकी पूजा चलती है।

देवताओंकी संख्या नहीं हो सकती। जितनी वस्तुएँ हैं उतने ही देवता हैं। इसीसे शास्त्रोंमें देवताओंको असंख्य कहा गया है। तैंतीस करोड़का हिसाब अक्षपादने दिखलाया है। कहीं-कहीं देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस कही गयी है। मुख्यतः तैंतीस देवता माने गये हैं। उनकी संख्या इस प्रकार पूरी होती है—प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे कामरूप होते हैं; वे स्वेच्छासे स्त्री, पुरुष या अन्य रूप धारण कर सकते हैं। वेदान्त-दर्शनमें कहा गया है कि, देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। देवताओंके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी बातें ज्ञातव्य हैं; परन्तु विस्तार-भयसे उनका उल्लेख नहीं किया जाता है। अपने लोकमें वे जिस रूपसे निवास करते हैं, वही उनका स्थायी रूप माना जाता है। उसी रूपमें उनका ध्यान एवं उपासना की जाती है। वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आता है; जैसे इन्द्रके लिए 'वज्रहस्तः पुरन्दरः'। उनके कर्मका ही वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। वैदिक यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी जिस प्रकारसे पूजा-उपासना की जाती है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। तान्त्रिकपूजा पद्धतिके अनुसार कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूरपिच्छके सदृश

सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके एक हाथमें वज्र है और दूसरेमें कमल। अनेक प्रकारके आभूषण धारण किये हुए हैं। दिक्-पतियोंके स्वामी इन्द्रका इस प्रकार ध्यान करना चाहिए। इन्द्रका मन्त्र है—ॐ इं इन्द्राय नमः।

अग्नि

अग्निका वाहन छाग है। सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, शरीर स्थूल है, पेट लाला है; भौंह, दाढ़ी, बाल और आँखें पिङ्गल वर्णकी हैं। हाथमें रुद्राक्षकी माला और शक्ति है। अग्निका मन्त्र है—ॐ अग्नये नमः।

कुबेर

कुबेर धनाध्यक्ष हैं। उनके हाथ दो और शरीर नाटा है। पीताम्बर धारण किये सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। यक्ष-गुह्यकोंके स्वामी तथा धन देनेवाले हैं। इस प्रकार कुबेरका ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिए। कुबेरका मन्त्र है—ॐ नमः कुबेराय।

वास्तुदेव

वास्तुदेवका शरीर सोनेके रंगका है। उनके शरीरसे लालिमा निकलती रहती है। कानोंमें श्रेष्ठ कुण्डल हैं। अत्यन्त शान्त, सौभाग्यशाली और सुन्दर वेश है। हाथमें दण्ड है। सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। जो प्रणाम करता है, उसके भयको नष्ट कर देते हैं। ऐसे वास्तु-पुरुषका ध्यान करना चाहिए। इनका मन्त्र यह है—ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।

देवताओंकी उपासनासे सभी प्रकारके अभाव पूर्ण हो सकते हैं। अनुकूल होनेपर ये भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। इसलिए इनकी उपासना करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना-पद्धति भी पृथक्-पृथक् है। जिसकी उपासना करनी हो, उसकी पद्धतिके अनुसार करनी चाहिए।

•••

नवग्रहोंकी उपासना

हिन्दूजातिमें प्राचीन कालसे जो अनेक प्रकारकी धारणाएँ या प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनमें नवग्रहोंकी उपासना भी है। यह केवल रूढ़िमात्र अथवा प्रथामात्र नहीं है, इसके मूलमें हमलोगोंके शरीरसे नवग्रहोंका सम्बन्ध और ज्योतिषकी दृष्टिसे सुपुष्ट विचार भी है। यह उक्ति प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो कुछ एक शरीरमें है, वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें है और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें है, वह एक शरीरमें भी है। हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार यह सृष्टि केवल उतनी ही नहीं है जितनी हमलोग देखते हैं। इन्द्रियोंसे जो कुछ देखा या सुना जाता है वह तो बहुत ही स्थूल है। यन्त्रोंका तत्त्व-विश्लेषण केवल जड़तत्त्वोंतक ही सीमित हैं; वह कभी चेतनाका साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि वे यन्त्र स्वयं जड़ है। प्रत्येक स्थूल वस्तुके एक-एक अधिष्ठातृदेवता हैं यह बात युक्ति, अनुभव और शास्त्रसे सिद्ध है। जैसे स्थूल नेत्रगोलक, जिन्हें हम देखते हैं, नेत्रके अधिभूत हैं। नेत्र इन्द्रिय अध्यात्म है, जो कि इस स्थूल गोलकके द्वारा देखती है। इस दर्शन-क्रियाका सहायक जो सूर्य है वह नेत्रका अधिदैव रूप है। नेत्रगोलकके द्वारा स्थूल रूपको देखे, यह सूर्यकी शक्तिकी सहायता लिये बिना असम्भव है। इसलिए नेत्रके अधिष्ठातृ-देवता सूर्य हैं। सूर्यके भी तीन रूप हैं। जिस सूर्यको हमलोग देखते हैं, वह सूर्यका स्थूल अथवा अधिभूत रूप है। दृश्यमान

सूर्यमण्डलके अभिमानी देवताका नाम सूर्य है। उनका रथ सात घोड़ोंका है और अरुण सारथि है। शनैश्चर, यमराज आदि उनकी सन्तान हैं। और भी देवताके रूपमें सूर्यका जितना वर्णन आता है वह सब इस दृश्यमान सूर्यमण्डलके अभिमानी देवता ही हैं। सूर्यका अध्यात्मरूप है समष्टिका नेत्र होना। इन तीन रूपोंको ध्यानमें रखनेसे ही शास्त्रोंमें जो सूर्यका वर्णन हुआ है वह समझमें आ सकता है। यह बात सभी देवताओंके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिए।

अब यह बात सिद्धान्तसे मान ली गयी है कि सम्पूर्ण स्थूल जगत् सूक्ष्म जगत्का ही प्रकाशमात्र है। समष्टिके मनमें जो दर्शनकी इच्छा है वह नेत्र-इन्द्रियके रूपमें प्रकट हुई है। इन दोनोंके अभिमानी देवता हैं सूर्य, इसलिए नेत्र-इन्द्रियका सीधा सम्बन्ध सूर्यसे है। सूर्यके प्रत्येक स्थितिका प्रभाव इस पृथिवीपर और इसपर रहनेवाले प्राणियोंपर पड़ता है। जैसे यह स्थूल शरीर ही जीव नहीं है उससे भिन्न है, वैसे ही यह दृश्यमान पृथिवी ही पृथिवी देवता नहीं है, पृथिवी देवताका शरीर है। इन सब स्थूलताओंका निर्माण सूक्ष्म जगत्की दृष्टिसे ही हुआ है। सूक्ष्म ही स्थूल बना है, इसलिए जो लोग सूक्ष्म जगत् पर विचार नहीं करते, केवल स्थूल जगत्में ही अपनी दृष्टिको आबद्ध रखते हैं, वे ठीक-ठीक इसका मर्म नहीं समझ पाते। जैसे पृथिवी, समुद्र, चन्द्रमण्डल, विद्युत्, उष्णता आदिसे सूर्यका साक्षात् सम्बन्ध है, वैसे ही उन पदार्थोंसे बने हुए मानव शरीरके साथ भी है। प्रत्येक शरीरकी उत्पत्तिके समय चाहे वह गर्भाधानका हो या भूमिष्ठ होनेका हो, सूर्य और इतर ग्रहोंका पृथिवीके साथ जैसा सम्बन्ध होता है और ग्रहचारपद्धतिके अनुसार उस प्रदेशमें, उस प्रकृतिके शरीरपर उनका प्रभाव

पड़ता है वह जीवन भर किसी-न-किसी रूपमें चलता ही रहता है। ग्रहमण्डलकी स्थिति, देशविशेषपर उनका विशेष प्रभाव और देहगत उपादानोंकी विभिन्नताके कारण प्रत्येक शरीरका ग्रहोंके साथ भिन्न सम्बन्ध होता है और उसीके अनुसार फल भी होता है। प्रत्येक ग्रहके साथ पृथिवीका और उसपर रहनेवाली वस्तुओंका जो महान् आकर्षण-विकर्षण चल रहा है, उसके प्रभावसे कोई बच नहीं सकता और जगत्के परिवर्तनोंमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थियोंमें, सुख-दुःखके निमित्तोंमें यह महान् शक्ति भी एक कारण है—इस सत्यको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीसे योगसम्पन्न महर्षियोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे इस तत्त्वका साक्षात्कार करके जीवोंके हितार्थ इसे प्रकट किया है।

संसारमें जो घटनाएँ घटती हैं उनके अनेक कारण बतलाये जाते हैं—जीवका प्रारब्ध अथवा पुरुषार्थ, समष्टिकर्ता ईश्वरकी इच्छा अथवा प्रकृतिका नियमित प्रवाह। इन घटनाओंके साथ ग्रहोंके आकर्षण-विकर्षणका क्या सम्बन्ध है? उपर्युक्त बलवान् कारणोंके रहते हुए जगत्के कार्योंमें वे क्या नवीनता ला सकते हैं? यह प्रश्न उठानेके पहले उन सबके एकत्वका विचार कर लेना चाहिए।

समष्टिकर्ताकी इच्छा ही प्रकृतिका प्रवाह है। प्रकृतिके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवाहोंके अनुसार ही ग्रहोंकी निश्चित गति और जीवोंका प्रारब्ध है। इन गति और प्रारब्धोंके अनुसार ही पुरुषार्थ और फल होते हैं। शरीरकी उत्पत्ति प्रारब्धके अनुसार होती है; जिसका जैसा कर्म, उसका वैसा शरीर। जिस शरीरमें प्रारब्धके अनुसार जैसी कामवासनाएँ रहती हैं, उस जीवनमें जैसी घटनाएँ घटनेवाली होती हैं, उसीके अनुसार

उस शरीरके जन्मके समय वैसी ही ग्रहस्थिति रहती है। यों भी कह सकते हैं कि वैसी ग्रहस्थितिमें ही उसका जन्म होता है अथवा ग्रहोंके एक स्थितिमें रहनेपर भी भिन्न-भिन्न देश और शरीरके भेदसे उनका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसीसे ज्योतिषशास्त्रमें कहा गया है कि ग्रह किसी नवीन फलका विधान नहीं करते, बल्कि प्रारब्धके अनुसार घटनेवाली घटनाको पहले ही सूचित कर देते हैं—'ग्रहा वै कर्मसूचकाः'। ग्रहोंकी स्थिति, गति, वक्रता, अतिचार आदिको जाननेवाला ज्योतिषी किसी भी व्यक्तिके जन्मसमयको ठीक-ठीक जानकर बतला सकता है कि इसके भविष्य जीवनमें कौन-कौन-सी घटनाएँ घटित होनेवाली हैं। स्थूल कर्मचक्रके अनुसार केवल इतनी ही बात है। गणितकी सत्यताको इस रूपमें पाश्चात्य देशोंमें ग्रहोंकी स्थितिका अध्ययन करके गणितके आधारपर फलित ज्योतिष उसी प्रकार प्रतिष्ठित किया गया है, जैसे हिन्दू-शास्त्रोंमें। परन्तु यह बात इतनेसे ही समाप्त नहीं हो जाती, इसके आगे भी कुछ है।

हिन्दुओंका देवता-विज्ञान इन स्थूल कार्यकारण-परम्परा और सम्बन्धोंसे और भी ऊपर जाता है। मानस शास्त्रके वेत्ताओंने एक स्वरसे यह बात स्वीकार की है कि शुद्ध, परिपुष्ट एवं बलिष्ठ मनके द्वारा स्थूल जगत्‌में अघटित घटना भी घटित की जा सकती है। यदि हम उन सूक्ष्मताओंके भी अन्त-स्तलमें स्थित हो जायँ, जो स्थूल घटनाओंकी कारण हैं, तो हम न केवल स्थूल जगत्‌में, बल्कि सूक्ष्म जगत्‌में भी परिवर्तन कर सकते हैं। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि ग्रहोंके द्वारा भावी घटनाओंका ज्ञान हो जानेपर मानसिक साधनाके द्वारा उन्हें रोका भी जा सकता

है। प्राचोन ऋषियों, योगियों और सिद्ध पुरुषोंके द्वारा ऐसा किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन ऐसो स्थितिमें भो जा सकता है, जहाँसे वह घटनाओंका विधान और अवरोध कर सकता है; परन्तु सर्वसाधारणके पक्षमें यह बात दुःसाध्य है। इसलिए उन्हें ग्रहमण्डलाधिष्ठातृदेवताकी शरण लेनो पड़तो है। जिसके शरीरपर सूर्यग्रहका दुष्प्रभाव पड़ रहा है या पड़नेवाला है, वह यदि सूर्यमण्डलके अभिमानो देवताका आश्रय ले और पूजा-पाठ, जप आदिके द्वारा यह अनुभव कर सके कि सूर्य देवता मुझपर प्रसन्न हैं, तो बहुत अंशमें उसका अरिष्ट शान्त हो जायगा और वह अपनेको सूर्यग्रहजन्य पोड़ासे बचा सकेगा। ग्रहशान्तिकी ये दोनों प्रणालियाँ शास्त्रोय हैं—पहलोका नाम अहंग्रह-उपासना और दूसरीका प्रतीक-उपासना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहों है कि यह सूर्यदेवता केवल उपासनाके लिए ही हैं। वास्तवमें समस्त देवताओंका अलग-अलग अस्तित्व है और सबके लोक, शक्ति, वाहन, क्रिया आदि अलग-अलग बंटे हुए हैं। जबतक विभिन्न शरीर, लोक, वस्तु और नक्षत्रमण्डल प्रभावित हो रहा है, तबतक इनमें रहनेवाले देवताओंको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वर्तमान कालमें सम्पूर्ण संसार राष्ट्रविप्लव, पारस्परिक द्रोह, पारिवारिक वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष, रोग-शोक और उद्वेग-अशान्तिसे सर्वथा उपद्रुत हो रहा है। इसके अनेक कारणोंमें देवताओंकी उपेक्षा और उनसे प्राप्त होनेवाली सहायताको अस्वीकार कर देना भो है। अन्तर्जगत्के नियमानुसार देवताओंको जागतिक पदार्थोंके उत्पादन, विनिमय और वितरणका अधिकार प्राप्त है। मनुष्य देवताओंको सन्तुष्ट करें और देवता मनुष्योंको समृद्धि एवं अभिवृद्धिसे सम्पन्न करें। परन्तु

मनुष्योंने अपनी बुद्धि और पुरुषार्थका मिथ्या आश्रय लेकर स्वयं ही आत्मवञ्चना कर ली है, जिसका यह सब, जो दुःख-दारिद्र्यके रूपमें दीख रहा है, फल है। वेदोंने और तदनुयायी शास्त्रोंने एक स्वरसे ग्रहशान्तिकी आवश्यकता स्वीकार की है। अथर्ववेदमें सब देवताओंकी पूजाके साथ-साथ ग्रह-शान्तिका भी वर्णन आता है—

शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा इत्यादि।

प्राचीन आर्योंमें इस वैदिक मर्यादाका पूर्णरूपसे पालन होता था, इसीसे वे सुखी थे। आज भी जहाँ प्राचीन प्रथाओंका पालन होता है, वहाँ प्रत्येक शान्तिक और पौष्टिक कर्ममें पहले नवग्रहकी पूजा होती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस पूजाका सम्बन्ध उन-उन मण्डलोंमें रहनेवाले देवताओंसे है। यहाँ संक्षेपमें नवग्रहोंके ध्यान और मन्त्रका उल्लेख किया जाता है। पूजा-पद्धतिके अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

सूर्य

सूर्य ग्रहोंके राजा हैं। यह कश्यप गोत्रके क्षत्रिय एवं कलिङ्ग-देशके स्वामी हैं। जपाकुसुमके समान इनका रक्तवर्ण है। दोनों हाथोंमें कमल लिये हुए हैं, सिन्दूरके समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हुए हैं। सिन्दूरके समान जगमगाते हुए हीरे चन्द्रमा और अग्निको प्रकाशित करनेवाला तेज, त्रिलोकीका अन्धकार दूर करनेवाला प्रकाश। सात घोड़ोंके एकचक्र रथपर आरूढ़ होकर सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाशके समुद्र भगवान् सूर्यका ध्यान करना चाहिए। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधिदेवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और बाह्य पूजाके अनन्तर मन्त्रजप करना चाहिए। सूर्यके अनेक मन्त्रोंमें-से एक मन्त्र है—'ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः।'

चन्द्रमा

भगवान् चन्द्रमा अत्रिगोत्रीय हैं। यामुन देशके स्वामी हैं। इनका शरीर अमृतमय है। दो हाथ हैं—एकमें वर-मुद्रा है, दूसरेमें गदा। दूधके समान श्वेत शरीरपर श्वेत वस्त्र, माला और अनुलेपन धारण किये हुए हैं। मोतीका हार है। अपनी सुधामयी किरणोंसे तीनों लोकोंको सींच रहे हैं। दस घोड़ोंके त्रिचक्र रथपर आरूढ़ होकर सुमेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। इनके अधिदेवता हैं उमादेवी और प्रत्यधिदेवता जल। इनका मन्त्र है—'ॐ ऐं क्लीं सोमाय नमः।'

मङ्गल

मङ्गल भरद्वाज गोत्रके क्षत्रिय हैं। ये अवान्तके स्वामी हैं। इनका आकार अग्निके समान रक्तवर्ण है, इनका वाहन मेष है, रक्तवस्त्र और माला धारण किये हुए हैं। इनके अङ्ग-अङ्गसे कान्तिकी धारा छलक रही है। मेषके रथपर सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए अपने अधिदेवता स्कन्द और प्रत्यधिदेवता पृथिवीके साथ सूर्यके अभिमुख जा रहे हैं। मङ्गलका मन्त्र है—'ॐ हुँ श्रीं मङ्गलाय नमः।'

बुध

बुध अत्रिगोत्र एवं मगधदेशके स्वामी हैं। इनके शरीरका वर्ण पीला है। चार हाथोंमें ढाल, गदा, वर और खड्ग है। पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं, बड़ी ही सौम्य मूर्ति है, सिंहपर सवारी है। इनके अधिदेवता हैं नारायण और प्रत्याधिदेवता हैं विष्णु। इनका मन्त्र है 'ॐ ऐं स्त्रीं श्रीं बुधाय नमः।'

बृहस्पति

बृहस्पति अङ्गिरा गोत्रके ब्राह्मण हैं। सिंधु देशके अधिपति हैं। इनका वर्ण पीत है। पीताम्बर धारण किये हुए हैं,

कमलपर बैठे हैं। चार हाथोंमें रुद्राक्ष. वरमुद्रा, शिला और दण्ड धारण किये हुए हैं। इनके अधिदेवता ब्रह्मा हैं और प्रत्यधिदेवता इन्द्र। इनका मन्त्र है—'ॐ ऐं क्लीं बृहस्पतये नमः।'

शुक्र

शुक्र भृगु गोत्रके ब्राह्मण हैं। भोजकट देशके अधिपपि हैं। कमलपर बैठे हुए हैं। श्वेत वर्ण है, चार हाथोंमें रुद्राक्ष, वरमुद्रा शिला और दण्ड हैं, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए हैं। इनके अधिदेवता इन्द्र हैं और प्रत्यधिदेवता चन्द्रमा। इनका मन्त्र है—'ॐ ह्रीं श्रीं शुक्राय नमः।'

शनि

ये कश्यप गोत्रके शूद्र हैं। सोराष्ट्र प्रदेशके अधिपति हैं। इनका वर्ण कृष्ण है, कृष्ण वस्त्र धारण किये हुए हैं। चार हाथोंमें वाण, वर शूल और धनुष हैं। इनका बाहन गृध्र है। इनके अधिदेवता यमराज और प्रत्यधिदेवता प्रजापत्ति हैं। इनका मन्त्र है—'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शनैश्चराय नमः।'

राहु

राहु पैठीनस गोत्रके शूद्र हैं। मलय देशके अधिपति हैं। इनका वर्ण कृष्ण है और वस्त्र भी कृष्ण ही है। इनका वाहन है सिंह। चार हाथोंमें खड्ग, वर, शूल और ढाल लिये हैं। इनके अधिदेवता काल हैं और प्रत्यधिदेवता सर्प। इनका मन्त्र है—'ॐ ऐं ह्रीं राहवे नमः'।

केतु

यह जैमिनि गोत्रके शूद्र हैं। कुशद्वीपके अधिपति हैं। इनका वर्ण धुएँका-सा है और वैसा ही वस्त्र भी धारण किये हुए हैं। मुख विकृत है, गीध वाहन है। दो हाथोंमें वरमुद्रा तथा गदा

है। इनके अधिदेवता हैं चित्रगुप्त तथा प्रत्यधिवदेता हैं ब्रह्मा। इनका मन्त्र है—ॐ ह्रीं केतवे नमः।

ये सब ग्रह अपनी-अपनी गतिसे सूर्यकी ओर बढ़ रहे हैं। सबका मुख सूर्यकी ओर है। पृथिवीके साथ सबका सम्बन्ध है। प्रत्येक शान्ति और पुष्टिकर्ममें इनकी आराधना होती है। पृथक्-पृथक् अरिष्टके अनुसार भी इनकी पूजा की जाती है। इनमें-से किसी एकको प्रसन्न करके उनसे वाञ्छित फल भी प्राप्त किया जा सकता है। जिस ग्रहका जो वर्ण है, उसी रंगकी वस्तुएँ प्रायः पूजामें लगायी जाती हैं। मन्त्रका जितना जप होता है, उसका दशांश हवन होता है। हवनमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी समिधाएँ काममें लायी जाती हैं। सूर्यके लिए मदार (आक), चन्द्रमाके लिए पलाश, मंगलके लिए खैर, बुधके लिए चिचिड़ा (अपामार्ग), बृहस्पतिके लिए पीपल, शुक्रके लिए गूलर, शनैश्चरके लिए शमी और राहु-केतुके लिए दूर्वाका प्रयोग होता है। इसप्रकार पूजा करनेसे ये ग्रह सन्तुष्ट हो जाते हैं और किसी प्रकारका अनिष्ट न करके सब प्रकारके इष्ट-साधन करते हैं।

नवग्रहकी दोषशान्तिके लिए रत्न धारण किये जाते हैं—सूर्यके लिए माणिक्य, चन्द्रमाके लिए मोती, मङ्गलके लिए प्रवाल (मूँगा), बुधके लिए मरकतमणि (पन्ना), बृहस्पतिके लिए पुष्पराग, शुक्रके लिए हीरा, शनिके लिए नीलकान्तमणि, राहुके लिए गोमेद, और केतुके लिए वैदूर्यमणि। इनके धारण करनेसे ग्रहोंके दोषकी शान्ति हो जाती है।*

* 'सुश्रुत'के अनुसार बालकोंपर आक्रमण करनेवाले नव बालग्रह और हैं। ये दिव्य-देह-विशिष्ट हैं—इनमें-से कुछ पुरुष हैं, कुछ स्त्रियाँ

ज्योतिषके एक ग्रन्थमें मैंने पढ़ा था कि जो लोग पुराणोंकी कथा सुनते हैं, इष्टदेवकी आराधना करते हें, भगवान्‌के नामका जप करते हैं, तीर्थोंमें स्नान करते हैं, किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाते, सबका भला करते हैं, सदाचारकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, शुद्ध हृदयसे अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनपर अनिष्ट ग्रहोंका प्रभाव नहीं पड़ता। उनको पीड़ा न पहुँचाकर वे उन्हें सुखी करते हैं। उस श्लोकका अन्तिम चरण यह है—

नो कुर्वन्ति कदाचिदेव पुरुषस्यैवं ग्रहाः पीडनम्।

हैं। इनके नाम हैं—स्कन्दापस्मार, शकुनि ग्रह, पूतना ग्रह, अन्धपूतना ग्रह, शीत पूतना, रेवती ग्रह, मखमन्तिक ग्रह और नैगम ग्रह।

प्रेमके छः लक्षण

देवर्षि नारदने प्रेमके ये लक्षण लिखे हैं—

१. गुणरहितम् : सुन्दर हैं, उदार हैं, दयालु हैं, दाता हैं, सर्वज्ञ हैं—इन सब गुणोंको देखकर तो वे लोग प्रेम करते हैं जिन्हें इन गुणोंसे कुछ लाभ उठाना है। जिसे अपने प्यारेसे कुछ लाभ नहीं उठाना है उसे गुणोंकी क्या आवश्यकता ? गुण देखकर जो प्रेम होता है वह उस गुणकी कमीसे या अवगुण दीखनेपर नष्ट हो जाता है। आज सुन्दर देखकर प्रेम किया—कल चेचक निकल आनेपर टूट गया। प्रेम अपने प्रियतमके दोष देखता ही नहीं; यदि कदाचित् दोष दिखे तो प्रेम और बढ़ जाता है। दोषके अवसरपर ही तो प्रेमकी आवश्यकता है, जो अपने प्यारेको दोषसे बचावे या उसके दोषको अपना भोग्य बनाकर आनन्दित हो। हमें अपने प्यारेसे दान, दया या ज्ञान तो लेना नहीं है, फिर वे सगुण हैं या निर्गुण इस खोज-बीनसे हमें क्या प्रयोजन ? वे जैसे हैं वैसे ही ठीक, वैसे ही मेरे हैं। उनमें 'वह' या 'यह' रहनेपर या घटने-बढ़नेपर हमारा प्रेम रहेगा—ऐसी कोई शर्त प्रेममें नहीं चलती है। हम उन्हें पसन्द करें, इसके लिए उनमें कुछ रहने-न-रहनेकी जरूरत ही क्या है ?

२. कामनारहितम् : प्रेम और काम दोनों एक साथ नहीं रहते। अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेका भाव प्रेम है। अपने प्रियतमसे अपने लिए सुख लेनेका भाव काम है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं—प्रेम और कामकी क्रियामें अन्तर नहीं है, भावमें अन्तर है। क्या हम अपने प्रियतमको भोगना चाहते हैं? अथवा हम उसे भोग देना चाहते हैं? प्रेम और काममें बाल बराबर अन्तर है—बस, अपने लिए और प्रियतमके लिए। काम और प्रेम एक साथ अन्तःकरणमें नहीं रह सकते।

प्रेमी निष्काम हो तो कामी प्रियतम भी थोड़े समयमें ही निष्काम हो जाता है। प्रियतम निष्काम हो तो सकाम प्रेमी भी थोड़े ही समयमें निष्काम हो जाता है। यह प्रेमकी ही महिमा है कि वह अपने आश्रय (जिसमें प्रेम रहता है—प्रेमी) और अपने विषय (जिसमें प्रेम होता है—प्रियतम) दोनोंको ही शुद्ध चिन्मय, भगवद्रूप बना देता है।

३. प्रतिक्षणवर्द्धमानम् : गंगाजी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, बढ़ती ही जाती हैं। नहर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, घटती जाती है। प्रेम गंगा है, काम नहर। प्रेम निर्मल, पवित्र पावन है, काम कलुषित है। प्रेम क्षण-क्षण नया-नया रस और चमत्कार लाता है। 'प्रेममें प्रियतमका सौन्दर्य नूतन, मधुमय, लास्यमय, चटपटा-सलोना, छलकता हुआ जान पड़ता है। जैसे चन्द्रमाके लिए प्रशान्त रत्नाकर भी उल्लसित होकर छिटकने लगता है लहरियोंके रूपमें, वैसे ही प्रेमीका हृदय-रंग-मञ्च भी प्रियतमके लिए प्रीति-नटीके नवीन-नवीन भाव-विलासोंके रूपमें स्पन्दित होता रहता है। प्रेम बढ़ता है और बढ़ता ही जाता है।

'छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तौ प्रेम न होय।'

४. अविच्छिन्नम् : कोई सम्बन्ध संसारमें जब जुड़ता है तब टूटता भी है। सारे-के-सारे संसारी सम्बन्ध मृत्युसे, बेवकूफीसे, दुःखसे, वियोगसे, प्रतिकूलतासे ग्रस्त हैं। इसीसे चाहने-

पर भी उनमें स्थायित्व नहीं आता। भगवान्‌के प्रेममें वे सब बातें नहीं होतीं; क्योंकि प्रेम मृत्युसे भी ठोस, अमर है, प्रकाश रूप है, रस है। वियोग तो इसकी वृद्धिमें सहायक है। प्रति-कूलतामें प्रियतमकी इच्छा-पूर्तिका सुख है। प्रेम अपने विषय प्रियतम और आश्रय दोनोंको अपनी गोदमें लेकर झूला झुलाता रहता है। दोनोंकी शक्ल-सूरत, आकार-प्रकार बनाता-सजाता रहता है। कहीं अन्त नहीं है। वृन्दावनमें प्रियाप्रियतमको लता-वृक्ष, कीट-पतंग, पशु और पक्षियोंके रूपमें भी स्त्री-पुरुष बनाकर यही प्रेम भिन्न-भिन्न प्रकारका रसास्वादन कराता है—'स्त्री राधा पुरुषः कृष्णो विज्ञेयो व्रजमध्यगः।' प्रेम कभी किसी भी निमित्तसे या बिना निमित्त स्वभावसे टूटनेवाली वस्तु नहीं है।

५. सूक्ष्मतमम् : प्रेम इतना सूक्ष्म होता कि वह प्रेमीकी नस-नसमें व्याप्त हो जाता है। उसकी एक-एक क्रिया, सोना-जागना सब प्रेमसे भर जाता है। प्रेमी समझता है कि मैं अपने लिए खाता-पीता हूँ, लेकिन दरअसल वह अपने प्रियतमके लिए ही खाता-पीता है। उसके हृदयकी सूक्ष्मतामें प्रियतम ही प्रियतम रहता है।

एक जु मेरी अँखियनमें निसि द्यौस रह्यो करि भौंन।
गाइ चरावन जात सुन्यौ सखि सो धौं कन्हैया कौंन॥
या पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

'सखि! वे धन्य हैं, जो स्वप्नमें अपने प्यारेका दर्शन प्राप्त करती हैं। हमारी तो यह स्थिति है कि कृष्णके साथ निद्राने भी वैर साध लिया—वह भी हमें छोड़कर चली गयी।' यह प्रेमकी सूक्ष्मता है जो नींदको भी मिटा देती है, समाधिको

शून्य-सा, भयप्रद और ब्रह्मानन्दको भी दुःख बना देती है। यह प्रेमकी ही सूक्ष्मता है कि प्रियतम श्यामसुन्दर मनके करकमलोंसे भी प्रियाजीके मानस शरीरको भी छूनेमें डरते हैं—'मनहूके करन सों छुवत डरत हैं', अतएव 'बार-बार दूरि हो तें पायँन परत हैं।'

६. अनुभवरूपम्: प्रेमकी कोई बाहरी पहचान नहीं है। शक्ल-सूरत, रंग-रूप, लाड़-प्यार, लड़ाई-झगड़ा आदिसे कोई उसका निश्चय नहीं कर सकता। दुलार-मार, त्याग-भोग, लेना-देना, झूठ-सत्य, धर्म-अधर्म, संयोग-वियोग, जीवन-मृत्यु—सभी स्थितियोंमें रहकर भी प्रेम सबसे न्यारा है। उसको प्रेमी और प्रियतमके सिवा दूसरा कोई जान नहीं सकता। कभी-कभी तो प्रेमके उच्चतम भावको प्रियतम भी नहीं समझ पाता। प्रेम समझसे बहुत ऊपर है। वह तो आत्मा-परमात्माका स्वरूप ही है। वह अनुभव है। प्रेमीके तन, मन, वचनसे, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें जो कुछ होता है—सबके 'अनु' पीछे प्रेम ही 'भव' रहता है। वही अपने कोमल, सुकुमार, अमृतस्यन्दी संस्पर्शसे प्रेमकी प्रत्येक क्रिया, संकल्प, भाव, विचार, स्थितिको अनुप्राणित करता रहता है। कभी-कभी तो प्रेमीको भी इस बातका पता नहीं चलता कि मैं यह काम प्रेमसे प्रेरित होकर कर रहा हूँ; क्योंकि प्रेम खुद परदेमें रहकर ही सब कुछ करता-कराता है। वह स्वयं अनुभव है, अनुभवका विषय नहीं है।

•

भक्तिसाधनाका मनोविज्ञान *

वेदोंने आनन्दमय पुरुषसे भी परे पुच्छप्रतिष्ठाके रूपमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया है, जिसे बार-बार रस और आनन्द कहकर सङ्केत करता है, श्रीमद्भागवतके रंगांगणमें जो सबको अपने-अपने भावानुसार वज्र, नरवर, स्मर आदिके रूपमें दिखायी पड़ता है, गीता जिसको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहती है, वे व्रजराजनन्दन श्यामसुन्दर अपने शुद्ध सत्त्वमय नाम-रूप-गुण-लीलाके साथ बिना किसी कारणकी अपेक्षा किये ही स्वेच्छासे ही भक्तजनोंके श्रवण, नयन, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियवृत्तियोंमें अवतीर्ण होते हैं। उनका वह श्यामसुन्दर वपु अनादि नित्य है। जैसे वे यदुवंश, रघुवंश आदिमें स्वतन्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूपमें अवतीर्ण होते हैं वैसे ही प्रेमियोंके जीवनमें भी।

जैसे भगवान् स्वतन्त्र हेतुनिरपेक्ष प्रकट होते हैं, वैसे ही

---

* श्रीमन्मध्वगौडेश्वर-सम्प्रदायमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपने ढंगके अद्वितीय रसिक भक्त हुए हैं। उन्होंने श्रीमद्भागवतपर सारार्थदर्शिनी टीका, जो उन्हींके शब्दोंमें 'भक्तिचित्तहर्षिणी एवं रसवर्षिणी है', लिखी है। प्रेममधुलुब्ध रसिक मधुपोंके लिए वह रसका निधान ही है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें एक अल्पकलेवर ग्रन्थ 'माधुर्य-कादम्बिनी' है। कादम्बिनीका अर्थ है मेघमाला—घटा। इस ग्रन्थमें भक्तकी मानसिक स्थितियोंका क्रमिक विवेचन है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थका यह संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण भक्तजनोंके लिए एवं अनुसन्धित्सु मनोविज्ञानके विद्यार्थियोंके लिए समान रूपसे लाभदायक होगा।

• • •

भगवान्की भक्ति भी स्वयंप्रकाश है। उसे किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लिए अहैतुकी, अप्रतिहता, यदृच्छा इत्यादि शब्दोंका प्रयोग आता है। यदृच्छाका अर्थ है स्वच्छन्दता, स्वैरिता। यदि यदृच्छा शब्दका अर्थ किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तिका उदय होता है—ऐसा किया जाय, तो एक प्रश्न उठता है—क्या यह सौभाग्य शुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ है अथवा बिना कर्मके ही? यदि भक्तिको कर्मजन्य, सौभाग्यसे जन्य माना जाय तो वह कर्मके पराधीन होगी और उसकी स्वयंप्रकाशता सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि भाग्यको कर्मजन्य न मानें तो अनिर्वचनीय होनेके कारण भाग्य स्वयं अज्ञेय असिद्ध हो जायगा। वह भक्तिका कारण कैसे बनेगा? इसलिए भक्ति भाग्यजन्य नहीं है।

यदि ऐसा माना जाय कि भगवान्की कृपा ही भक्तिका कारण है तो ऐसा प्रश्न उठेगा कि कृपाका कारण क्या है? इस प्रकार कारण-कार्य-परम्पराका अन्त न होनेसे अनवस्था दोष हो जायगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भगवान्की कृपा किसी उपाधिका आश्रय लेकर नहीं हुआ करती। यदि उसको भी कारणके अधीन मानेंगे तो सबपर न होनेसे भगवान्में विषमताका दोष प्राप्त होगा। भगवान् क्यों किसीपर पक्षपातपूर्वक कृपा करते हैं और निर्दयतापूर्वक उससे वञ्चित रखते हैं? दुष्टोंको दण्ड देकर स्वभक्तोंका पालन करना तो दूषण नहीं है। यह पक्षपात भूषण ही है; क्योंकि भगवान्के गुणोंमें भक्तवात्सल्य सर्वगुणचक्रवर्ती है। और यह सबको अभिभूत करके अवसर-अनवसरका विचार किये बिना ही अभिव्यक्त होता रहता है।

भगवान्की कृपाके समान ही भक्तजनोंकी कृपा भी निरु-

पाधिक—हेतुनिरपेक्ष होती है। तथापि मध्यम कोटिके भक्तमें किञ्चित् वैषम्य स्वीकार करना पड़ता है। उत्तम कोटिका भक्त सबको भगवान्में और भगवान्को सबमें देखता है; परन्तु मध्यम कोटिका भक्त ईश्वरसे प्रेम, भक्तसे मैत्री, दुःखीपर कृपा और द्वेषोपर उपेक्षा रखता है। इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें मध्यम कोटिके भक्तमें विषमता स्वीकृत होनेके कारण अपने भक्तके वशमें रहनेवाले भृत्यवश्य भगवान् भी यदि अपने भक्तके कृपापात्रपर विशेष कृपा करें तो कुछ असङ्गत नहीं है। भक्त कृपा क्यों करता है—अपने हृदयमें विराजमान भक्तिके कारण भक्तिसे कृपा और कृपासे भक्ति, इसमें भक्तिकी स्वयंप्रकाशता ही प्रकाशमान है, क्योंकि भक्तके हृदयमें स्थित भक्ति ही कृपाके रूपमें अभिव्यक्त होकर शिष्यके हृदयमें भक्तिका संचार कर देती है। इसीसे जहाँ श्रीमद्भागवतमें यह उल्लेख मिलता है कि किसी अतिभाग्यसे भगवत्सेवामें श्रद्धाका उदय होता है, ऐसा कहा गया है, वहाँ भी भाग्यका अतिक्रमण करके भक्तकी करुणासे ही अभिप्राय है। भगवान्ने अपने भक्तको ऐसी श्रेष्ठता प्रदान कर दी है और वे उसके इतने वशमें हो गये हैं कि सम होनेके कारण जो वस्तु किसी-किसीको भगवान् नहीं दे सकते, वही वस्तु भक्त उन्हींकी कृपाशक्तिको आत्मसात् करके भक्तिके रूपमें दे सकता है। यह भगवान्का प्रसाद है। जैसे भगवान् स्वेच्छामय रूप धारण करके, स्वेच्छावतार चरित्रोंसे भक्तजन-मन आवर्जन करते हैं, उसमें स्थूल दृष्टिसे ही भूभारहरण आदिकी कारणता रहती है, वैसे ही भक्तिके प्राकट्यमें निष्काम कर्म आदि स्थूल दृष्टिसे कारण भी हों तो भी भक्तिकी स्वयं-प्रकाशतामें कोई क्षति नहीं है। श्रीमद्भागवतमें ही भक्तिका दोनों प्रकारसे उल्लेख मिलता है कि वह योग, सांख्य, दान,

व्रत, तप, यज्ञ आदिसे साध्य नहीं है। और साथ ही दान, व्रत धर्म आदिके द्वारा भक्ति सिद्ध होती है। ज्ञानांगभूता सात्त्विक भक्ति साध्य है, प्रेमांगभूता निर्गुण भक्ति नहीं। इस प्रसङ्गमें दान, व्रत, तपस्या, त्याग आदि भी भगवत्सम्बन्धी ही हैं। यह बात स्पष्ट कर दी गयी है—भक्तिसे ही भक्तिका उदय होता है। इससे भक्ति अहैतुक एवं स्वयंप्रकाश है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

भगवद्भक्ति निःश्रेयस पथ है। उसके बिना धर्म, ज्ञान और योगकी भी सिद्धि नहीं होती। यह बात प्राचीन ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे कही गयी है। इसका निष्कर्ष यह है कि भक्तिके बिना दूसरे साधन अपना फल देनेमें असमर्थ हैं; परन्तु भक्तिको अपना फल प्रेमकी सिद्धिके लिए उन साधनोंकी किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है। भागवतमें बिना ज्ञान-वैराग्यके भी भक्तिकी श्रेयससाधनता एवं सर्वधर्मत्यागपूर्वक भगवद्भजनका निरूपण मिलता है। भक्ति ही निरपेक्ष साधन और सब सापेक्ष साधन हैं। भगवद्भक्तिके बिना जाति, शास्त्र, जप, तप निष्प्राण हैं एवं लोकरञ्जनमात्र हैं। सब साधन भक्तिके अधीन हैं। जैसे—कर्मयोग न केवल भक्तिकी अपितु देश, काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, पवित्रताकी अपेक्षा रखता है। भक्तिमें देश, काल, वस्तुका कोई भी नियम नहीं है। उच्छिष्ट दशामें भी भगवन्नामका उच्चारण किया जा सकता है। श्रद्धा या अवहेलना, कैसा भी उच्चारित भगवन्नाम संसार-सन्तरणका साधन है। इसके विपरीत कर्मयोग स्वर-वर्ण-हीन मन्त्रोच्चारण होनेपर अनर्थका हेतु है।

ज्ञान भी निष्काम कर्मयोग आदिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही उदय होता है। इसलिए वह भी कार्याधीन है।

यदि ज्ञानका अधिकारी दैववश दुराचारी हो जाय तो शास्त्रमें उसकी निन्दा मिलती है। कंस, हिरण्यकशिपु, रावणके उपदेश भिन्न-भिन्न अवसरोंपर मिलते हैं; परन्तु उनमें ज्ञानका उदय सर्वथा ही नहीं है। इधर व्यक्तिमें ऐसा नहीं है—हृद्रोगी पुरुष भी रासपंचाध्यायीके पाठका अधिकारी है। उसके द्वारा वह भक्ति प्राप्त करता है, तब हृद्रोग दूर होता है। पहले भक्ति, पीछे दोष-निवृत्ति। भक्ति दुराचारीको भी ऊपर उठाती है। विष्णु-पार्षदोंने अजामिलके भक्त होनेका निरूपण किया है। कौन नहीं मानता कि पुत्रस्नेहसे ग्रस्त अजामिल अपने पुत्रके लिये भगवन्नामका उच्चारण करके नामाभासकी महिमासे ही कल्याणभाजन हो जाता है। कर्मयोग आदि साधनोंमें देश, काल, पात्र, अन्तःकरण आदिकी शुद्धि साधक हैं, उनकी विपरीतता बाधक हैं। वे सर्वथा परतन्त्र हैं और भक्ति उन्हें जीवनदान देती है। वे भक्तिहीन रूपमें न किसीके साध्य हैं, न बाध्य हैं।

ज्ञानसे भक्ति सिद्ध होती है, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञानके फल मोक्षसे भी भक्तिकी श्रेष्ठताका वर्णन मिलता है। भगवान् कभी मुक्ति दे देते हैं; परन्तु भक्ति नहीं। मुक्त सिद्धोंमें भी नारायण-परायण दुर्लभ हैं। जैसे स्वयं भगवान् नारायण कभी-कभी इन्द्रको प्रधान और अपनेको गौण-उपेन्द्र बनाकर अपनी कृतालुता ही प्रकट करते हैं। उसमें उनमें कोई अपकर्ष नहीं आता। इसी प्रकार भक्ति ज्ञानका पोषण करनेके लिए कभी-कभी अपनेको गौण भी बना देती है। इससे भक्तिकी निम्नता नहीं, अनुग्रहशीलता ही प्रकट होती है। भक्ति ही साधन, भक्ति ही साध्य है; इसलिए पुरुषार्थशिरोमणि है। भक्ति भगवान्की स्वरूपभूता है, इसलिए उन्हींके समान परम शक्ति-शाली सर्वव्यापक, सर्ववशीकारिणी, सर्वसञ्जीवनी, सर्वोत्कृष्ट

परम स्वतन्त्र तथा स्वयंप्रकाश है। इसलिए जो भक्तिके बिना अन्यत्र प्रवृत्त होते हैं उनमें प्रेक्षावत्वकी न्यूनता है; क्योंकि भगवद्भक्तिके बिना तो मनुष्य-जीवन भी सफल नहीं होता—

'को वै न सेवेत बिना नरेतरम्।'

द्वितीय अमृतवृष्टि

माधुर्यकादम्बिनीमें द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदिको अवकाश नहीं है। आप इसके लिए ऐश्वर्यकादम्बिनीके दर्शन चाहें तो कर सकते हैं।

मनुष्यके कारण हैं खेत। इन्हींमें भक्तिकल्पवल्लीका प्रादुर्भाव होता है। कर्म, योग आदि घास-फूसका उसमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। भावुकजन भ्रमरकी भाँति अन्य फलाभि-सन्धिका निरास करके इसका आश्रय ग्रहण करते हैं। इस कल्पवल्लीके मूल प्राण हैं अपने विषय भगवान्के प्रति अनन्य अनुकूलता। यह भक्ति स्पर्शमणिके समान अल्पकालमें ही प्राकृत लोहताका त्याग कराकर चिन्मयारूप शुद्ध स्वर्णभाव प्राप्त करा देती है। जब कन्दलीभावके बाद इसमें साधन नामके दो पत्ते फूट निकलते हैं तब उसका नाम होता है क्लेशघ्नी और शुभदा।

यह दोनों ही हृदयमें भगवान्के प्रति लोभका संचार करते हैं और उनके साथ प्रिय, आत्मा, पुत्र आदिका शुद्ध सम्बन्ध-दान करके उसको स्नेहोज्ज्वल बनाते हैं। इस अन्त-र्देशका राजा राग ही है, किन्तु बाहर-बाहर शास्त्रकी आज्ञासे भजनमें संलग्न होनेके कारण किञ्चित् रूक्षताका आभास बना रहता है और प्रिय आदि शुद्ध स्नेहसम्बन्ध स्पष्ट नहीं दीख पड़ता, इसलिए वैध नामक राजाका ही अधिकार रहता है। यह बात अवश्य है कि यह वैधी और रागानुगा—दोनों ही

भक्ति क्लेशनाशिनी एवं मंगलजननी हैं। क्लेश शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। पापके सभी रूप-प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ और बीज—सभी क्लेशके अन्तर्गत हैं। इनका नाश करनेके कारण भक्तिको क्लेशघ्नी कहते हैं। भगवान्‌से विमुख करनेवाले विषयोंमें वितृष्णा, भगवद्विषयमें तृष्णा और अनुकूलता, कृपा, क्षमा, सत्य, सरलता, समता, धैर्य, गाम्भीर्य, मानदत्व अमानित्व आदि सद्‌गुण शुभ हैं। इनकी दाता होनेके कारण भक्तिको शुभदा कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ठीक ही कहा गया है कि भगवद्भक्तके जीवनमें सम्पूर्ण सद्‌गुणोंके साथ देवता निवास करते हैं। भक्तिके अंकुरित होनेपर जब ये दोनों दल साथ ही साथ उद्‌गत होते हैं तो उनके विकासमें और वृद्धिमें एक क्रम तो होता है; परन्तु उसको सब नहीं समझ सकते; पारखी विद्वान् ही समझ सकते हैं।

भक्तिके अधिकारीमें सबसे पहले श्रद्धाका उदय होता। उसका स्वरूप है—शास्त्रप्रतिपादित पदार्थमें दृढ़ आस्था। शास्त्रके अनुसार आचरण करनेका प्रयास और उसके निर्वाहके लिए सादर आकांक्षा। यह स्वाभाविक भी होती है; और वलपूर्वक उत्पन्न भी की जाती है। इसके बाद सद्‌गुरुके चरणारविन्दका आश्रय लेकर सदाचारकी जिज्ञासा और समानशील सत्पुरुषोंके सङ्गमें निवास। इससे भजनक्रिया होने लगती है। दृढ़ निष्ठा होनेके पूर्व भजनक्रिया अपने शैथिल्य और परिपूर्णताके तारतम्यसे अनेक रूप ग्रहण करती है। मनकी अवस्थाएँ उत्साहमयी, घनतरला, व्यूढविकल्पा, विषयसङ्गरा, नियमाक्षमा तथा तरङ्गरङ्गिणीके रूपमें अपने आश्रय भक्तको छः रूपोंमें दिखाती हैं—

(१) जैसे कोई छात्र शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करे और उसके मनमें ऐसा उत्साह हो कि बस-बस अब थोड़े ही दिनोंमें मैं ऐसा विद्वान् हो जाऊँगा कि लोग मुझे देखकर दङ्ग रह जायँगे। ऐसे ही जब भजन करनेवालेके हृदयमें 'अब भक्ति मिली! अब भक्ति मिली!' भजनके साथ-साथ ऐसा उत्साह बढ़ने लगता है, तब उस अवस्थाका नाम उत्साहमयी होता है।

(२) भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान प्रारम्भ कर देनेपर भी कभी उनका निर्वाह हो पाता है और कभी नहीं हो पाता। इस प्रकार वह कभी घन होती है और कभी तरल। जैसे शास्त्राभ्यासी छात्र कभी अपने अधीत विषयको ठीक-ठीक समझकर प्रसन्न होता है और कभी-कभी बुद्धि गम्भीर विषयमें प्रविष्ट न होनेके कारण रूक्ष और शिथिल हो जाती है। इसी अवस्थाका नाम घनतरला है।

(३) 'क्या मैं परिग्रह सहित ही रहूँ? सगे सम्बन्धियोंको वैष्णव बना दूँ, घरमें ही रहकर भजन करूँ अथवा सबको छोड़कर वृन्दावनधाममें चलूँ और बिना किसी विक्षेपके कीर्तन-भजन करूँ और कृतार्थ हो जाऊँ? अभी सबका त्याग करना उचित है या बुढ़ापेमें? गृहस्थाश्रमका विश्वास नहीं है। बड़े-बड़े भक्तोंने यौवनमें ही संसारका परित्याग कर दिया है। अब विलम्ब नहीं करना चाहिए; परन्तु वैराग्यका बल तो अभी इतना नहीं है। फिर मैं क्या करूँ? क्या भक्तिके लिए वैराग्य आवश्यक है? वैराग्यसे भक्ति होती हो तो वह सापेक्ष हुई; परन्तु भक्तिसे वैराग्य होता हो तो इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह तो सन्तोंका अनुभव ही है। मैं गृहस्थ रहूँ कि विरक्त बनूँ? जप-कीर्तन ही करूँ या श्रवण ही करूँ?

वैष्णवोंकी सेवाका माहात्म्य भी तो कम नहीं है। इस प्रकार जब मनमें विविध प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं तब उस अवस्थाका नाम व्यूढविकल्पा है।

(४) मनमें आवेश तो एक ही रहेगा विष्णुका या विषयका। 'ये भोग मुझे भक्तियोगमें शिथिल कर देते हैं। किन्हीं-किन्हींको छोड़ देता हूँ तो फिर भोगने लग जाता हूँ। पूरा त्याग बन नहीं पाता। विषयभोगका पूर्वाभ्यास बड़ा प्रबल है, संघर्ष चल रहा है। इसमें कभी विषय मनको जीत लेते हैं तो कभी मन विषयको।' मनकी इस दशाका नाम विषयसङ्गरा है।

(५) 'आजसे मैं इतनी जपसंख्या पूरी करूँगा, इतने दण्डवत्-प्रणाम करूँगा, भक्तजनोंकी यह-यह सेवा करूँगा, भगवत्सम्बन्धसे रहित बातचीत नहीं करूँगा। संसारी चर्चा करनेवालोंकी सन्निधि छोड़ दूँगा।' इत्यादि प्रतिज्ञा प्रतिदिन करते रहनेपर भी समय-समयपर उसका टूट जाना उसके पालनमें असमर्थ हो जाना, इसको 'नियमाक्षमा' कहते हैं। विषयसङ्गरा दशामें विषयके त्यागमें असमर्थता रहती है और नियमाक्षमामें भक्तिके साधन बढ़ानेमें असमर्थता रहती है यह दोनोंमें एक है।

भक्तिका यह स्वभाव ही है कि जिसके हृदयमें वह आकर विराजमान हो जाती है, उससे सभी लोग प्रेम करने लगते हैं। और जब लोग प्रेम करने लग जाते हैं तब सम्पत्ति भी इकट्ठी होने लगती हैं। 'जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः।' जब भक्तिके कारण ये विभूति आने लगती हैं, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, आदि मिलने लगती है तब मानो भक्ति-लतामें छोटी-छोटी टहनियाँ निकलकर लहलहाने और लहराने लगी हों, इसे

तरंगरंगिणी कहते हैं। जैसे मूललताकी वृद्धि-समृद्धि एवं साज सँवारके लिए छोटी-छोटी टहनियोंको काटना आवश्यक है, ऐसी भक्तिलताकी इन छोटी-छोटी उपशाखाओंका भी उच्छेद ही कर देना चाहिए।

तृतीय अमृतवृष्टि

अब अनर्थोंकी निवृत्तिका निरूपण करते हैं। अनर्थ चार प्रकारके होते हैं। (१) पापजन्य, (२) पुण्यजन्य, (३) अपराधजन्य, (४) भक्तिजन्य ईश्वरकी भजनीयताका अज्ञान, अहङ्कार, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँचो क्लेश पापजन्य हैं। भोगमें अभिनिवेश पुण्यजन्य है। नामापराधको ही मुख्यरूपसे अपराध कहते हैं, क्योंकि सेवापराध तो प्रायः नामसे नित्य निवृत्त हो ही जाते हैं। सावधान न रहनेसे सेवापराध भी नामापराध हो जाता है। जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है 'नामके बलका आश्रय लेकर जो अपराध करता है; सत्य अहिंसा आदि यम और स्वयं यमराज भी उसे पवित्र नहीं कर सकते।' यहाँ नाम शब्दका अर्थ भक्ति है। जो अनर्थरूप रोगको शान्त करे वही 'नाम-ओषधि' है। यह तो आप जानते ही हैं कि जो धर्मशास्त्रकी रीतिसे भी हम फिर प्रायश्चित्त कर लेंगे, इस अभिमानके वशीभूत होकर पाप करता है, प्रायश्चित्तके द्वारा उसकी शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत पापोंकी गाढ़ता ही होती है।

भक्तिमार्गमें यात्रा कर देनेपर फिर किञ्चित् भी हानिकी आशङ्का नहीं है। 'दशाक्षर मन्त्रका केवल जप ही सिद्धिदाता है।' इन वाक्योंका अतिशय विश्वासके कारण जो अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य आता है, उससे नामापराध नहीं होते, क्योंकि उसमें पाप करनेकी इच्छा नहीं होती। जिस त्रुटिकी निन्दा या

प्रायश्चित्त नहीं है, वहाँ पाप भी नहीं है। भक्तिमार्गमें अङ्ग-शाकल्यसे अनुष्ठानमें साद्‌गुण्य आता है किन्तु अङ्ग-वैकल्यसे अपराध नहीं होता; क्योंकि यह मार्ग अविद्वान् अधिकारीके लिए भी है। इसमें नेत्रनिमीलन करके उलङ्घन करते हुए भी दौड़ा जा सकता है, इसमें प्रत्यवाय और पतन अर्थात् फलभ्रंश नहीं है, क्योंकि इस मार्गमें कहीं भी मान-मद, सिद्धि, अथवा भगवद्-वैमुख्यरूप अपराध नहीं है। इस मार्गमें केवल प्रभुका सामुख्य बना रहना चाहिए। अर्थात् भगवद्-अपराध नहीं करना चाहिए। निरन्तर नामजपसे सभी प्रकारकी अपराध-बाधाओंका उपशम हो जाता।

प्रथम नामापराध है सन्तोंकी निन्दा। निन्दासे सम्बद्ध द्वेष, द्रोह आदि भी लक्षणासे संगृहीत हैं। यदि यह अपराध हो जाय तो पश्चात्तापपूर्वक सन्तोंहीके चरण पकड़कर उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। प्रणाम, स्तुति, सम्मान इसके उपाय हैं। आगसे जले स्थानको आगसे सेंककर ही चिकित्सा की जाती है। यदि कोई सन्त शीघ्र प्रसन्न न हों तो बहुत दिनोंतक उनकी रुचिके अनुसार सेवा करनी चाहिए। अपराध बड़ा होनेके कारण यदि वे उसपर प्रसन्न न हों तो वैराग्यपूर्वक सब कुछ छोड़कर नाम-संकीर्तनका आश्रय लेना चाहिए। नाम अमित शक्तिका भण्डार है। उसमें उद्धारका सम्भार है। परन्तु यदि कोई यह सोचकर नामका आश्रय ले कि कौन बार-बार सन्तोंके चरणोंमें गिरने जाय और अपनेको दीन-हीन बनाने जाय तो यह भी नामापराध ही हो जाता है। यह भी नहीं सोचना चाहिए जो कृपालु, रागद्वेषरहित एवं तितिक्षु हैं वही सन्त हैं, और केवल उनकी निन्दा ही नामापराध है। क्योंकि 'जो भजे भगवन्त सो अन्तमें है सन्त' इसलिए उसकी पहलेकी त्रुटिपूर्ण स्थितियोंमें

भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसकी निन्दा भी नामापराध ही है। यदि कोई सन्त भगवद्भावमें निमग्न होनेके कारण किसी अपराधीपर भी क्रोध नहीं करते तो यह उनकी विशेषता है। निन्दा करनेवालेको तो अपराध लगेगा ही। ऐसी स्थितिमें भी अपराधीको अपनी शुद्धिके लिए उन्हें प्रणाम, सेवा आदिसे सत्कृत करके क्षमा माँगनी ही चाहिए; क्योंकि भले ही वह सन्त क्रोध करके शाप न दे, परन्तु उसके चरणोंकी धूलि असहिष्णुता होती है और वह अपराधीका नाश कर देती है।

कोई-कोई महापुरुष ऐसे होते हैं जिनको पहचानना कठिन है। निष्कारण करुणाके अपार अपूपार हैं, वे निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द हैं। वे कब किसपर किस कारणसे अपनी राशि-राशि कृपा बिखेर देते हैं इसके सम्बन्धमें कोई मर्यादा नहीं है। जैसे जडभरत—शिविकामें वाहक बनानेवाले कटूक्तिविषवर्षी रहूगण-पर भी कृपा वर्षा करते हैं। चेदिराज उपरिचरवसुने पाखण्ड-धर्मावलम्बी दैत्य-समूहपर जो कि उनकी हिंसा करनेके लिए आया हुआ था; महान् कृपा की। प्रभुवर नित्यानन्दने महापापी माधवपर जिसने उनका सिर फोड़ दिया था अत्यन्त कृपा वरस दी। गुरु-अवज्ञाके सम्बन्धमें भी सन्त-निन्दाके समान ही अपराधकी उत्पत्ति और निवृत्ति समझना चाहिए।

अब शिव, विष्णुके भेदके सम्बन्धमें विवेचन करना चाहिए। क्योंकि चैतन्य दो प्रकारका होता है, एक स्वतन्त्र दूसरा अस्वतन्त्र। पहला सर्वव्यापी ईश्वर है, दूसरा देहमात्रमें शक्तिकी व्याप्तिवाला ईश्वराधीन जीव है। ईश्वर चैतन्य भी दो प्रकारका है। पहला मायास्पर्शको स्वीकार करनेवाला। पहलेका नाम नारायण आदि है और दूसरेका नाम शिव आदि। हरिर्निर्गुणः, शिवः शक्तियुतः। शिवको गुणसम्वृत होनेसे जीव नहीं समझना

चाहिए। जैसे दूध ही दही होता है, वैसे निर्गुण गोविन्द ही सगुण शिव होते हैं। ब्रह्म भी वही है। काष्ठके प्रज्वलित एवं धूमयुक्त दशामें जैसे अग्नि है वैसे ही उसके पूर्व भी है। इन सब बातोंका विचार करके शिव, विष्णु आदिमें भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिए। जीवके भी अनेक भेद होते हैं। अविद्यासे आवृत और अनावृत। ऐश्वर्यशक्तिसे आविष्ट और अनाविष्ट। आविष्ट भी दो प्रकारके होते हैं। भगवान्‌के चिदंश ज्ञानादिसे युक्त सनत्कुमारादि और मायांश भूत सृष्टि आदिसे आविष्ट ब्रह्मा आदि। इस प्रकार भी शिव, विष्णुका अभेद ही प्राप्त होता है; क्योंकि चैतन्य दोनोंमें ही एक रूप है। किसी-किसी महाकल्पमें जीव भी महाशिव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें श्री, विष्णु, शिव, ब्रह्म एवं सूर्य आदिसे भेद मानकर अनन्यताके आवेशमें विवाद करनेका कोई कारण नहीं है। जो दूसरेकी निन्दा करके एकके प्रति अनन्य बनते हैं; उनको अभिज्ञ संतोंसे समझकर और नामसंकीर्तन करके इस नामापराधरूपी जड़-बुद्धिको उखाड़ फेंकना चाहिए। धर्मानुष्ठान करनेवालोंको बहिर्मुख और विवेचन-प्रधान जिज्ञासुजनोंको नास्तिक कहकर जो निन्दा की जाती है; वह श्रुति-शास्त्रकी ही निन्दा है और वह भी नामापराध ही है, इससे बचनेके लिए धर्मानुष्ठान करनेवालोंका अभिनन्दन और जिज्ञासु-जनोंकी श्रुतिशास्त्रानु-वर्तिनी बुद्धिकी प्रशंसा करनी चाहिए और ऊँचे स्वरसे भगवन्नामका संकीर्तन करके अपनी वाणीका पाप धो डालना चाहिए। क्योंकि धर्म और ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी स्वच्छन्दवर्ती रागान्ध अनधिकारियोंको भगवन्मार्गमें अग्रसर करती हैं, और परमकारुणिक यदि सन्तोंके समझानेसे बुद्धिमें बैठ जाय तो उसे परम सौभाग्य समझना चाहिए; और

उससे नामापराधकी निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार दूसरे अपराधोंकी उत्पत्ति एवं निवृत्तिके कारणोंको समझना चाहिए।
और उससे नामापराधकी निवृत्ति हो जाती है। इसीप्रकार दूसरे अपराधोंकी उत्पत्ति एवं निवृत्तिके कारणोंको समझना चाहिए।

अब भक्तिजन्य अनर्थोंका विवेचन करते हैं। जब कोई वृक्ष लगाया जाता है, तब उसके मूलतनेसे बहुत-सी छोटी-छोटी टहनियाँ निकलती हैं। इससे वृक्ष शक्तिहीन—क्षीण हो जाता है और उपशाखाओंसे घिर जाता है। ऐसा देखनेमें आता है कि उन टहनियोंको यदि छाँट दिया जाय तो वह वृक्ष हरा-भरा एवं सम्पुष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य भक्ति-मार्गमें चलता है, तब भक्तिके कारण ही उसको पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ, ख्याति, कीर्ति एवं यश आदिकी प्राप्ति होती है। ये छोटी-छोटी टहनियाँ अपने मूलकारण भक्तिको ही क्षीण कर देती हैं; इसलिए इन्हें भक्तिजन्य अनर्थ कहा जाता है। भक्तिके साधकको इनसे सावधान रहना चाहिए।

इन चारों अनर्थोंकी निवृत्ति पाँच प्रकारको होती है—एकदेशवर्तिनी, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी। भजनक्रियासे पहली निष्ठा हो जानेपर दूसरी, रति उत्पन्न होनेपर तीसरी, प्रेम होनेपर चौथी और भगवच्चरणारविन्दोंकी प्राप्ति होनेपर पाँचवीं अर्थात् अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। चित्रकेतुके जीवनमें भगवत्प्राप्ति होनेपर भी शङ्कर भगवान्‌का अपराध देखनेमें आता है। परन्तु वह वास्तविक नहीं केवल प्रातीतिक है; क्योंकि वहाँ इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करना अभीष्ट है कि भगवत्प्राप्ति हो जानेपर शरीर चाहे पार्षदका रहे चाहे असुरका; इससे प्रेममें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जय-विजयके

जीवनमें जो महापुरुष सनकादिका अपराध देखनेमें आता है उसका कारण उनकी समृद्ध प्रेमजन्य स्वच्छन्द स्वेच्छा ही है। उनकी इच्छाका स्वरूप यह है कि—'हे प्रभुवर! देवाधिदेव नारायण! हम जानते हैं कि आपके मनमें कभी-कभी युद्ध करनेकी इच्छा होती है, परन्तु और सब तो अल्पबल हैं—आपसे युद्ध करने योग्य नहीं हैं और हम लोगोंमें आपके प्रति प्रतिकूलताका भाव नहीं है। ऐसी स्थितिमें आपकी इच्छा कैसे पूरी हो? इसलिए स्वामिन्! किसी भी प्रकारसे हम अनुकूलोंको ही थोड़ी देर प्रतिकूल बनाकर युद्धसुखका अनुभव कीजिये। हम आपकी परिपूर्णतामें अणुमात्र भी न्यूनता नहीं सह सकते। आप अपने भक्त-वात्सल्यको भी लघु बनाकर हमारे प्रार्थना-हठको पूर्ण कीजिये।' उनकी इसी इच्छाके वशीभूत होकर भगवान्ने उनसे सनकादिके प्रति अपराध निष्पन्न कराया और उन्हें असुरयोनिमें जाना पड़ा। वह तो भगवान्की विशेष सेवाके लिए ही उनके प्रेमका विलास है। दूसरे किसी भक्तके मनमें यदि इस प्रकारकी इच्छा जाग्रत् हो तो उसे अपने मनमें ही आनुकूल्यका संकल्प करके नष्ट कर देनी चाहिए।

प्रश्न यह है कि शास्त्रोंमें ऐसे शत-शत वचन प्राप्त होते हैं कि भगवन्नाम एक बार उच्चारणसे ही सम्पूर्ण पापराशिका नाश कर देता है और भगवन्नामके केवल एक बार श्रवणसे ही कसाई भी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अजामिल आदिके उपाख्यानोंमें यह सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है कि एक ही नामाभास अविद्यापर्यन्त निखिल अनर्थकी निवृत्ति करके भगवत्प्राप्तिका हेतु बनता है। ऐसी स्थितिमें भगवत्भक्तिके अपराध आदि क्रम-क्रमसे निवृत्त होते हैं—यह कहना संगत नहीं

मालूम पड़ता। ठीक है नामकी ऐसी ही शक्ति है—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अपराधियोंपर अप्रसन्न होनेके कारण वह अपनी शक्ति भलीभाँति प्रकाशित नहीं करता—इसीसे अनर्थोंको जीवन मिलता है; परन्तु नामोच्चारण करनेवालेपर यमराजके दूत आक्रमण नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'न ते यमं पाशधृतश्च तद्भटान्स्वप्नेऽपि पश्यन्ति।' 'न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः' इस नामापराधके प्रसंगमें जो यमशब्दका प्रयोग हैं वह योगाङ्कका वाचक है; यमदूतोंका नहीं। जैसे कोई समर्थ—सम्पन्नस्वामी अपने अपराधी स्वजनका पालन न करे, उससे उदासीन हो जाय, तो विचारेपर दुःख-दारिद्रय मालिन्य-शोक आदिका पहाड़ टूट पड़ता है, परन्तु दूसरा कोई उसके ऊपर अंगुली उठानेका साहस नहीं कर सकता। परन्तु यदि वह स्वजन फिर अपने स्वामीकी प्रेमपूर्ण सेवा करे—उसके मनको रुचनेवाले काम करे तो धीरे-धीरे वह प्रसन्न हो जाता है, और सारे दोष अपने आप ही भाग जाते हैं। ठीक इसी प्रकार साधक यदि भगवद्भक्त, शास्त्र, गुरु आदिकी निष्कपट-भावसे बार-बार सेवा करे तो उसके ऊपर नामस्वामी प्रसन्न हो जाते हैं और सभी दुःखोंका नाश हो जाता है, इस सम्बन्धमें कोई विवाद नहीं है।

'मेरा कोई नामापराध नहीं है।' ऐसा कभी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि बहुत नामकीर्तन करनेपर भी जब जीवनमें प्रेमके चिह्न उदय होते हैं तो अवश्य ही पूर्व जन्मके या इस जन्मके फल बल-कल्प्य अपराधका अनुमान नहीं होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवन्नामका उच्चारण करने-पर भी नेत्रमें आँसू, शरीरमें पुलकावलि, हृदयमें द्रवता न आये तो वह हृदय अत्यन्त कठोर फौलादका बना हुआ है। भक्ति-

रसामृतसिन्धुमें विवेचन किया गया है कि भगवान्के गुण, नाम आदिका श्रवण-कीर्तन करनेसे तत्काल प्रेमकी प्राप्ति होती है। चरणामृतके सेवनसे सद्यः सिद्धि मिलती है। भगवान्के प्रति निवेदित घृत-दुग्ध-ताम्बूल आदिके सेवनसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तरङ्ग निवृत्त होते हैं, क्योंकि ये सब चिन्मय हैं फिर भी—जब ये प्राकृत पदार्थोंके समान ही हो जाते हैं तो अवश्य ही किसी-न-किसी महान् अपराधके कारण ही ऐसा होता है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थितिमें नामापराधी-पुरुष भगवान्से विमुख ही रहेगा, वह सद्गुरुके चरणाश्रय अथवा भजनक्रिया भी नहीं कर सकेगा। ठीक है जब ज्वरका तीव्र वेग होता है, तब भोजन रुचता नहीं है। उसके नामसे ही घृणा होती है, वैसे ही नामापराधकी तीव्रता और गाढ़तामें श्रवण, कीर्तनादिमें रुचि नहीं होगी—इसमें क्या सन्देह है? किन्तु जब ज्वर मृदु और पुराना हो जाता है, तब भोजन जैसे कुछ-कुछ रुचने लगता है, वैसे ही अपराधका बेग मृदु और क्षीण होनेपर भगवद्भजनमें कुछ-कुछ रुचि होने लगती है। इसलिए मनुष्यमें भक्तिका अधिकार आ जाता है। जैसे ज्वरकी दशामें पौष्टिक भोजन भी सम्पूर्ण पुष्टि नहीं देता है और किञ्चित् देता भी है; किन्तु ग्लानि और कृशताकी निवृत्तिमें समर्थ नहीं होता है। हाँ; यह अवश्य है कि पथ्य और औषधिका सेवन करनेपर—समयपर स्वस्थ कर देता है। वैसे ही श्रवण, कीर्तनादि भजन-क्रिया भी क्रम-क्रमसे समयानुसार अपना फल प्रकट करती है। ठीक ही कहा है श्रद्धा, साधुसंगति, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा और रुचि—इस क्रमसे भक्तकी उन्नति होती है। कुछ लोग तो ऐसा मानते हैं कि नामकीर्तन आदि करने-वालोंके जीवनमें केवल प्रेमके लक्षण ही प्रकट न होते हों—

केवल इतना ही नहीं, उनके जीवनमें कभी-कभी पापप्रवृत्ति भी देखनेमें आती है, और बार-बार व्यावहारिक दुःख देखनेके कारण उनके प्रारब्धकर्मका प्रबल वेग भी सिद्ध होता है। इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। अपनी भजनक्रिया अबाधगतिसे करते रहना चाहिए। विष्णु भगवान्‌के पार्षदोंने अजामिलको निरपराध सिद्ध किया था फिर भी देखनेमें यह आता है कि जिस दिनसे पुत्रका नाम 'नारायण' रखा गया उस दिनसे प्रति-दिन अनेक बार पुकारनेपर भी न अजामिलके हृदयमें प्रेमका उदय हुआ, न तो दासी-संग आदि पापोंका निराकरण ही हुआ। युधिष्ठिरके आदि सच्चे भक्त होनेमें भला किसको सन्देह हो सकता है फिर भी उनके जीवनमें बहुत-से दुःख देखे जाते हैं। तब क्या उनका प्रारब्ध निवृत्त नहीं हुआ था? इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है—यद्यपि नामनरेश निरपराध भक्तोंपर प्रसन्न तो तत्काल हो जाते हैं; परन्तु अपने प्रसादका चिह्न समयपर ही प्रकाशित करते हैं। पूर्वाभ्यासके कारण भक्तोंके द्वारा किये जानेवाले पाप भी अकिंचित्कर ही होते हैं। जैसे दाँत तोड़नेके बाद सर्पदंश। भक्तोंके जीवनमें होनेवाले रोग, शोक आदि दुःख भी प्रारब्धके फल नहीं हैं। स्वयं भग-वान्‌का वचन है कि—'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ। जब वह अत्यन्त दुःखी होता है तब उस बेचारे गरीबको सगे सम्बन्धी भी छोड़ जाते हैं। यह निर्धनताका महारोग मेरी अनुग्रहताकी पहचान है।' वस्तुतः विचार किया जाय तो भगवान् भक्त-हितकारी हैं। वे भक्तकी दीनता उत्कण्ठा आदि बढ़ानेमें बड़े निपुण हैं इसी कारण भक्तको दुःख देते हैं। अतः भक्तके जीवनमें आनेवाले दुःख प्रारब्धके फल नहीं—भगवान्‌के वरदान हैं।

चतुर्थ अमृतवृष्टि

पहले भजनक्रियाकी दो विधा बतायी गयी थी, एक—अनिष्ठिता और दूसरी निष्ठिता। उनमें-से पहलीके छः प्रकार वर्णन कर दिये गये। दूसरीका लक्षण बताये बिना ही अनर्थ-निवृत्तिका निरूपण कर दिया। ऐसा करनेका कारण यह है—कि श्रीमद्भागवतमें पुण्य-श्रवण-कीर्तन भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका श्रवण, अनर्थकी निवृत्ति और फिर नैष्ठिकी भक्तिका निरूपण किया गया है। अनर्थकी निवृत्तिमें प्राय। शब्दका प्रयोग होनेसे कुछ अनर्थ शेष रह गये हैं—यह भी सूचित होता है; इसलिए अब नैष्ठिकी भक्तिका निरूपण करते हैं।

निष्ठा शब्दका अर्थ है—नितान्त स्थिति—निश्चलता। जिस भक्तिमें—निष्ठा-निश्चलता आ जात्ती है—उसका नाम नैष्ठिकी है। जबतक अनर्थोंकी शिथिलता अथवा निवृत्ति नहीं होती तबतक लय-विक्षेप-अप्रतिपत्ति-कषाय और रसास्वाद इन पाँच अन्तरायोंका पूर्णतः निवारण न होनेके कारण प्रतिदिन अनुष्ठान करनेपर भी भक्तिकी निश्चलता नहीं हो पाती थी; अब अनर्थोंका उपशम हो जानेपर अन्तराय और उनके उपद्रव प्रायः निवृत्त हो जाते हैं। भक्तिमें निश्चलता आ जाती है। इसलिए लय आदि दोषोंका अभाव ही निष्ठाका लक्षण है। लय क्या है ? कीर्तनसे अधिक श्रवणमें, श्रवणसे अधिक स्मरणमें निद्राका आना। विक्षेप क्या है ? उन साधनोंके समय व्याव-हारिक गतिविधि एवं बातचीतका सम्पर्क। अप्रतिपत्ति क्या है ? लय-विक्षेप आदि दोषोंके न होनेपर भी कीर्तन आदिमें असमर्थता। कषाय क्या है ? क्रोध, लोभ, गर्व आदिके संस्कार। रसास्वादन क्या है ? विषय-सुखकी प्रतीति होनेपर कीर्तनादिमें मनका तन्मय न होना।

• • •

नैष्ठिकी भक्तिका उदय हो जानेपर भी मनमें दोषोंका अस्तित्व तो रहता है। परन्तु वे भक्तिमें बाधा नहीं पहुँचाते। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें अनाविद्ध शब्दका प्रयोग किया गया है। यह निष्ठा साक्षात् भक्तिमें भी होती है तदनुकूल वस्तुओंमें भी भक्ति स्थूल रूपसे तीन प्रकारकी होती है। कायिक, वाचिक, मानसिक। कोई-कोई कहते हैं कि पहले शारीरिक फिर वाचिक तब मानसिक भक्ति होती है। दूसरे आचार्योंका मत है कि भक्तोंमें शरीरबल, इन्द्रियबल और मनोबलोंमें पूर्वजन्मके विलक्षण संस्कार होनेके कारण उनके जीवनमें पहले किसी भी भक्तिका उदय हो सकता है। क्रमका नियम नहीं है। भक्तिके अनुकूल वस्तु हैं—अमानित्व, मानदत्व, मैत्री, और दया आदि सद्गुण। किसी-किसी परिश्रमी साधकमें अपने भक्ति के अपरिपक्व होनेपर भी इनकी प्रौढ़ता देखी जाती है। किसी-किसी उद्धत भक्तमें भक्तिके परिपक्व होनेपर भी अमानित्व आदि न्यून मात्रामें देखे जाते हैं! इसमें भक्तिकी निष्ठा ही मुख्य हैं—उसके होनेसे ही अन्तरमें अमानित्व आदि हैं कि नहीं—इसका पता चलता है। बहिरंग अमानित्व आदिका विशेष महत्त्व नहीं है। भगवन्निष्ठाकी अनुभूतिमें वात्तवत् बहिर्मुख पुरुषोंकी प्रतीति प्रमाण नहीं हुआ करती। वस्तुतस्तु श्रवण, कीर्तनादिमें प्रयत्नकी शिथिलता और प्रबलताको न छोड़ सकना ही अनैष्ठिकी और नैष्ठिकी भक्तिकी पहचान है।

[पञ्चम अमृतवृष्टि]

अब भक्तके हृदयमें भक्तिकी स्वर्णमुद्रा अभ्यासाग्निकी प्रबलतासे निर्मल एवं उद्दीप्त होकर जगमग-जगमग झलकने लगती है और भक्तिके हृदयमें भक्तिके प्रति अतिशय रुचि उत्पन्न हो जाती है—जब भगवद्विषयक श्रवण-कीर्तन संसारके

अन्य समस्त पदार्थोंसे विलक्षण—रोचक मालूम पड़ने लगता है, तब उसको 'रुचि' कहते हैं। यह रुचि उत्पन्न हो जानेपर बारम्बार श्रवण-कीर्तनादि करनेपर भी श्रमकी गन्ध नहीं होती। यही रुचि शीघ्र ही उनको व्यसनी बना देती है। जैसे कोई ब्रह्मचारी विद्यार्थी प्रतिदिन शास्त्रका अध्ययन करे परिश्रमके साथ, परन्तु बादमें जब उसका शास्त्रार्थमें प्रवेश हो जाय—वह रोचक लगने लगे, तब उसे किसी प्रकारका श्रम नहीं होता और आसक्ति हो जाती है। ऐसी ही दशा व्यसनीकी होती है। जैसे पित्तदोषसे किसीकी जिह्वा दूषित हो गयी हो और उसे मिश्रीमें मिठास न मालूम पड़े, तो मिश्रीका सेवन ही उसके लिए पित्तदोषके निवारणका औषध है। बार-बार सेवन करनेपर उसके स्वादका साक्षात्कार होने लगता है। इसी प्रकार जीवका अन्तःकरण अविद्या, अस्मिता आदि दोषोंसे दूषित हो गया है, इसको शुद्ध करनेका उपाय है श्रवण, कीर्तनादि भक्ति। दोषशान्ति होनेपर भक्तिका उदय होता है।

वह रुचि दो प्रकारकी होती है। एक वस्तुकी विशेषता चाहनेवाली और एक उसकी अपेक्षा न रखनेवाली। वस्तु शब्दका अर्थ है भगवन्नाम, रूप, लीला, गुण आदि। इनमें विशेषकी अपेक्षा करना अर्थात् कीर्तन सुरीला हो, कथामें गुण, अलंकार ध्वनि आदि प्रसाद-माधुर्य हो, सेवामें स्थान, पात्र आदिकी श्रेष्ठता हो; इन बातोंका ध्यान रखकर भक्तिमें रुचि होना—भक्तिकी न्यूनताकी ही पहचान है। जैसे आज रसोईमें क्या-क्या व्यंजन बना है ? यह प्रश्न क्षुधाकी मन्दता ही सूचित करता है। इसी प्रकार अन्तःकरणके दोष ही कीर्तन आदिकी विशेषताकी अपेक्षा चाहते हैं। तीव्र रुचिका तो लक्षण ही यह है कि भगवन्नाम, गुण, रूप, लीला, धाम आदिके वर्णनका

प्रारम्भ होते ही रुचि प्रबल हो जाती है, और उसे रस ही रस दीखता है दोष नहीं।

वस्तुकी विशेषता न चाहनेवाली रुचि भगवन्नाम, रूप-गुण, लीला आदिके प्रारम्भमें ही बलवती हो जाती है और उनमें विशेषता होनेपर तो अत्यन्त प्रौढ़ हो जाती है। तीव्र रुचिमें दोषदृष्टि नहीं होती।

इसके बाद अहो सखे! तुम मुझसे श्रीकृष्णनामामृतका परित्याग करवाकर क्यों कठिनाईसे मिलनेवाले योगक्षेम आदि—संसारी व्यवहारके विषयोंमें डुबो रहे हो अथवा मैं तुम्हें क्या कहूँ? धिक्कार है मुझे मैं ही अत्यन्त पामर हूँ! श्रीगुरुदेव-कृपाप्रसादसे उपलब्ध और अपनी ही ग्रन्थिमें निबद्ध महारत्नको भूलकर मैं इतने समयतक इधर-उधर भटकता रहा। अन्य अगणित व्यापारोंके समुद्रमें मिथ्या सुखलेशसे चमकती कानी कौड़ियोंके पीछे भटककर अपनी आयु व्यर्थ ही खो दी। भक्ति के किसी भी अङ्गको अङ्गीकार न करके मैंने अपनेको शक्तिहीन ही प्रकट किया। हाय! हाय! वही हूँ मैं और वही है मेरी यह जिह्वा जो झूठ कटु ग्राम्यवार्ता—विषयचर्चाको ही अमृतकी चटनीके समान चाटती रही और भगवन्नाम, गुण, कथासे विमुख रही। हाय! हाय!! कथाश्रवणका आरम्भ होनेपर ही मुझे नींद आ जाया करती थी; किन्तु उस कथामें कोई विषयचर्चा हो तो कान खड़े हो जाते, नींद टूट जाती। हरे राम! मैंने उस सारी साधुसभाको ही कलंकित कर दिया। इस कभी न भरनेवाले पेटके लिए बुढ़ापेमें भी मैंने क्या-क्या पाप नहीं अपनाये! पता नहीं अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए किस नरकमें रहना पड़ेगा? ऐसा विचार कर रुचिकी ओर अग्रसर भक्तके मनमें निर्वेदकी प्रधानता हो जाती है—इसके

साथ ही कभी वह एकान्त भूमिमें बैठकर झूमने लगता है। वेदान्तकल्पलताके फलका सार प्रभुचरितामृत-आस्वादन करके बार-बार अभिवादन करने लगता है—बार-बार अत्यन्त आदरके साथ संलाप करता है। बैठते-उठते, आते-जाते भगवत्सेवा-परायण हो जाता है। वह होता है तन्मना, लोग समझते हैं उन्मना। वह मानों भक्तजनोंसे भजनानन्दकी शिक्षा प्राप्त करना चाहता है और रुचिनर्तकी उसके दोनों हाथ पकड़कर प्रेम-भक्तिकी 'ताता थेई' सिखा रही है। उस समय उसको ऐसा आनन्द आता है अभूतपूर्व कि वह सोचने लगता है कि अभी यह दशा है; जब हमारे मुख्य नृत्याचार्य भाव और प्रेम मेरे हृदयमें प्रवेश करके मुझे नचाने लगेंगे तो मैं परमानन्दकी किस पराकोटिमें विराजमान हो जाऊँगा।

[छठी अमृतवृष्टि]

पाँचवी अमृतवृष्टिमें जिसके स्वरूपका निरूपण किया गया है वही भजन-विषयक रुचि अत्यन्त प्रौढतम होकर जब भजनीय भगवान्‌को अपना विषय बनाती है, तब आसक्तिके नामसे कही जाती है। भक्तिरूप कल्पलताका मुकुल है यही असक्ति। इसीसे भाव और प्रेमरूप पुष्प तथा फल शीघ्र ही प्रकट हो जायेंगे। यह सूचना मिल जाती है। 'भजनमें रुचि होती है और भगवान्‌में आसक्ति' यह बात केवल प्रधानताकी दृष्टिसे कही जाती है। वस्तुतः दोनों ही दोनोंकी विषय बनती हैं। अब प्रौढ़ताके कारण रुचि कहते हैं और अप्रौढ़ताको आसक्ति। आसक्ति ही अन्तःकरणके दर्पणको ऐसा परिमार्जित-परिष्कृत कर देती है कि एकाएक उसमें भगवान् प्रतिविम्बित होने लगते और प्रत्यक्षसे दीखने लगते हैं। भक्तिकी पूर्वदशामें जब भक्त देखता है 'हाय! हाय! हमारे चित्तपर विषय आक्रमण कर

रहे हैं, तब वह उसे भगवान्में लगा लेता है। संकल्प करता है और प्रायः उसका मन भगवान्के रूप, गुण आदिमें विष्ट हो जाता है। परन्तु जब आसक्तिका उदय हो जाता है; तब किसी प्रकारका प्रयत्न या संकल्प करनेके पूर्व ही अपने आप उसका मन भगवान्में लग जाता है। जैसे प्रारम्भिक भक्तको इस बातका पता नहीं चलता कि उसका मन भगवद्भजनसे निकलकर संसारमें कब चला गया? वैसे ही आसक्ति होनेपर भक्तको इस बातका पता ही नहीं चलता है कि उसका मन सांसारिक बातोंसे निकलकर भगवान्के रूप, गुण, लीलादिमें कब चला गया? आसक्तिकी यह दशा आसक्त पुरुषके ही अनुभवमें आती है। अनासक्त पुरुष इसको नहीं समझ सकता।

ऐसा भक्त प्रायः सबमें भक्तिभावका ही दर्शन करता है। प्रातःकाल सामनेसे किसीको आते देखकर भक्तजी पहुँच गये और बोले—ओहो! आपके कण्ठमें श्रीशालग्रामकी शिलाका सम्पुट है। आपकी रसना प्रतिपल पुनः पुनः श्रीकृष्णनामामृतका आस्वादन कर रही है। आपका दर्शन ही मुझ अभागेको भगवत्प्रेम और भजनके लिए उत्साहित कर रहा है। बताइये आप किन-किन तीर्थोंमें गये? किनके-किनके दर्शन किये? क्या-क्या भगवत्सम्बन्धी अनुभव हुए। धन्य हैं! धन्य हैं! आप तो अपनेको और जगत्को कृतार्थ कर रहे हैं। इस प्रकार आगन्तुकसे संलापपीयूषका कुछ क्षणतक पानकर भक्तराज आगे वढ़ते हैं। किसी औरको देखकर कहते हैं—ओहो! पाप अपनी वेशभूषा और कक्षनिक्षिप्त मनोहर पुस्तक-लक्ष्मीसे बड़े विद्वान् मालूम पड़ते हैं। आप दशमस्कन्धका एक श्लोक सुना दीजिये और उसकी अर्थामृतवर्षासे हमारे श्रोत्रचातकको जीवन

दान दीजिये। इस प्रकार भागवतकी व्याख्यासे भक्तके शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है।

इसके बाद भक्तराज दूसरी ओर चलते हैं और देखते हैं कि 'अहो! यह तो सभा-की-सभा ही मेरे समस्त दुष्कृतका ध्वंस करनेवाली है' ऐसा कहकर दण्डवत्-प्रणिपातपूर्वक प्रणति-विनतिमें संलग्न हो जाते हैं। परमभक्त विद्वान् सभापति आदर करने लगते हैं और संकोचसे सिकुड़कर कहीं पास ही बैठ जाते हैं। कहते हैं कि भिषकशिरोमणि आप तो त्रिभुवनको जीवनदान देनेवाले हैं और भवरोगके महावैद्य हैं। इस महा दीन अधमकी भी नाड़ी पकड़कर देखिये और रोगका निदान कीजिये। मेरे लिए पथ्य ओषध बताइये। किसी महारसा-यनका प्रयोग करके मेरी अभीप्सा पूर्ण करनेवाली सम्पुष्टि आप सम्पन्न कर दीजिये। भक्तजीकी आंखोंसे आंसुओंकी झड़ी लग जाती है। कृपादृष्टि और मधुर वाणीके निस्पन्दसे आनन्दित हो जाते हैं और वहीं पांच-छः दिन निवास करके फिर आगे बढ़ते हैं।

भक्तजी अपने आनन्दमें मग्न घूमते-फिरते कभी जंगलमें पहुँचते हैं; देखते हैं सामनेसे बड़ी दूर कोई कृष्णसार मृग आ रहा है। मन-ही-मन सोचने लगते हैं यदि भगवान् श्रीकृष्णकी मुझपर कृपादृष्टि है तो यह हरिण तीन-चार पग मेरी ओर आये—नहीं तो मेरी ओर पीठ करके जाये। इस प्रकार वह नैसर्गिक मृग-पशु-पक्षी-चेष्टाको भगवान्के अनुग्रह और निग्रहकी पहचान बना लेता है। कभी अनुकूल अनुभव करके सुखी होता है और कभी प्रतिकूल अनुभव करके दुःखी। किन्तु होते हैं उसके सब अनुभव भगवान्से सम्बद्ध। भक्त कभी-कभी किसी गांवके पास पहुँचता है और देखता है छोटे-छोटे ब्राह्मण-

बालक खेल रहे हैं। उसके मनमें आता है 'अहो! कहीं सनक, सनन्दन, सनत्कुमारादि ही तो नहीं आगये हैं, जाकर बड़े आदरसे पूछता है—आप लोग कृपाकर मुझे बताइए श्रीव्रज-राजकुमारकी प्राप्ति मुझे कब होगी? अब वे बालक कुछ भी बोल देते हैं या नहीं बोलते हैं तो वह उनकी चेष्टा और भाषणमें दुर्बोधता या सुबोधताकी कल्पना करके व्याकुल या आनन्दित हो जाता है।

कभी-कभी वह अपने घरमें बैठा-बैठा भी अपार धनके लोभी कृपण वणिकके समान सोचने लगता है कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या करनेसे मेरी अभीष्ट वस्तु हाथ लगेगी? इस प्रकार कभी उसका मुँह मुरझा जाता है; कभी सोचता है, कभी सोता है, कभी उठता है, कभी बैठता है। सगे सम्बन्धी पूछते हैं—भाई; तुम्हें क्या हो गया है? तब वह तभी गूँगेकी तरह हो जाता है। कभी अपने भावको छिपा लेता है। अरे! कुछ तो नहीं। भाई-बन्धु कहते हैं कि इसकी बुद्धि ढक गयी, पड़ोसी कहते हैं कि यह जड़ हो गया, मीमांसक कहते हैं अरे! यह तो मूर्ख है। वेदान्ती कहते हैं—यह भ्रान्त है। कर्मी कहते हैं—भ्रष्ट। भक्तलोग कहते हैं कि इसे सर्वश्रेष्ठ सबसे मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति हो गयी है। परन्तु अपराधी लोग हमेशा ही कहते हैं 'यह तो दम्भी है।' भक्तको मान-अपमानका विचार सर्वथा नहीं है। वह भगवदासक्तिकी भागीरथीके प्रवाहमें आमूलचूल आमज्जन-निमज्जन कर रहा है। वस्तुतः उस भक्तके हृदयमें भगवान्‌की आसक्ति क्रीड़ा कर रही है।

सातवीं अमृतवृष्टि

जब वही आसक्ति सर्वोत्कृष्ट परिणामको प्राप्त होती है; तब उसका नाम रति अथवा भाव होता है। यह भाव ही भगवान्‌की

स्वरूपभूत सच्चिदानन्दमयी शक्तियोंका कन्दलीभाव अर्थात् मुकुलित रूप है। इसीको भक्तिकल्पलताका उत्फुल्लप्रसून कहते हैं। इसका बहिरंग सौन्दर्य भी देवदुर्लभ है। अन्तरंग सौन्दर्य तो मोक्षको भी तृण बना देता है। इसका एक परमाणु समस्त तमका उन्मूलन कर देता है और इसका फलता हुआ सौरभ मधुसूदन श्रीकृष्णभ्रमरको भी प्रणयनिमन्त्रण देकर ले आता है। और उनको प्रकट करनेमें समर्थ है। बहुत कहाँ तक कहें, इन्हीं भावोंसे सौरभित पलपलमें उदय होनेवाली चित्तवृत्तिरूप तिलपंक्तियाँ द्रवित होकर तत्काल सम्पूर्ण भगवदंगको स्निग्ध बनानेकी योग्यता रखती है। यह भाव प्रकट होते ही अपने आधार श्वपचको भी ब्रह्मारुद्रेन्द्र-वन्दित बना देता है। इस भावके प्रकाशमात्रसे ही भक्तके दोनों नेत्र केवल व्रजेन्द्रनन्दनके अनङ्ग-तिरस्कारी अङ्गोंकी ही श्यामलता उनके अधर, नेत्रकोण, आदिकी ही लालिमा, उनके मुख-मुसकान चाँदनीकी ही श्वेतिमा, उनके वस्त्राभूषणकी ही पीतिमाका आस्वादन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित एवं रसीले हो जाते हैं तथा अजस्र अश्रुविन्दुओंसे अपने आपका अभिषेक करने लगते हैं।

इस भावके उदय होते ही क्षण-क्षणमें कण-कणमें जीवन-बन तथा रणमरणमें भी स्थान-स्थानपर केवल उनकी मुरलीका ही मधुर-मधुर संगीत, उनके कंकण-किङ्किणी नूपुरकी रुन-झुन, उनके कण्ठका कलालाप उनके चरण-कमलकी सेवाका आदेश और उनकी किसी भी लीलाका कुण्डलीकरण स्थिर खड़ा होकर चाहने लागते हैं। अहो! कैसा है उनके करपल्लवका स्पर्श मानो अभी अनुभव हो रहा हो। शरीर रोमांचित हो जाता है। नासिका युगलको ऐसा अनुभव होता है, मानो उन्हींके

अङ्गका सौरभ्य मिल रहा हो। वे क्षण-क्षणमें प्रफुल्ल होते हैं और लम्बी सांस ले-लेकर पहिचानते हैं। कभी-कभी रसना 'हाय! हाय! मुझे उस अधरसुधाका रसास्वादन प्राप्त होगा क्या?' ऐसा सोचती है और मानो अभी-अभी उपलब्ध हो रहा है; इस भावसे उल्लसित होकर ओष्ठ और अधरोंको चाटने लगती है। कभी-कभी हृदय स्फूर्तिमें उनको प्राप्त करके हृष्ट होता है। कभी उनके माधुर्यास्वादनकी सम्पत्तिसे मतवाला हो जाता है। कभी उनके तिरोभावसे विषादग्रस्त होता है। उन्हींके लिए कभी खिलता है—कभी मुरझाता है। इस प्रकार संचारिभावोंसे अपनेको अलंकृत करता हुआ शोभायमान होता है।

बुद्धिका यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यही एकमात्र अविनाशी परमार्थ है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब दशामें उसकी स्मृतिपथमें ही पथिक रहनेका निश्चय करता है। भगवत्सेवाके लिए उपयोगी सिद्ध देहका उदय होने लगता है और अहंता उसीमें प्रविष्ट होती हुई-सी प्रायः साधक शरीरका परित्याग-सा करने लगती है। ममता उसके चरणारविन्द-मकरन्दकी मधुकरी होना चाहती है। वह भक्त अपने भावको जनतासे वैसे ही गुप्त रखना चाहता है; जैसे कोई कृपण मिले हुए महा-रत्नको। फिर उसके जीवनमें शान्ति, वैराग्य आदि सद्गुण आकर जम जाते हैं। इसलिए सुधी-साधु सज्जनोंकी गोष्ठीमें उसकी पहचान हो जाती है—क्यों न हो चमकता हुआ ललाट ही छिपे हुए धनीको सूचित कर देता है। दूसरे लोग तो उसे विक्षिप्त अथवा उन्मत्त ही समझते हैं; इसलिए लोगोंसे पहचाना नहीं जाता।

वह भाव दो प्रकारका होता है। एक रागा-भक्तिसे उत्थित

और दूसरा वैधी भक्तिसे। पहले भावकी जाति और प्रमाणमें अधिकता होती है। वह महात्म्यज्ञानका अनादर कर देता है और सामान्यकी अपेक्षा अधिक विशेष होता है। साथ ही गम्भीर एवं अटूट अर्थात् प्रगाढ़ होता है। दूसरा भाव पहले-पहल कुछ न्यून होता है और ऐश्वर्य-ज्ञानसे विद्ध ममतासे युक्त होनेके कारण उतना प्रगाढ़ नहीं होता। ये दोनों ही प्रकारके भाव माधुर्य एवं ऐश्वर्यकी वासनासे युक्त भक्त-हृदयमें प्रकट होकर दो प्रकारसे आस्वाद्य होते हैं। जैसे एक ही मिठास आम, कटहल, गन्ना और अंगूर आदिमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न प्रकारके रसास्वादनका हेतु बनती है, वैसे ही यह भाव भी हृदयभेदसे नाना रूप धारण करता है।

वे भक्त शान्त, दास, सखा, माता-पिता और प्रेयसी-भाववाले पाँच प्रकारके होते हैं। शान्तोंमें शान्ति, दासोंमें प्रीति, सखाओंमें सख्य, माता-पितामें वात्सल्य और प्रेयसीभाववालोंमें प्रियता रहती है। यह केवल नामका भेद है। यही भाव अपनी शक्तिसे ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, संचारी सबको प्रकट कर देता है। फिर प्रकृतिसे उद्भूत ऐश्वर्य होकर आत्मा अथवा राजाके समान स्थायी हो जाता है और विशेषताको प्राप्त होकर उन-उनके साथ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल नामसे पाँच रसोंके रूपमें प्रकट होता है। स्वयं श्रुति भगवतीने 'रसो वै सः' इस रूपमें इसीका वर्णन किया है। इसीके सम्बन्धमें यह बात कही गयी है कि 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इस रसकी उपलब्धिसे ही जीव आनन्दी होता है। यह रस दूसरे अवतार या अवतारोंमें संभव होनेपर भी कहीं भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनमें ही अपनी पराकाष्ठापर पहुँचता है। जैसे नद, नदी, तडाग आदिको

जलनिधि कहनेपर शक्य होनेपर भी वास्तविक जलनिधित्व समुद्रमें ही है। यह रसभावको प्रथम परिणितिमें ही प्रेमके आविर्भावमात्रसे मूर्त्त हो जाता है और स्थायी भावयुक्त भावुक भक्तके द्वारा साक्षात् अनुभव किया जाता है।

[अष्टम अमृतवृष्टि]

यह पहले ही कह चुके हैं कि भक्तिकल्पवल्लीके साधना नामकी दो पत्तियां होती हैं। अब उनसे भी अतिशय चिकने किसलय श्रवण-कीर्तन आदि रूपका वर्णन करते हैं। इनमें भावकुसुम संलग्न होते हैं और इनका नाम अनुभाव होता है। ये एकाएक प्रकट होकर क्षण-क्षणमें प्रकाशित करते हैं और भाव-कुसुमको परिणत करके उसी समय प्रेमफल बना देते हैं।

इस भक्तिवल्लीकी एक-एक चर्या आश्चर्यमयी है; क्योंकि इसके पत्र, स्तबक, पुष्प, फल परिपक्व हो जानेपर भी अपने स्वरूपका परित्याग नहीं करते और सबके-सब एक साथ ही नित्य नूतनरूपसे शोभायमान होते हैं। इसके बाद तो भक्तका वही मन जो पहले शरीर, सम्बन्धीजन, गृह, धन आदिमें शत-शत सहस्र-सहस्र रूप धारण करके प्रवृत्त था और ममताकी हथकड़ी-बेड़ियोंसे आबद्ध था उसी मन और उसकी सारी वृत्तियोंको खेल-खेलमें ही सब जगहसे छुड़ाकर यह प्रेम एक विचित्र कार्य कर देता है। जैसे महारसके कूपका स्पर्श करने मात्रसे ही वस्तुओंका रूपान्तर हो जाता है, इसी प्रकार इस प्रेमरसके स्पर्शमात्रसे ही वे मायिक वृत्तियाँ भी साकार चिदानन्द ज्योतिर्मय हो जाती हैं और यह प्रेम उन सबको भगवान्के रूप, नाम, गुण एवं माधुरीमें निबद्ध कर देता है। रश्मिमाली भुवनभास्कर सूर्यके समान यह प्रेम अपने उदय होनेके पूर्व क्षणमें ही सभी पुरुषार्थरूप नक्षत्रमण्डलीको विलुप्त

रोगीको परम आह्लाददायी सुधामय प्रचुर भोजनका रसास्वाद प्राप्त हो गया हो। कुछ-कुछ इन्हीं भावोंको भक्तकी मनःस्थितिका उपमान बनाया जा सकता है।

सबसे पहले भगवान् अपार चमत्कारमहोदधिमग्न भक्तके लोचनका अतिथि बनाते हैं अपने सौन्दर्यको। परम प्रियतम प्रभुकी इस रूपमाधुरीके प्रभावसे सब इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ लोचनरूपमें परिवर्तित होने लगती हैं। भक्तके शरीरमें कभी जड़ता आती है, कभी वह काँपता है, कभी नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। वह आनन्दके उद्रेकसे मूर्च्छाग्रस्त होने ही वाला होता है कि भगवान् अपना दूसरा गुण सौरभ्य, दिव्य सुगन्ध उसकी घ्राणेन्द्रियके प्रति प्रकाशित कर देते हैं। इन्द्रिय और मन घ्राणेन्द्रियमें समाने लगते हैं। मूर्च्छा होते-न-होते भगवान् कहते हैं—मेरे प्यारे भक्त! मैं तुम्हारा ही हूँ। विह्वल मत बन! मेरा अनुभव कर।' इस प्रकार भगवान्की सुरीली वाणी, सौस्वर्य भक्तके कानोंमें अमृत उडेल देती है। इन्द्रिय और मन कान होनेके लिए दौड़ पड़ते हैं। मूर्च्छाके प्रारम्भमें ही भगवान् अपने चरणारविन्दसे, करकमलोंसे अथवा वक्षःस्थलसे अपना सुखद स्पर्श देकर भक्तको अपने सौकुमार्यका अनुभव कराते हैं।

दास्य-भाव हो तो भगवान् चरणारविन्दसे सिरपर स्पर्श करते हैं। सख्यभाव हो तो हाथोंसे हाथ मिलाते हैं। वात्सल्य-भाव हो तो अपने करकमलोंसे आँसू पोंछते हैं। प्रेयसीभाव हो तो अपने भुजपाशसे बाँधकर वक्षःस्थलसे वक्षःस्थलका आलिङ्गन करते हैं; यह विशेष समझने योग्य है।

इस आश्लेषसे भी मूर्च्छाका आगमन होनेपर भगवान् अपने अधरामृतका सौरस्य भक्तकी रसनाका विषय बनाते हैं, परन्तु

यह सौभाग्य प्रेयसीभाववाले भक्तको और ठीक उसी समय उदय होनेवाले अभिलाषकी पूर्तिके लिए ही करते हैं। इससे भक्तके हृदयमें जितना-जितना आनन्दका उदय होता है उतनी ही उतनी मूर्च्छा भी निविड होती जाती है। भगवान् मानो ऐसे भक्तको प्रबुद्ध करनेमें असमर्थ-से होकर अपने असीम औदार्यको प्रकट करते हैं और अपने सौन्दर्य, माधुर्य आदि सभी गुणोंको एक साथ ही भक्तकी सब इन्द्रियोंमें प्रकट कर देते हैं और बलात् उसका आस्वादन कराते हैं। उस समय मानो भगवान्‌के संकेतको जानकर प्रेम भी अत्यन्त बढ़ जाता है और तदनुरूप तृष्णाको भी समृद्ध करता है। प्रेम स्वयं चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर उसके हृदय-समुद्रको शत-शत परमानन्दतरङ्गोंको उद्वेलित कर देता है और स्वयं ही भक्तके मनका अधिदेवता बनकर युगपत् भगवद्गुणोंके आस्वादनका सामर्थ्य दे देता है। यह निर्विवाद अर्थात् अनुभवसिद्ध है कि भक्तको इन सब स्वादोंकी अनुभूति एक साथ ही होती है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ऐसी स्थितिमें तो मन एकाग्र नहीं रहेगा और चञ्चल मनमें स्वादकी सान्द्रता, अर्थात् घनता भङ्ग हो जायगी, क्योंकि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंका सौन्दर्य, सौस्वर्य आदिका आस्वादन करनेके लिए युगपद ही नमन, श्रवण आदिके रूपमें रूपान्तर हो जाता है। यह अद्भुत, अलौकिक, अचिन्त्य चमत्कार रसानुभूतिको अत्यन्त गाढ बना देते हैं। लौकिक अनुभवमूलक तर्कदावाग्निसे इस अलौकिक चमत्कारको काटना उचित नहीं है। अचिन्त्यभाव तर्ककी कसौटीपर नहीं कसे जाते।





